जलभेदः ।

(समस्त छह संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार सहित)

एवं

पञ्चपद्यानि ।

च

(समस्त दो संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद, श्लोकार्थ, ग्रन्थसार

एवं

मनोज्ञा

टीका सहित)

❑ संपादक व लेखक ❑

गोस्वामी राजकुमार

❑ *प्रकाशक* ❑

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

''चरणाट'' बंगला नं. 5, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,

कांदिवली (पूर्व), मुंबई - 400 101. • दूरभाष : 2884 6506 मो. : 9769623724

वि. सं. 2068 • वल्लभाब्द 533

प्रति : 1000

जलभेदः ।

अनुक्रमणिका

क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	जलभेदः।(मूलपाठ)श्लोकार्थ	१
२.	श्रीकल्याणरायाणाम्	४
३.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	२३
४.	श्रीवल्लुभानाम्	४८
५.	श्रीबालकृष्णानाम्	६६
६.	परिशिष्टम् प्रथमम्	८२
७.	परिशिष्टम् द्वितीयम्	८७

पञ्चपद्यानि ।

१.	पञ्चपद्यानि।(मूलपाठ)श्लोकार्थ	८९
२.	श्रीहरिरायाणाम्	९०
३.	श्रीपुरुषोत्तमानाम्	९८

कृष्णयजु: तैत्तिरीयशाखासंहिता का. ७ प्र. ४ अ. १२.

कूप्याभ्य: स्वाहा कूल्याभ्य: स्वाहा विकर्याभ्य: स्वाहाऽवद्याभ्य: स्वाहा खन्याभ्य: स्वाहा हृद्याभ्य: स्वाहा सूद्याभ्य: स्वाहा सरस्याभ्य: स्वाहा वैशन्तीभ्य: स्वाहा पल्वल्याभ्य: स्वाहा वर्ष्याभ्य: स्वाहाऽवर्ष्याभ्य: स्वाहा ह्रादुनीभ्य: स्वाहा प्रुष्वाभ्य: स्वाहा स्यन्दमानाभ्य: स्वाहा स्थावराभ्य: स्वाहा नादेयीभ्य: स्वाहा सैन्धवीभ्य: स्वाहा समुद्रियाभ्य: स्वाहा सर्वाभ्य: स्वाहा ॥१३॥

जलभेद: ।

श्लोकार्थ

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥१॥
गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मता: ।

हरि को नमस्कार करके उनके गुणों में भिन्नता उत्पन्न करने वाले भावों को कहेंगे,
जो बीस प्रकार के हैं एवं समस्त सन्देहों को दूर करने वाले हैं॥ १॥

हरि के गुणों का अर्थ है- हरि का स्वरूप, उनकी लीला, उनका माहात्म्य बताने वाले गुण। जिन गुणों का गुणगान भक्तजन या वक्ता करते हैं, वे गुण। तात्पर्य यह है कि हरि के गुण तो एक समान ही हैं अर्थात् उनका सामर्थ्य एक समान ही होता है परन्तु वे भिन्न-भिन्न किन-किन प्रकार के भावों वाले वक्ताओं के कारण हो जाते हैं, जिनके भावों से मिल जाने के पश्चात् वे भी भिन्न-भिन्न फल देने वाले हो जाते हैं... उन भावों को कहेंगे।

भगवद्गुणों में भिन्नता उत्पन्न करने वाले भाव उतने हैं, जितने कि तैत्तिरीयसंहिता की श्रुति में जल के भेद कहे गये हैं।

गायका: कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुता: ॥२॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मता: ।

भगवद्गुण गाने वाले गन्धर्व कुए के जैसे होते हैं/कहे गये हैं॥ २॥
जितने प्रकार के कुए होते हैं, गन्धर्व भी उतने ही प्रकार के होते हैं।

कुल्या: पौराणिका: प्रोक्ता: पारम्पर्ययुता भुवि ॥३॥
क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतव: ।

भूमि पर परंपरा से जो पुराणकथा कह रहे हैं, वे "कुल्या (नहर के जल) के जैसे होते हैं।
जैसे कुल्या/नहर का जल यदि खेतों की ओर मोड़ दिया जाय, तो फसल को पैदा करने वाला बन जाता है, ठीक वैसे ही अपने परिवार एवं खुद का भरण-पोषण करने के लिये पुराणकथा गाने वाले वक्ता तो श्रोता में केवल लौकिक संसार को बढ़ाने वाले भावों के हेतु बन जाते हैं अर्थात् भगवद्भावों को बढ़ाने वाले या कल्याणकारी नहीं बनते।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिता: ॥४॥
जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविन: ।

वेश्या आदि स्त्रियों के संग गाकर कथा कहने वाले मत्त गायक गन्दे जल के गढ्ढे के समान कहे जाते हैं॥ ४॥
भगवत्कथा गाकर अपनी आजीविका चलाने वाले निम्न स्तर के वक्ता गन्दे जल को इकट्ठा करने के लिये बनाये गये गढ्ढे के समान होते हैं।

ह्रदास्तु पण्डिता: प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्परा: ॥५॥
सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसा: ।

भगवच्छास्त्र में तत्पर पंडितवक्ता "ह्रद" समान कहे जाते हैं॥ ५॥
और श्रोता के सन्देहों को दूर करने वाले गंभीरप्रकृति वाले वक्ता "सूद" समान कहे जाते हैं।

सर:कमलसम्पूर्णा: प्रेमयुक्तास्तथा बुधा: ॥६॥

और, जो ज्ञानी भगवत्प्रेमयुक्त वक्ता होते हैं, वे कमलयुक्त सरोवर के जल जैसे होते हैं॥ ६॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥७॥

जिनका शास्त्राध्ययन अल्प है परन्तु हृदय में भगवत्प्रेम से युक्त हैं , वे "वेशन्त(**छोटे जलाशय**)" कहे जाते हैं।
और जो कर्मशुद्ध हैं, अल्पज्ञानी हैं एवं अल्पभक्ति वाले हैं, वे "पल्वल(**छोटे तालाब**)" समान कहे जाते हैं॥ ७॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥

योग-ध्यान आदि से संयुक्त भगवद्गुणगान करने वाले वक्ता "वृष्र्य(वर्षा के जल)" समान कहे जाते हैं।
तप-ज्ञान आदि भावों से युक्त वक्ता "स्वेदज(**पसीने के जल**)" समान होते हैं॥ ८॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥

अलौकिकज्ञान के द्वारा जो हरिगुण कहे जाते हैं ,
वे कदाचित् ही प्राप्त होते हैं, शब्द से ही जाने जा सकते हैं, वे "पतच्छब्द(**झरने के जल**)" समान कहे जाते हैं॥ ९॥
भगवत्सम्बन्धी अलौकिकज्ञान प्राप्त किये हुए वक्ता बड़ी कठिनाई से प्राप्त होते हैं और कदाचित् अर्थात् कभी-कभार ही इन्हें सुनने का लाभ मिल पाता है। इनके मुख से निकलने वाले शब्दों से ही श्रोता जान सकता है कि, ये साधारण वक्ता नहीं हैं अपितु अलौकिकज्ञान से युक्त हैं, यह भाव है। साधारणवक्ता केवल अपने ज्ञान के आधार पर भगवद्गुणगान करेंगे और ये भगवत्सम्बन्धी निज अनुभव के आधार पर। तात्पर्य यह है कि, जैसे झरने से गिरते हुए जल की गहराई, उसका वेग, उसकी मात्रा इत्यादि को उसकी गिरती हुई ध्वनि से आँका या पहचाना जाता है, उसी प्रकार इनके मुख से निकलने वाले शब्दों से ही इन्हें जाना जा सकता है- यह अर्थ है।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
अनेक देव-आदि की उपासना से उत्पन्न हुए भाव "पृष्व(भूमि से उत्पन्न हुए ओस की बूँद)" समान कहे गये हैं।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
भगवान को प्राप्त करने के साधन-आदि या नवधाभक्तिमार्गानुसार, ॥ १० ॥
भगवत्प्रेम से पूर्ण होने के कारण जिनमें भगवद्धर्म प्रकट हुए हैं, ऐसे वक्ता "स्यन्दमान(**बहते हुए जल**) समान कहे जाते हैं।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।
जिनके भगवद्भावों में न वृद्धि होती है और न क्षय होता है, ॥ ११ ॥
और जो केवल मर्यादामार्ग में ही बने रहते हैं, वे "स्थावर(**स्थिरजल**) समान कहे जाते हैं।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥
भूमि पर अनेक जन्म लेकर सिद्धिप्राप्त एवं जन्म से लेकर ही
सङ्गादि के गुण एवं दोषों के कारण जिनके भगवद्भावों में सर्वदा वृद्धि या क्षय होता रहता है, ऐसे वक्ता
निरन्तर उद्गम होने वाली नदियों के समान कहे जाते हैं॥ १३॥

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
उपर कहे वक्ता(अर्थात् १३वें श्लोक में कहे वक्ता) यदि स्वतन्त्र हो जाएँ अर्थात् सङ्ग के गुणदोषों से प्रभावित न होते हों तो "समुद्र" समान कहे जाते हैं।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

शेष-व्यास-अग्नि-हनुमान-जड़भरत-नारद-मैत्रेय आदि पूर्णभगवदीय, ॥ १४ ॥
"समुद्र" समान कहे गये हैं।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

कुछ वक्ताओं का प्रकार यह है कि वे लोकवेद से मिश्रित हरिगुणों का वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥
ऐसे वक्ता क्षार-आदि छह प्रकार के समुद्र समान कहे गये हैं।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥
तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

कुछ विशिष्ट वक्ता ऐसे होते हैं जो गुणातीतरूप से शुद्ध-सच्चिदानन्दरूपी समस्त विष्णुगुणों को गाते हैं,
ऐसे वक्ता अमृत के समुद्र समान कहे गये हैं, इनकी वाणी का पान करना बड़ा दुर्लभ है ॥ १७ ॥
ऐसे वक्ता द्वारा कहा कुछ श्रवण करने मिल जाये तो, यों समझें जैसे भगवान ने अपना विशेष सन्देश अपने किसी दूत द्वारा हमें भेजा है।
ऐसे वक्ता का किञ्चित् श्रवण बिन्दुपान कहा जाता है, जैसे अजामिल ने विष्णुदूत एवं यमदूतों के संवाद का कुछ अंशमात्र सुन लिया था ॥ १८ ॥

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

जब श्रोता के सांसारिकराग-अज्ञान आदि का सर्वथा नाश हो जाए, तो ऊपर बताये वक्ता द्वारा श्रवण करने पर,
यही बिन्दुपान रसास्वादन बन जाता है, जो स्वानन्द (**श्रोता के अन्तःकरण में रहा हुआ भगवत्सम्बन्धी आनन्द**) उत्पन्न होने में कारण बनता है ॥ १९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

ऊपर बताये समस्त वक्ता के अतिरिक्त वक्ता के अन्य जितने प्रकार हैं वे,
सभी "उद्धृतोदक (**पात्र में लिया गया जल**)" एवं "पतितोदक (**पात्र से नीचे गिरा हुआ जल**)" समान हैं, और उनको श्रवण करने का फल भी इन्हीं जल के समान समझ लेना चाहिए ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिता : ॥२१॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटितो जलभेदः समाप्तः ।

इस प्रकार भूमि पर अनेक ढंग से जीव-इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के भावों का आकार ले लेने वाले विष्णुगुण,
रूपतः एवं फलतः निरूपित कर दिये गये ॥ २१ ॥
यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों द्वारा प्रकटित जलभेदग्रन्थ समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीकल्याणरायविरचितविवृतिसमेतः ।

भावितं विविधैर्भावैः प्रेष्ठभावितया मुहुः । भावये राधया कृष्णं भवितुं भावभावुकः ॥१॥
यद्वाक्पीयूषभावानां भावनादभवो भवः । भावये तान्निजाचार्यपदो भावोपलब्धये ॥२॥

श्रीकृष्णे केवलभावेनापि 'केवलेन हि भावेने'ति वाक्यात् तत्प्राप्तेः 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित'मित्यादिभिर्भावहीनस्य ज्ञानादेरप्यसमर्थत्वादस्नेहभोजनमिव भावहीनं सर्वमिति श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयानां भावपोषार्थं कृपया भावनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।

प्रियतमरूप से वारंवार अनेक भावों के द्वारा भावित किये गये ; राधासहित कृष्ण की मैं भावभावुक होने के लिये भावना करता हूँ ॥ १ ॥ जिनके अमृतवाणीरूप भावों की भावना करने से संसार दूर हो जाता है ; उन निजाचार्यचरणों की मैं भावोपलब्धि के लिये भावना करता हूँ ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण की प्राप्ति तो "गोपियाँ, गाएँ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८)" इस वाक्यानुसार केवल भाव करने से होती है और "निर्मलज्ञान भी यदि भगवद्भाव से रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती(श्री०भा० १-५-१२ ; १२-१२-५२)" इस वाक्यानुसार भावहीन ज्ञान-आदि भी भगवत्प्राप्ति कराने में असमर्थ हैं अतः भावहीन सभी कुछ रूखे भोजन की भाँति है इसलिये श्रीवल्लभाचार्यचरण निजजनों के भावों का पोषण करने के लिये कृपापूर्वक भाव का निरूपण करने की प्रतिज्ञा नमस्कृत्य इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥१॥

नमसो गतिसंज्ञकत्वात् कुगतिप्रादय इति समामादत्र ल्यप् विसर्गस्य सकारो 'नमस्पुरसोर्गत्यो'रिति । 'यो भावान् भक्तमाहात्म्यं ज्ञापयित्वोद्धवादिषु । अहरत्सर्वदुःखानिवन्दितोभीष्टदोस्तु स' इत्याशयेनाहुः हरिं नमस्कृत्येति । भगवति नमनातिरिक्तस्य कर्तुमशक्यत्वात् ।

गतिसंज्ञक "नमस्" शब्द की कुगतिप्रादयः सूत्रानुसार "कृ" से समास हुई और उसमें "ल्यप्" प्रत्यय होकर "नमस्कृत्य" शब्द बना। "नमस्पुरसोर्गत्योः इस सूत्रानुसार "नमः" के विसर्ग को "स्" आदेश हुआ और "नमस्कृत्य" शब्द बना। आचार्यचरण "जिसने उद्धव आदि को भक्त के माहात्म्य और भावों का ज्ञान कराया और वन्दन करने पर समस्त दुःखों का हरण कर लिया, वह प्रभु मुझे अभीष्टदान करें" इस वाक्य में कहे आशय को ध्यान में रखते हुए "हरिं नमस्कृत्य" यों आज्ञा कर रहे हैं। क्योंकि भगवान को नमस्कार करने के अतिरिक्त और क्या सेवा की जा सकती है !

वक्ष्य इति । निरूपिता भावाः प्रथमत आत्मने फलन्तीत्यात्मनेपदम् । तद्गुणानां विभेदकानिति । ते प्रसिद्धाश्च ते गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां विभेदकान् निवर्तकानित्यर्थः । यद्वा । भगवतो ये गुणा धर्मास्तेषां निवर्तकान् । भगवतो भक्तार्थं सर्वसमत्वादेस्त्यागात् । 'ये भजन्ती'ति वाक्यात् ।

यद्वा । तेषां जीवानां गुणा धर्मास्तेषां वैलक्षण्यसम्पादकानित्यर्थः । अथवा भगवतो ये धर्मास्तानानीयात्र दायकानित्यर्थः ।

आचार्यचरणों ने वक्ष्ये यह आत्मनेपद की क्रिया प्रयुक्त की है क्योंकि भाव तो पहले स्वयं अपने भीतर स्फुरित होंगे तत्पश्चात् दूसरे में। अब "तद्गुणानां विभेदकान्" शब्दों का अर्थ समझें। इनके चार अर्थ हो सकते हैं। (१) जो प्रसिद्ध लौकिक सात्विक-राजस-तामस गुण हैं, उन गुणों को मिटाने वाले भावों को आचार्यचरण कह रहे हैं। (२) यहाँ आचार्यचरण उन भावों को कह रहे हैं जो भगवान में रहने वाले ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्मों को हटाने वाले हैं क्योंकि भगवान अपने भक्त के लिये अपने भीतर रहे हुए ऐश्वर्य-वीर्य-यश आदि गुणों को हटा कर अपने भक्तों जैसे बनकर उनके संग क्रीड़ा करते हैं ; यद्यपि भगवान ने गीता में "वैसे तो मैं सभी के लिये समान हूँ। न कोई मुझे प्रिय है और न कोई मेरा द्वेषी है(भ०गी ९-२९)" इस वाक्य में सभी के लिये एक समान होने वाली बात कही है परन्तु फिर

भी वे अपने भक्तों के लिये विशेष बन जाते हैं। (३) अथवा तो उन भावों को कह रहे हैं, जिनके द्वारा जीवों के गुण-धर्मों में ही विलक्षणता आ जाती है (४) अथवा वे भाव कह रहे हैं, जो भाव भगवान के धर्मों को जीव में स्थापित कर देते हैं।

भावान् विंशतिधा भिन्नानिति । भावशब्दस्यानेकार्थत्वेप्यत्र स्नेहस्तज्जन्याश्चावस्थाविशेषा भावा उच्यन्ते । रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते'इत्यादिभिः स्नेहाभिधानात् । गुणभेदैः कृत्वा विंशतिप्रकारैर्भिन्नान् । सर्वसन्देहवारकानिति । विधेयविशेषणमेतत् । भगवद्भजने सर्वेषां साधनानां स्वरूपतः फलतश्च ये सन्देहास्तन्निवारकान् । यद्वा । भावैर्भगवति स्फुरिते सर्वे सन्देहाः स्वत एव निवर्त्स्यन्तीत्यर्थः ॥१॥

अब भावान् विंशतिधा भिन्नानिति इत्यादि शब्दों का अर्थ करते हैं। वैसे तो भाव शब्द के अनेक अर्थ होते हैं तथापि यहाँ आचार्यचरण भगवान के प्रति स्नेह एवं उस स्नेह से उत्पन्न होने वाली विशेष अवस्थाओं को भाव शब्द से कह रहे हैं। "देवादिविषयक रति को भाव कहा जाता है(सा०द० ३-२६०)" इस वाक्य में भी भगवान के प्रति होने वाले स्नेह को ही भाव कहा गया है। वक्ता के अपने गुणों के अनुसार ये भाव भी बीस प्रकार के हो जाते हैं। सर्वसन्देहवारकान् यह भावों का विशेषण है अर्थात् आपश्री उन भावों को कहेंगे जो भगवद्भजन के सभी साधनों में स्वरूपतः और फलतः रहने वाले समस्त सन्देहों का निवारण करने वाले हैं। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, जब आचार्यचरण द्वारा बताये गये इन भावों के द्वारा हृदय में भगवान प्रकट होंगे, तब समस्त सन्देह अपने आप ही दूर हो जायेंगे॥ १॥

भावानां स्वत एकस्वरूपत्वेपि गुणभेदैरेव भेदाद्भावभेदकान् गुणभेदानेवाहुः गुणेति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥२॥

जले यावन्तो भेदा वेदेन सम्मता ज्ञाता वा तावन्तो गुणभेदास्तथेत्यर्थः । वेदोक्तजलभेददृष्टान्तकरणाद्भावानां शुद्धत्वालौकिकत्वतापहारकत्वशोधकत्वाप्यायकत्वानि ध्वनितानि। अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता तैत्तिरीयश्रुतिरनुसन्धेया ।

यद्यपि भगवद्भाव तो एकरूप ही हैं, वे उच्च-नीच नहीं होते परन्तु वक्ता के ही अपने गुणभेदों से मिश्रित हो जाने के पश्चात् भगवद्भाव भी परिवर्तित हो जाते हैं अतः भगवद्भावों में विभिन्नता उत्पन्न करने वाले वक्ता के गुणों को आचार्यचरण गुण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जल के जितने गुणभेद वेदसम्मत हैं अथवा वेद के द्वारा हमें ज्ञात हुए हैं, वक्ता में भी उतने ही गुणभेद होते हैं। आचार्यचरणों ने वेद में बताये गये जल के भेदों के दृष्टांत देकर भगवद्भावों को बताया है क्योंकि आपश्री यह बताना चाहते हैं कि जल में रहने वाले शुद्धता-अलौकिकता-तापहारकता-शोधकता-शीतलता इत्यादि गुण भगवद्भावों में भी हैं। इस ग्रन्थ को पढ़ने से पहले तैत्तिरीयश्रुति में कहे "कूप्याभ्यः स्वाहा" से लेकर "सर्वाभ्यः स्वाहा" यहाँ तक के वाक्य देख लेने चाहिए।

तत्र प्रथमं गानप्रियत्वाद्गोविन्दस्य गायकाना भावमाहुः गायका इति। गन्धर्वा इति प्रसिद्धाः गाननिपुणाः कूपतुल्यास्तेषां भावः तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपजलं जाड्यकाले कोष्णत्वाज्जाड्यनिवर्तकमुष्णकाले शीतलत्वात्तापनिवर्तकं व्यवह्रियमाणं वर्धते, समीचीनं च भवति, तथैतेषां भावोतिजाड्ये पुंसि जाड्यनिवर्तकः, संसारतप्ते तापनिवर्तको गीयमानो वर्धते, समीचीनश्च भवति । यथा रज्ज्वादिभिः कूपजलं गृह्यते तथा गानद्वारैवैतेषां भावो ग्राह्यः ॥२॥

गोविन्द गानप्रिय हैं अतः इनमें से सबसे पहले गायकों के भावों को आचार्यचरण गायकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। गन्धर्व गानकला में निपुण होने के लिये प्रसिद्ध हैं, इनका भाव कुए के जैसा होता है ; इसलिये इनका भगवद्गुणानुवाद करने का भाव कुए के जल जैसा होता है। जिस प्रकार कुए का जल शीतकाल में गुनगुना होने के कारण शीत दूर करता है एवं उष्णकाल में शीतल होने के कारण ताप दूर करता है, जितना उपयोग करें उतना बढ़ता है, अच्छा भी होता है ; उसी प्रकार इन गन्धर्वों का भाव भी जड़ व्यक्ति की जड़ता दूर करता है एवं संसारतप्त लोगों का तापनिवारक होता है, गान करने पर बढ़ता है, अच्छा भी होता है। जैसे कुए का जल रस्सी आदि की सहायता से निकाला जाता है, उसी प्रकार इन गन्धर्वों में रहने वाला भगवद्भाव इनके गान द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥ २॥

ननु गायकाः सर्वे तुल्या एव नेत्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥३॥

यथा केचित् कूपाः स्वादुपरिणामसुखकारिजलाः, केचिदमिष्टजलाः, केचित् क्षारजलाः, तिक्तजलाः, परिणामदुःखजलाश्च, तथा

गायका अपि पुरुषोत्तमतद्विभूतिगुणावतारांशादिलीलाभेदेन भगवन्तं गायन्तः सत्त्वगुणादिभिरुपलक्षिताश्चाकामा मोक्षकामाः स्वर्गकामा लौकिककामाश्चेति बहुधा इति पूर्वोक्तकूपविशेषैस्तुल्या इति तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । अत एवोक्तं कपिलदेवैर्देवहूतिं प्रति 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते । स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते । अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भमात्सर्यमेव च संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः । विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा । अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः । कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् । यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः । मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोम्बुधौ । लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्याप्युदाहृतम् । अहैतुक्यप्रतिहता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।' इत्यादि ।

परन्तु यहाँ शंका यह होती है कि, सभी गायक एक जैसे तो नहीं होते ! तो आचार्यचरण कुओं के विभिन्न भेद बता कर गायकों के विभिन्न भेद कूपभेदास्तु इत्यादि शब्दों से कह कर समाधान कर रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं- जैसे कुछ कुओं का जल स्वादिष्ट एवं पीने पर परिणाम में सुखकारी होता है, कुछ कुओं का जल खारा होता है, कुछ का जल क्षारयुक्त होता है, कुछ चरपरे जल वाले होते हैं एवं कुछ कुओं का जल परिणामतः रोगकारी होता है ; ठीक उसी प्रकार भगवद्गुणगान गाने वाले गायक भी पुरुषोत्तम या उनकी विभूति या उनके गुणावतार या अंशावतार की भिन्न-भिन्न भगवल्लीलाओं द्वारा गुणगान गाने वाले, सत्व-रज-तम आदि गुणों में आविष्ट होकर सकाम, मोक्ष की कामना, स्वर्गकामना से, किसी लौकिककामना से गाने वाले ऐसे अनेक प्रकार के गायक होते हैं अतः ये सभी गायक ऊपर बताये गये कुओं के जल की भाँति अनेक प्रकार के होते हैं इसलिये इन गायकों का भाव भी उन-उन कुओं के जल समान होता है, यह अर्थ है। इसी कारण कपिलदेवजी ने अपनी माता देवहूति को "साधकों के भावों के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है(श्री०भा० ३-२९-७)" यह कहा है।

अत एव स्वभावभूतानां गुणानां मार्गेण वृत्तिभेदेन पुंसामभिप्रायो भिद्यते इति फलसङ्कल्पभेदाद्भक्तिभेद इति गुणानां मिश्रणेन तामसादिभक्तिषु त्रयस्त्रयः प्रकारा इति श्रवणादिषु प्रत्येकं नवनवभेदा इति सगुणा भक्तिरेकाशीतिप्रकारा, निर्गुणा त्वेकविधैवेति द्वयशीतिप्रकारा भक्तिः प्रथतेतराम् । तदेव श्रीमदस्मत्प्रभुचरणैर्भक्तिहंसे निरूपितम् । 'श्रवणादिनवकमप्यधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत्कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनानेकविधं भवती'ति ।

अतएव समझना चाहिए कि इन गायकों के स्वभावगत गुणों के कारण इनको सुनने वाले श्रोताओं का अभिप्राय/भावना भी अलग-अलग हो जाती है, इसलिये अनेक प्रकार के फलों को प्राप्त करने के सङ्कल्प के कारण भक्ति भी सात्विक-राजसी-तामसी यों अनेक प्रकार के भेदों वाली हो जाती है। इसलिये जब भक्त में इन सात्विक-राजस-तामस आदि गुणों का परस्पर मिश्रण होता है तो तामसभक्ति-राजसभक्ति-सात्विकभक्ति इन तीनों प्रकार की भक्ति के भी फिर तीन-तीन प्रकार हो जाते हैं, यानि कि नौ प्रकार की भक्ति हो गयी। अब, श्रवण-कीर्तन आदि नौ प्रकार की शास्त्रीयभक्ति भी जब ऊपर कहे नौ प्रकारों से मिलती है तो श्रवण-कीर्तन आदि में कही प्रत्येक भक्ति के भी पुनः नौ प्रकार हो जाते हैं, जो कि सगुणाभक्ति है और इन भेदों को मिलाएँ तो ८१ प्रकार की भक्ति हो गयी ; और निर्गुणाभक्ति तो एक ही प्रकार की होती है अतः कुल मिलाकर भक्ति के ८२ प्रकार हो जाते हैं- यों भक्ति इतनी विस्तृत होती चली जाती है। यही बात प्रभुचरणों ने भक्तिहंस में "श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन इत्यादि नवधारूपा भक्ति भी अधिकारिभेद से कर्मरूप, ज्ञानरूप, उपासनारूप अथवा भक्तिरूप यों अनेक प्रकार की हो सकती है" इस वाक्य द्वारा कही है।

द्वितीयं भावमाहुः कुल्याः पौराणिका इति । कुल्या अल्पा कृत्रिमा सरित् । पुराणमधीयते विदन्ति वा पौराणिकाः पुराणेतिहासपाठकाः कृत्रिमाल्पनदीतुल्याः, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा भूमौ कुल्या जलाशयेन पारम्पर्ययुताः परम्परासम्बद्धास्तथा एतेपि भुवि पुराणार्थप्राप्तौ पारम्पर्ययुताः सद्गुरूपदेशादवगतपुराणार्थाः । सद्गुरूपदेशं विना श्रीभागवतविष्णुपुराणादौ भाषात्रयासुरव्यामोहकलीलास्वरूपाज्ञाने सर्वमनर्थकं स्यात् । यथा प्रत्यहं यत्ने क्रियमाणे कुल्या प्रवहति, नान्यथा, तथा पुराणपाठ एव तेषां भावोदयो, नान्यदेति दृष्टान्तेन सूचितम् ॥३॥

प्रथम प्रकार के वक्ता का निरूपण करके अब आचार्यचरण दूसरे प्रकार के वक्ता के भाव का निरूपण कुल्याः पौराणिकाः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। कुल्या छोटी कृत्रिम नदी को कहते हैं। जो पुराणों का अध्ययन करते हैं या उनको जानते हों, उन्हें "पौराणिक" कहा जाता है अर्थात् पुराण-इतिहास का पाठ करने वाले। ये कृत्रिम नदी के जल के समान होते हैं अतः इनका भगवद्भाव कृत्रिम नदी के जल समान होता है। जैसे कुल्या भूमि पर किसी न किसी जलाशय के सङ्ग परंपरा से जुड़े या सम्बन्धित रहती हैं, ठीक उसी प्रकार ये भी भूमि पर परंपरा से पुराणों का अर्थ प्राप्त करके अर्थात् किसी सद्गुरु से परंपरागत पुराणों का अर्थ जानने वाले होते हैं। क्योंकि योग्य गुरु से पढ़े बिना श्रीभागवत-विष्णुपुराण इत्यादि में कही गयी तीन प्रकार की भाषा(लौकिकी-परमत-समाधि) एवं असुरों को भ्रमित

करने वाली भगवान की लीलाओं का स्वरूप वे नहीं जान पायेंगे और सभी अनर्थक बन जायेगा। पौराणिकवक्ता एवं कुल्या की समानता यह है कि, जैसे कुल्या प्रतिदिन प्रयत्न करने पर ही बहती है, अपने आप नहीं बहती, ठीक उसी प्रकार जब ये पुराणों का पाठ करते हैं, तब केवल उतने ही समय के लिये इनके हृदय में भगवद्भावों का उदय होता है, अन्यथा नहीं। ये बात बताने के लिये आपश्री ने इन्हें कुल्या का दृष्टांत देकर कहा ॥ ३ ॥

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥४॥

तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति । च पुनस्ते पूर्वोक्ताः । 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशाद्देहकुटुम्बयोः पोषार्थं पुराणेतिहासपाठकाः स्वसंसारस्योत्पत्तिहेतवो भवन्तीत्यर्थः । कुल्याजलान्यपि क्षेत्रप्रविष्टानि सम्यक् सारस्यान्नस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । न बहिरन्तःशुद्धिहेतुस्नानाचमनादौ हेतवस्तथैतेपि न स्वर्गापवर्गहेतवो भवन्ति । अपिशब्दात् क्षेत्रप्रविष्टा गायका अपि संसारहेतवो भवन्तीत्यर्थः ।

अब आपश्री तीसरे प्रकार के वक्ता का भाव क्षेत्रप्रविष्टाः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि में प्रयुक्त हुए "च" शब्द से ज्ञात होता है कि, इस श्लोक में भी आपश्री पिछले श्लोक में बताये पौराणिकवक्ताओं के ही विषय में कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि पूर्वश्लोक में कहे पौराणिकवक्ता भी यदि क्षेत्रप्रविष्ट हो जाएँ(अर्थात् पुराणों का उपदेश आजीविका के लिये करने लगें) तो वे भी श्रोता का लौकिकसंसार ही बढ़ाने में कारण बनेंगे, भगवद्भाव बढ़ाने में नहीं। "क्षेत्र" शब्द का अर्थ "क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः(अमरकोश ३-३-१८०)" इस कोशप्रमाण के अनुसार पत्नी भी होता है अतः श्लोक का भावार्थ यह हुआ कि, पुराणों का उपदेश करने वाले वक्ता भी यदि अपनी देह-पत्नी-कुटुम्ब आदि का भरणपोषण करने के लिये उपदेश करते हों, तो वे लौकिकसंसार ही बढ़ायेंगे, भगवद्भाव में वृद्धि नहीं कर पायेंगे। जैसे कुल्या का जल यदि खेतों में चला जाय तो बोए हुए अन्न को ही उत्पन्न करता है, आंतरिक-बाह्यशुद्धि या आचमन आदि के लिये उपयोग नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार पुराणों का उपदेश यदि सांसारिक आजीविका चलाने के लिये किया जाय, तो ऐसे वक्ता श्रोताओं के लिये स्वर्ग या अलौकिकप्राप्ति कराने का साधन नहीं बन सकते। श्लोक में प्रयुक्त हुए "अपि" शब्द से ज्ञात होता है कि, द्वितीयश्लोक में बताये गये सत्त्वरजतम भाव वाले गायक भी यदि क्षेत्रप्रविष्ट हैं अर्थात् आजीविका चलाने के लिये भगवन्माहात्म्य को गा रहे हैं, तो वे भी संसार को ही बढ़ायेंगे।

अत एवोक्तं भक्तिहंसे 'वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एवे'ति । गीतायां च 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति । श्रीभागवते चोक्तम् । 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ॥ त्वत्पादुके ह्यविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभभवापवर्गमाशासते यदि त आशिष ईश नान्य'इति ।

इसी कारण भक्तिहंस में प्रभुचरणों ने "यदि कोई आजीविका चलाने के लिये श्रवण आदि करता हो, तो वह खेतीबाड़ी करने जैसा लौकिककार्य ही है"- यह कहा है। गीता में भी भगवान ने "जो जिस भाव से मेरी शरण होते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ(भ०गी ४-११)" यह कहा है। श्रीमद्भागवत में भी "प्रह्लाद ने भगवान नृसिंह से कहा- हे भगवन् ! जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण करवाना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है(श्री०भा० ७-१०-४)" , "हे कमलनाभ ! आपके चरणकमलों की पादुकाएँ समस्त अमङ्गलों को नष्ट करने वाली हैं। परन्तु जो आपके चरणकमलों की शरणग्रहण नहीं करते, उन्हें मुक्ति तो मिलती ही नहीं अपितु सांसारिकभोग भी नहीं मिलते(श्री०भा० १०-७२-४)" इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं।

चतुर्थं भावमाहुः वेश्यादिसहिता इति । आदिपदात् कुलटातत्संगिद्यूतादय उच्यन्ते । 'न तथास्य भवेन् मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः । योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गत' इति कपिलदेववाक्यात् । एतादृशा गायका गर्ततुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यदि विषयैर्बाध्यमाना अपि दुराचारा अपि समयभेदेनापि भगवन्तमेव भजेयुस्तदापि समीचीना भवेयुस्तदपि नास्तीत्याहुः मत्ता इति । अतः स्वस्वाम्यनुसन्धानरहिताः । नह्येते प्रीत्या माहात्म्यधिया वा कृष्णं गायन्ति, किन्तूत्तमस्वरगीतवशात् कदाचिदतो गर्ततुल्या एवेत्यर्थः । अतो नैषां भावस्य कूपकुल्याजलवदाप्यायकत्वादिगुणयोग इत्यर्थः । अमत्तास्तु कूपभेदेषु ज्ञेयाः ॥४॥

अब आचार्यचरण चौथे प्रकार के वक्ता का भाव वेश्यादिसहिता इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसमें प्रयुक्त हुए "आदि" शब्द से कुलटाओं का संग करने वाले एवं उसके साथ-साथ जुआ इत्यादि में रत रहने वाले वक्ताओं के विषय में आचार्यचरण कह रहे हैं। कपिलदेवजी ने भी श्रीभागवत में ऐसों की निन्दा करते हुए "जीव को किसी और का सङ्ग करने से ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता, जैसा स्त्री और स्त्रियों के सङ्गियों का सङ्ग करने से होता है(श्री०भा० ३-३१-३५)" यह कहा है। ऐसा संग करने वाले गायक गढ्ढे के

समान होते हैं अतः इनका भाव गढ्ढे के गन्दे जल के समान होता है। ऐसे वक्ता भले ही आरंभ में सांसारिकविषयों से जुड़े होने के कारण दुराचारी भी हो गये हों तथापि यदि कभी-कभार समय पर भगवान का भजन भी करते होते, तब भी ठीक बात थी परन्तु वो बात भी नहीं है क्योंकि ऐसे व्यक्ति सदा सांसारिक विषयों में मत्त रहते हैं अतः आपश्री इन्हें **मत्ताः** कह रहे हैं। कुलटाओं एवं विषयों में मत्त रहने के कारण उन्हें ये अनुसन्धान ही नहीं रहता कि भगवान मेरे स्वामी हैं और मैं उनका दास। ऐसे मदमत्त वक्ता भगवान से प्रीति करने के कारण या उनमें माहात्म्यबुद्धि रखने के कारण कृष्णभजन नहीं करते किन्तु उत्तम स्वरसङ्गीत से आकर्षित होकर करते हैं, इनका ध्यान गाये जाने वाले भगवच्चरित्रों की ओर नहीं होता परन्तु राग-स्वर-ताल की ओर रहता है इसलिये ये गन्दे गढ्ढे के जल समान होते हैं- यह अर्थ है। इसलिये इनका भाव कुए के जल या कुल्या के जल की भाँति शीतलता आदि गुणों से युक्त नहीं होता। और, यदि ऊपर कहे वक्ता में बाकी सभी दोष तो हैं परन्तु यदि वे मत्त नहीं हैं, तो इन्हें तीसरे श्लोक में बताये गये विभिन्न कुओं के जलों के अंतर्गत समझ लेने चाहिए॥ ४॥

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥५॥

पञ्चमं भावमाहुः **जलार्थमेवेति** । प्रक्षालनोच्छिष्टजलप्रक्षेपार्थमेव ये गर्तास्तत्तुल्या नीचा गानोपजीविन इत्यर्थः । नीचत्वेन बाह्योत्कर्षाभावाद्गानोपजीवनेनान्तरोत्कर्षाभावादुच्छिष्टजलगर्ततुल्यत्वमेवैषां, तेनोच्छिष्टगर्तजलवत्तेषां भावो न सद्भिर्ग्राह्य इत्यर्थः । यद्वा । जलनिःसरणार्थं गर्ता इत्यर्थः । पौराणिकनिरूपणानन्तरं पुनर्यद्गायकनिरूपणं तदेतादृशानां पौराणिकानामेतद्गायकतुल्यत्वज्ञापनार्थम् ।

पाँचवें प्रकार के वक्ता का भाव आपश्री **जलार्थमेव** (गन्दाजल एकत्रित करने के लिये) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- प्रक्षालन करने से जूठे हुए जल को बाहर फेंकने के लिये ही जो गढ्ढे बनाये जाते हैं, अपनी आजीविका चलाने के लिये भगवद्गुणगान करने वाले वक्ता उस गन्दे जल के गढ्ढे के समान नीच होते हैं। निम्नस्तर के होने के कारण ये बाह्यरूप से किसी का उत्कर्ष नहीं कर सकते एवं भगवद्गुणगान को अपनी आजीविका बनाने के कारण स्वयं अपना भी उत्कर्ष नहीं कर सकते अतः ये जूठा जल एकत्रित करने के लिये बनाये गये गढ्ढे के समान ही होते हैं और इनका भाव उस गढ्ढे के गन्दे जल जैसा ही होता है इसलिये सज्जनों को इनका भाव ग्रहण नहीं करना चाहिए- यह अर्थ है। अथवा इन्हें गन्दा जल घर से बाहर निकालने के लिये बनाये गये गढ्ढे के समान समझ लें। यद्यपि गायकों की बात तो आचार्यचरण दूसरे श्लोक में ही पूरी कर चुके थे और अभी तो बात पौराणिकवक्ताओं की चल रही थी परन्तु पौराणिकों की बात कहने के पश्चात् फिर वापस से गायकों की बात छेड़ने का अर्थ यह है कि, पौराणिकवक्ता भी यदि आजीविका चलाने के लिये भगवद्गुणानुवाद करते हों, तो वे भी गन्दे जल के गढ्ढे के समान ही हैं।

षष्ठं भावमाहुः ह्रदास्त्विति । तुशब्दः पण्डितप्रकरणबोधनार्थः । भगवच्छास्त्रं गीताभागवतादिकं तत्र तत्पराः । न तु मायावादादिमते एतादृशाः पण्डिता ह्रदतुल्यास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इत्यर्थः । यथा ह्रदजलमन्तःशीतलत्वादगाधत्वाच्च नातपेन पश्वादिभिश्च तापयितुं कलुषयितुं वा शक्यमेवमेषां भावोपि सांसारिकतापेन कुतर्कादिभिश्च न तापयितुं कलुषयितुं वा शक्य इति भावः ॥५॥

अब छठे प्रकार के वक्ता का भाव आपश्री **ह्रदास्तु** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। "तु" शब्द से ज्ञात होता है कि, अब यहाँ से विद्वान्-पंडित वक्ताओं का प्रकरण आरंभ हो रहा है। पण्डितवक्ता गीता-भागवत इत्यादि भगवच्छास्त्रों में तन्मय रहते हैं, मायावाद आदि मत में नहीं। ऐसे पण्डित "ह्रद" के समान होते हैं अतः इन पण्डितों का भाव ह्रदजल के समान होता है। जैसे ह्रदजल अंदर से शीतल होता है और अगाध होता है, न धूप से सूखता है और न पशु इत्यादि उसे कलुषित ही कर सकते हैं ; ठीक उसी प्रकार इन पण्डितों का भाव भी सांसारिक ताप से तपाया नहीं जा सकता एवं कुतर्कों से कलुषित भी नहीं हो सकता- यह भाव है॥ ५॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधा : ॥६॥

सप्तमं भावमाहुः **सन्देहेति** । भगवच्छास्त्रे सन्देहवारकाः गम्भीरं मानसं येषामित्यन्तर्निष्ठा एतादृशाः पण्डिताः । सुष्ठु उदकं येषां तादृशह्रदविशेषतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथोत्तमोदकानां जलं मनःप्रसादहेतुरप्येवं भगवच्छास्त्रसन्देहवारकानामन्तर्निष्ठानां भावोपि मनःप्रसादहेतुरपीति भावः । वाप्यो वा सूदा उच्यन्ते ।

सातवें प्रकार के वक्ता का भाव **सन्देह** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस श्लोक में कहे गये वक्ता अपने श्रोताओं के सन्देहों का निराकरण करने वाले होते हैं, गंभीर प्रकृति के होते हैं, अन्तर्मुखी होते हैं- ऐसे पण्डित होते हैं। जिसका जल अच्छा है, ये पण्डित ऐसे "सूद"

नामक एक विशेष ह्रद के समान होते हैं, इनका भाव "सूद" के समान होता है- यह अर्थ है। जैसे उत्तमजल प्यास बुझाने के अतिरिक्त मन को भी प्रफुल्लित करता है, वैसे ही इन भगवच्छास्त्रों के सन्देहों को मिटाने वाले एवं अन्तर्मुखी पण्डितों का भाव भी श्रोताओं के मन का सन्देह मिटाने के अतिरिक्त उनके मन को भी प्रफुल्लित करता है। अथवा तो "सूद" का अर्थ "वापी" कर लें।

अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । भगवच्छास्त्रे संदेहवारकाः अन्तर्निष्ठा वा ज्ञातारः प्रेमयुक्ताः सन्तः, सरःसम्बन्धिकमलानि सम्पूर्णानि यासु तादृश्य आप एतत्तुल्यभावा इत्यर्थः । जलाशयं विहायात्र जलदृष्टान्तकरणादेतेषामपि भावतुल्यत्वं सूचितम् । यथा एतादृश्य आपः सकलेन्द्रियसुखहेतवः कमलसौरभभृङ्गसारसादिसाहित्यात् तथैतेषां भावा अपीति भावः ॥६॥

आठवें प्रकार के वक्ता का भाव आपश्री सरःकमलसम्पूर्णाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, ऊपर बताये गये पण्डितवक्ता भगवच्छास्त्रों में सन्देह मिटाने एवं अन्तर्मुखी होने के अतिरिक्त यदि भगवान से प्रेम करने वाले भी हो जाएँ, तो फिर कमलयुक्त सरोवर के जल जैसे होते हैं, इनका भाव कमलयुक्त सरोवर के जल जैसा होता है- यह अर्थ है। इनमें भगवत्प्रेम होने की विशेषता बताने के लिये आचार्यचरणों ने जलाशय का दृष्टांत न देकर केवल कमलयुक्त जल का ही दृष्टांत दिया है, जिससे आपश्री यह बताना चाह रहे हैं कि, जैसे कमलसरोवर कमल-सुगंध-भृङ्ग-सारस आदि पक्षियों से युक्त होकर सकल इन्द्रियों को सुखकारी लगता है, वैसे ही ऐसे पण्डितों का भाव भी श्रोताओं को सकल इन्द्रियों में सुखकारी लगता है॥ ६॥

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥७॥

नवमं भावमाहुः अल्पेति । अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्तोऽल्पसरस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मभिः शुद्धाः, कर्माणि कृत्वेश्वरे ये समर्पयन्ति तेषां कर्म चित्तशोधकं भवतीति कर्मशुद्धाः । 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पण'मिति भगवद्वाक्यात् । एते पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः ।

आपश्री नवें प्रकार के वक्ता का भाव अल्प इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अल्पश्रुत उसे कहते हैं जिसने अल्प अध्ययन किया हो। ऐसे अल्पश्रुतवक्ता भगवत्प्रेमयुक्त हों, तो वे "वेशन्त" अर्थात् "छोटे तालाब" कहे जाते हैं ; इनका भाव छोटे तालाब के जल समान होता है- यह अर्थ है। आपश्री कर्मशुद्धाः शब्द से दसवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं। कर्म के द्वारा शुद्ध होने वाले कर्मशुद्ध कहे जाते हैं; कर्म करके जो ईश्वर को समर्पित कर देते हैं, उनके कर्म चित्तशोधक बन जाते हैं अतः ऐसों को कर्मशुद्ध कहा जाता है। जैसा कि "तू जो कर्म करता है, जो हवन करता है, जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर(भ०गी० ९-२७)" इस गीतावाक्य में भगवान ने कहा है। ऐसे कर्मशुद्ध वक्ता "पल्वल" कहे जाते हैं, जो कि छोटे तालाब से थोड़ा और छोटा तालाब होता है ; इनका भाव पल्वल के जल समान होता है- यह अर्थ है।

अल्पा श्रुतिः पुराणादिश्रवणं भक्तिर्येषाम्, अल्पश्रुत्या वा भक्तिर्येषामिति तेपि तथा, पल्वलजलतुल्या इत्यर्थः । यथा वेशन्तपल्वलयोरल्पतडागत्वात्तज्जलं पूर्वं निर्मलमपि वराहाद्यवगाहितं कलुषं भवति, तथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'स्वर्गकामः अग्निष्टोमेन, स्वर्गकामो यजेते'त्यादिवाक्यात् सकामानामेव यागाद्यधिकारात् फलाश्रवणेपि विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पनान्नेश्वरार्पणार्थं कर्म कर्तव्यम्, किन्तु फलार्थमेव, यागानधिकारिणामेव भक्तावधिकार इत्यादिभिः कर्मजडानामसद्वादैस्तेषामपि भावः कलुषो भवति । तेषां 'मत्कर्मपरमो भव, मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि, मन्मना भवे'त्यादिप्रमाणानामज्ञानादित्यर्थः ।

अथवा तो "अल्पश्रुतभक्त" उन वक्ताओं को कहेंगे जिनकी अल्प है "श्रुति" ; अर्थात् पुराणादि का श्रवणरूपी भक्ति। या फिर यों अर्थ करें कि- अल्पमात्रा में ही पुराणादि का श्रवण करने से जिनमें भक्ति उत्पन्न हो गयी, ऐसे वक्ता। वे भी पल्वल के समान होते हैं अर्थात् ऐसे वक्ताओं का भाव पल्वलजल के समान होता है। जैसे वेशन्त और पल्वल ये दोनों छोटे तालाब होते हैं और इनका जल पहले तो निर्मल ही होता है परन्तु शूकर आदि पशु इन्हें गन्दा कर देते हैं, वैसे ही इन वक्ताओं का भाव भी पहले तो अच्छा होता है परन्तु पश्चात् दूषित हो जाता है। दूषित यों हो जाता है कि, ऐसे कर्मशुद्धवक्ता को किसी कर्मजड़ व्यक्ति का संग हो जाय तो फिर बाद में वे "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत् (सामवेद-ज्योतिष्टोम-तांडय ब्राह्मण-खंड-१८-७)" इत्यादि वाक्यों को लेकर ये सोचते हैं कि कोई न कोई कामना लेकर ही यज्ञ-आदि कर्म करने चाहिए ; यद्यपि कई कर्म ऐसे हैं जिनके फल का कहीं कोई भी विधान प्राप्त नहीं होता है तथापि "विश्वजित्" नामक कर्म में फल मिलता होने की कल्पना करके वे यज्ञ-आदि कर्म करते हैं ; और उस कर्म को ईश्वर को अर्पण कर देने की बुद्धि रखकर कर्म नहीं करते अपितु खुद ही फल प्राप्त करने की इच्छा से करते हैं। वे यों उल्टा सोचते हैं कि जिनका यज्ञ

में अधिकार नहीं है उन्हीं को फिर विवश होकर भक्ति का सहारा लेना पड़ता है- इत्यादि इत्यादि असद् वादों का अनुकरण करने के कारण कर्मजड़ों का भाव भी कलुषित हो जाता है। क्योंकि इन कर्मजड़ों को "मेरे लिये कर्म करने से भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त हो जायेगा(भ०गी० १२-१०)" इत्यादि प्रमाणों का ज्ञान नहीं होता- यह अर्थ है।

वेशन्तपल्वलयोर्लोके पर्यायत्वेपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्या तयोर्जलयोर्भेदनिर्देशात् । स्वादुसौरभादितदभावाभ्यां वा भेदो ज्ञेयः ॥७॥

वैसे तो लोक में "वेशन्त" और "पल्वल" ये दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तथापि श्रुति में "वेशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा" यों दोनों के जलों को अलग-अलग बताया गया है अतः आचार्यचरणों ने भी इन्हें अलग-अलग दृष्टांत के रूप में कहा है। अथवा, यों अर्थ कर लें कि वेशन्त के जल में स्वाद-सुगंध होती है और पल्वल के जल में स्वाद-सुगंध नहीं होती- यह भेद जान लें॥ ७॥

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥

एकादशभावमाहुः योगध्यानादीति । योगोष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशमात्रादेः, आदिपदाद् बाह्यपदार्थास्मृतिः, एतत्समानाधिकरणा गुणा भावा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः । वृष्टिजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा वृष्टिसमये वृष्टिजलं सर्वदेशं व्याप्नोति, सर्वत्र सुलभमाधारगुणमादाय कार्यविशेषमन्नादिकं च जनयति, तथैतेषां योगादिसमय एव भगवद्भावो देहेन्द्रियादि सर्वं व्याप्नोति, सुलभः पात्रविशेषे स्वसजातीयं भावविशेषं च जनयति, अत एव संयुक्ता इत्यनेन सम्यग्योगो निरूपित इति भावः ।

अब आचार्यचरण ग्यारहवें प्रकार के वक्ता का भाव योगध्यानादि शब्दों द्वारा कह रहे हैं। योग के आठ अंग होते हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। अष्टांगयोग के अंतर्गत ध्यान का अर्थ है- हृदय में प्रादेशमात्र परमात्मा का ध्यान करना।योगी अपने मन में मनोमयी भगवन्मूर्ति का चिंतन करते हैं जो प्रादेशमात्र होती है अर्थात् हाथ के अंगूठे और पहली उँगली मिलाकर बनने वाले आकार के बराबर होती है। इस प्रक्रिया को प्रादेशमात्र का ध्यान करना कहा जाता है। योगध्यानादि(योग+ध्यान+आदि) में जुड़े "आदि" शब्द से आपश्री आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त बाह्यपदार्थों की विस्मृति हो जानी बताना चाह रहे हैं अर्थात् ऐसे वक्ता को योगध्यान से बाह्य लौकिकपदार्थों की भी तत्कालीन विस्मृति हो जाती है ; इन सभी गुणों से युक्त वक्ता के भाव "वर्ष्य" कहे जाते हैं अर्थात् वृष्टि के जल के समान होते हैं। जैसे वर्षा होने के समय वर्षा का जल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, सर्वत्र सुलभ हो जाता है एवं जिस आधार में गिरता है उसी आधार के अनुसार विशेष कार्य करता है, जैसे खेत में गिरा तो अन्न आदि पैदा करता है, ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे वक्ता को भी योग-आदि करने के समय में ही इनके देह-इन्दिय आदि भगवद्भाव से व्याप्त होते हैं, इनका भाव सुलभ होता है एवं कोई श्रोता विशेष पात्र हो तो उसमें अपने समान सजातीयभाव उत्पन्न करते हैं। इस कारण आचार्यचरणों ने "संयुक्ताः" शब्द से यह बताया है कि ऐसे वक्ता योग-आदि से विशेषरूप से जुड़े रहते हैं।

द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः पञ्चाग्निसहनादि, ज्ञानं जीवात्मनः आदिपदाद्वर्णाश्रमाचारश्च, प्रत्येकमेतान्येव भावस्तपोज्ञानादिभिर्वा यो भावस्तेनोपलक्षिताः स्वेदजलतुल्याः कथितास्तेषां भावः स्वेदजलतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवानाराध्य इति मन्यन्ते । वस्तुतो भक्तिप्राप्य एव । 'मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान गजयूथपाये'त्यादिवाक्यैः । केचिदितरभिन्नत्वेन स्वात्मज्ञानान्मोक्ष इति तदेव भजनमिति मन्यन्ते । वस्तुतस्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवती'त्यादेर्भगवज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । 'श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धय' इति वाक्ये केवलात्मज्ञानस्य निन्दितत्वाच्च ।

अब आपश्री बारहवें प्रकार के वक्ता के भाव का निरूपण तपोज्ञानादिभावेन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तप का अर्थ है- पंचाग्नि को सहन करना।कर्ममार्ग में योगी अपने चारों कोनों पर अग्नि प्रज्ज्वलित करके एवं ऊपर से एक सूर्य यों पाँचों ओर से ताप को सहन करते हुए तप करते हैं, इसे पंचाग्नि तप कहा जाता है। ज्ञान का अर्थ है- जीव और आत्मा का ज्ञान हो जाना। आदि शब्द का अर्थ है- वर्णाश्रमधर्म का आचरण करना। अथवा तो तपोज्ञानादि से युक्त वक्ता कहने से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जिन वक्ताओं में तप-ज्ञान इत्यादि भाव हैं, वे वक्ता ; अथवा तो तप-ज्ञान आदि के द्वारा वक्ता में जो भाव उत्पन्न होते हैं, ऐसे भावों से युक्त वक्ता। आपश्री आज्ञा करते हैं- ऐसे वक्ता पसीने के जल समान होते हैं, उनका भाव पसीने के जल के समान होता है- यह अर्थ है। कुछ ऐसा मानते हैं कि तप से ही भगवान प्राप्त होते हैं। किन्तु वास्तव में तो भगवान भक्ति से ही प्राप्त होते हैं। जैसा कि "धन, कुलीनता, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज इत्यादि कुछ भी भगवान को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं- परन्तु भक्ति से ही भगवान गजेन्द्र पर सन्तुष्ट हो

गये थे(श्री०भा० ७-९-९)" इस वाक्य में कहा भी गया है। कुछ लोग ये मानते हैं कि, जब देहधर्मों को आत्मधर्म से भिन्न होने का ज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसी ज्ञान से मोक्ष प्राप्त हो जाता है, इसी का ज्ञान हो जाने को वे भगवद्भजन मानते हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि आत्मज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता अपितु "तमेवं विद्वानमृत इह भवति(नृसिंहपूर्व १-६)" इस वाक्यानुसार भगवज्ज्ञान ही मोक्षप्राप्ति में साधन है। और, "हे प्रभो ! जो लोग आपकी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रम उठाते हैं, उनको केवल क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है। जैसे थोथी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं(श्री०भा० १०-१४-४)" इस वाक्य में भक्ति के बिना केवल कोरे ज्ञान की निन्दा भी की गयी है।

केचित्तु 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परःपुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारण'मिति वाक्याद्वर्णाश्रमाचारमेव भगवद्भजनं मन्यन्ते । तदपि न विचारक्षमम् । वर्णाश्रमाचारस्याधिकारिविशेषणत्वादाराधनं तु श्रवणादिरूपं भिन्नमेव ।

और कुछ लोग "वर्णाश्रमधर्म का पालन करने वाले पुरुष के लिये विष्णु की आराधना करना ही एकमात्र मार्ग है, विष्णु की आराधना के अतिरिक्त उसकी सन्तुष्टि का अन्य कोई कारण नहीं है(वि०पु० ३-८-९)" इस वाक्य का प्रमाण देकर ये मानते हैं कि, वर्णाश्रमधर्म का आचरण ही भगवद्भजन है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि उनको उपरोक्त विष्णुपुराणवाक्य का वास्तविक अर्थ ज्ञात नहीं होता। इस वाक्य का सही अर्थ यह है कि उपरोक्त वाक्य में वर्णाश्रमधर्म को पुरुष के विशेषण के रूप में कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि भगवद्भजन करने वाले अधिकारी के विशेषण के रूप में वर्णाश्रमधर्म का पालन करना कहा गया है, वर्णाश्रमधर्म का पालन करने को ही धर्म नहीं कहा गया है- यह अंतर है। विष्णु का आराधन तो श्रवण-आदि नवधाभक्ति के अंतर्गत है और वह तो वर्णाश्रमधर्म से अलग ही कोई वस्तु है।

'धर्मः सत्यदयोपेतः, धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्, विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनामपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थः प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमान' इत्यादिभिर्भगवद्भजनाभावे भगवद्वैमुख्ये च धर्मस्याप्रयोजकत्वनिरूपणात् । 'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः । स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः पर' इति भगवतोद्धवं प्रत्याचारभक्त्योर्भेदेन निरूपणात् । द्विजपत्न्यनुग्रहे द्विजैर्भगवद्वैमुख्ये त्रिवृद्विद्यादीनां धिक्कारोक्तेश्च । 'ये त्विहासक्तमनस' इत्यादिवाक्यैः सर्वकर्माणि कुर्वतामपि भगवद्वैमुख्योक्तेश्च ।

और तो और, "जो लोग मेरी भक्ति से वञ्चित हैं, उनके चित्त को सत्य और दया से युक्त एवं धर्म और तपस्या से युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करने में असमर्थ है(श्री०भा० ११-१४-२२)" इस वाक्य में तो भगवद्भजन का अभाव होने पर एवं भगवद्विमुखता होने पर तो वर्णाश्रमधर्म भी व्यर्थ कह दिये गये हैं। साथ ही साथ यह भी जान लें कि "भगवान ने कहा- हे उद्धव ! यदि वर्णाश्रमियों के धर्म में मेरी भक्ति का पुट और लग जाये, तब तो इन्हें अनायास ही परमकल्याणस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो जाय(श्री०भा० ११-१८-४७)" इस उद्धव के प्रति भगवान द्वारा कहे वाक्य में भगवान ने वर्णाश्रमधर्म का आचरण एवं भक्ति को अलग-अलग बता दिया है। यदि वर्णाश्रमधर्म का आचरण करना ही भगवान का आराधन करना होता, तो भगवान इन दोनों को अलग-अलग क्यों बताते ? और यह भी तो सोचिये कि, जब भगवान ने द्विजपत्नियों पर अनुग्रह किया और जब द्विजों को यह बात पता चली तो उन्होंने बाद में पश्चात्ताप करते हुए यह कहा कि, यदि हम भगवान से विमुख हैं तो हमारा यज्ञ आदि कर्मकांड सभी कुछ व्यर्थ हो गया और उन्होंने अपने आप को धिक्कारा। और, "जिनका चित्त इस लोक में आसक्त है और जो कर्मों में श्रद्धा रखते हैं, वे श्रीमधुसूदन भगवान की कथाओं से विमुख ही रहते हैं(श्री०भा० ३-३२-१६)" इस वाक्य में समस्त कर्मों को करने वाले भी भगवान से विमुख हो जाते हैं- यह बताया गया है। इस वाक्य से भी पता चलता है कि, लौकिकवैदिकधर्म अलग वस्तु है और भगवद्भजन अलग वस्तु है, अतः वर्णाश्रमधर्म का आचरण करने को भगवद्भजन का नाम नहीं दिया जा सकता।

अत एव 'परमापदमापन्नो हर्षे वा समुपस्थिते । नैकादशीं त्यजेद्यस्तु यस्य दीक्षास्ति वैष्णवी ।' 'समात्मा सर्वजीवेषु निजाचारादविच्युतः । विष्ण्वर्पिताखिलाचारः स हि वैष्णव उच्यत' इत्येभिः पुराणवाक्यैर्माधवाचार्यैः कालमाधवीये वैष्णवलक्षणमभिधाय वैष्णवस्मार्तयोर्भेदो निरूपितः । वर्णाश्रमाचारस्यैव भजनरूपत्वे सम्प्रत्युक्तसकलविरोधात् । यथा स्वेदजलं न शुद्धिहेतुस्नानाचमनाद्युपयोगि तर्षनिवर्तकं तापहारकं वा भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः ॥८॥

अतएव "परमापदमापन्नो हर्षे वा(स्कन्दपुराण/वैष्णवमहिमा/वैष्णवस्वरूपवर्णन)" , "समात्मा सर्वजीवेषु(स्कन्दपुराण)" इन पुराणवाक्यों द्वारा भी माधवाचार्यजी ने कालमाधवग्रन्थ में वैष्णवलक्षण बताते हुए वैष्णव और स्मार्तधर्म के बीच का भेद निरूपित कर दिया है। यदि वर्णाश्रमधर्म को ही आप भगवद्भजन मान लेंगें तो अभी जो हमने ऊपर इतने सभी शास्त्रवाक्य दिये हैं, उन सभी से विरोध आ

जायेगा। संक्षेप में ये समझें कि जिस प्रकार पसीने का जल न शुद्धि करने के लिये, न स्नानयोग्य होता है, न आचमन के योग्य होता है, न प्यास मिटा सकता है और न ही ताप दूर कर सकता है ; ठीक उसी प्रकार तपज्ञानादिभाव से युक्त वक्ताओं का भाव भी श्रोता के लिये उपयोगी नहीं होता ॥ ८ ॥

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥

त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेनेति** । महदनुग्रहादिना प्राप्तज्ञानेन ये सर्वदुःखहर्तुर्गुणा ऐश्वर्यादयः प्रोक्ताः कदाचिदेव प्रतीयमानाः वेदादिगम्यास्ते गुणाः दूरात् पर्वतादेर्धारारूपेण पततां जलानां ये शब्दास्तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः (पर्वतपतित) धाराजलानां ज्ञापकास्तथोच्यमाना भगवद्गुणा अपि वक्तॄणां धाराजलसदृशभावज्ञापका इत्यर्थः । यथा धाराजलं नैर्मल्यशैत्यमाधुर्याविच्छेदयोगाद्दर्शनस्पर्शनस्नानाचमनपानादिभिर्मनोहारि तापहारि सौहित्यसुखकारि, तथैतेषां काव्यादिषु प्रतीयमानो भावोपीति भावः ॥९॥

अब आचार्यचरण तेरहवें प्रकार के वक्ता का भाव अलौकिकेन इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। महद्जनों के अनुग्रह आदि से प्राप्त हुए ज्ञान द्वारा जब समस्त दुःखों का हरण करने वाले भगवान के ऐश्वर्यादि गुणों का वर्णन होता है, तो वे "पतच्छब्दा(झरने से गिरते हुए ध्वनि करते जल के समान)" कहे जाते हैं। ये गुण कदाचित् ही प्रकट होते हैं अर्थात् जो श्रोता वेदों का अर्थ जानते हों, वही इन गुणों को जान सकते हैं। ये गुण दूरगामी पर्वत से जल की धारा नीचे गिरने से सुनाई पड़ते शब्दों के समान होते हैं- यह अर्थ है। जैसे धाराजल के शब्द से पता चल जाता है कि यह पर्वत से गिर रहा है, उसी प्रकार अलौकिकज्ञान के द्वारा जो भगवद्गुणगान होता है, तो उस भगवद्गुणगान को सुनने से ही पता चल जाता है कि वक्ता के भीतर का भाव अलौकिक है अतः इनके भावों को आपश्री ने धाराजल के समान बताया। जिस प्रकार धाराजल निर्मल, शीतल, देखने में सुंदर, स्नान-आचमन आदि में मनोहारी, तापहारी, हितकारी, सुखकारी होता है ; ठीक उसी प्रकार अलौकिकज्ञान से युक्त वक्ता जब काव्य-आदि के द्वारा भगवद्भावों का वर्णन करते हैं, तो इनका भाव भी श्रोता को ऐसा ही अनुभूत होता है ॥ ९ ॥

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

चतुर्दशं भावमाहुः **देवा इति** । श्रीपुरुषोत्तमव्यतिरिक्तानां देवानामादिपदात् पितृमातृपतिज्येष्ठभ्रात्रादय उच्यन्ते । एतेषामेव उपासनेऽयमेव देवः परमेश्वरो, वयं परमेश्वरभजनमेव कुर्मः । पितैवास्माकमीश्वरः, पितृसेवां विष्णुभजनमेव कुर्म इत्येवमादयो ये उद्भूता भावास्ते, अथ च देवाः शिवादयः आदिपदाद् यक्षरक्षःपिशाचादयः । तेषां देवादीनामुपासनमुद्भूतमुद्गतं येषु भगवद्भावेषु ते भावा देवाद्युपासनेन सह वोद्भूता भगवद्भावास्ते च भूमेरुद्गताः पृष्वा इव । 'अवश्या यजन्याः पृष्वा' इति वेदभाष्ये । पृष्वा जलबिन्दवस्तुषारकणाः जलबुद्बुदा वा त इवेत्यर्थः । तेषां भ्रान्त्या भजनात्तुल्यतयैव सर्वभजनाच्च । महापुरुषाणां भगवद्भक्तानां भजनं तु भगवत्प्रीतिभक्तिशुद्ध्यादिसाधकत्वाद्भिन्नरूपमेव ।

इस श्लोक में आचार्यचरण चौदहवें प्रकार के वक्ता का भाव देवा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। देवा शब्द का अर्थ श्रीपुरुषोत्तम से अतिरिक्त अन्य सभी देवता हैं एवं आदि पद से पिता-माता-पति-ज्येष्ठ भ्राता इत्यादि समझने चाहिए। इनकी उपासना करने में "ये ही मेरे देव हैं, परमेश्वर हैं" , "इनकी उपासना कर रहे हैं तो परमेश्वर का ही भजन कर रहे हैं","हमारे पिता ही हमारे परमेश्वर हैं" , "पिता की सेवा कर रहे हैं तो वह विष्णु के भजन समान ही है"- इस प्रकार से प्रकट होने वाले जो भाव हैं, वे। और, देवाः का अर्थ है- शिव आदि देवता। एवं आदि पद का अर्थ है- यक्ष, राक्षस, पिशाच इत्यादि योनियाँ। इन देवताओं की उपासना वाले भाव जिन वक्ताओं के भगवद्भावों में प्रकट हुए होते हैं, वे भूमि में प्रकट हुए पृष्वजल की भाँति होते हैं। अथवा तो फिर यों अर्थ कर लें कि देव आदि की उपासना के साथ-साथ उत्पन्न होने वाले जो भगवद्भाव हैं, वे भाव भूमि पर उत्पन्न होने वाले "पृष्व" समान कहे जाते हैं। वेदभाष्य में इन्हें "अवश्यायजन्याः पृष्वाः(सायणभाष्य ७-४-१३)" यों कहा गया है। जलबिन्दु, ओस के कण या जल के बुदबुदों को "पृष्व" कहा जाता है, देवों की उपासना करनेवाले वक्ताओं के भाव इनके जैसे होते हैं। क्योंकि वे भ्रांतिवश अन्यान्य देवताओं का भजन कर रहे हैं एवं सभी देवताओं को परमेश्वर के तुल्य मानकर कर रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति महापुरुषभगवद्भक्तों का भजन करते हों,

तो वह अलग बात है, उसमें दोष नहीं है क्योंकि महापुरुषभगवद्भक्तों का भजन भगवत्प्रीति बढ़ाने के लिये, भक्ति बढ़ाने के लिये एवं अपने आप को शुद्ध करने के साधक के रूप में किया जाता है।

अत एव श्रीभागवते 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका । तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । " प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः । स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् "। " सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदः" । " न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः । यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया " । " किरातहूणान्ध्रे'त्यादि । पित्रादिसेवायाः स्वर्गादिसाधकत्वान्न भगवत्फलसाधकत्वम् ।

अतएव श्रीभागवत में "मेरी सेवा में प्रेम रखे, साष्टाङ्ग प्रणाम करे, मेरे भक्तों की सेवा को बड़ा माने(श्री०भा० ११-१९-२१)" , "विवेकीजन सङ्ग या आसक्ति को भी आत्मा का बन्धन मानते हैं परन्तु वही आसक्ति जब महापुरुषों के प्रति हो जाती है, तो मोक्ष का खुला द्वार बन जाती है(श्री०भा० ३-२५-२०)" , "ऐसे परित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हीं के सङ्ग की प्रार्थना करनी चाहिए। सत्पुरुषों के समागम से मेरा यथार्थज्ञान कराने वाली कथाओं द्वारा शीघ्र ही श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होगा(श्री०भा० ३-२५-२४-२५)" , "हे परीक्षित् ! पापीपुरुष की जैसी शुद्धि भगवान को आत्मसमर्पण करने से होती है, वैसी शुद्धि तपस्या आदि के द्वारा नहीं होती(श्री०भा० ६-१-१६)" , "किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीचजातियाँ भी जिनके शरणागत भक्तों की शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाती हैं, उन सर्वशक्तिमान भगवान को बार-बार नमस्कार है(श्री०भा० २-४-१८)" इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। पिता आदि परिवारजनों की सेवा तो स्वर्ग आदि के फल को प्राप्त करने में साधिका है, भगवत्फल को साधने में नहीं।

अत एव भगवता गीतायां 'येप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यत्र, स्वयजने विधिपूर्वकत्वाभाव उक्तो, विध्यभावे कर्मणि फलाभाववदत्रापि भगवत्फलं न भवतीत्याशयेन । ('[1]यान्ति मद्याजिनोपि माम् । देवान् देवयजो यान्ती'तिवाक्यैः पुरुषोत्तमभजनकर्तुरेव पुरुषोत्तमप्राप्तिस्तस्यैव भगवान् योगक्षेमं वहतीति पुरुषोत्तमप्राप्तौ पुरुषोत्तमभजनमेव विधिर्नतु केनापि प्रकारेणान्यभजनमित्यत्र विध्यभावात् फलाभावो युक्त इति भावः ।) यथा बिन्दवस्तुषारकणाः बुद्बुदजलं वा न स्नानाचमनपानादिभिः शुद्धितृप्त्यादिसाधकं तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिसाधक इत्यर्थः ।

अतएव भगवान ने गीता में "जो अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं परन्तु विधिपूर्वक नहीं करते(भ०गी० ९-२३)" इस वाक्य द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि अन्य देवताओं की उपासना करने वाले मेरा भजन विधिपूर्वक नहीं करते अतः वहाँ जैसे कर्म की विधि बराबर नहीं होगी तो फल प्राप्त न होना बताया गया, वैसे ही यहाँ भी भक्तिमार्गीय विधि ठीक नहीं होगी तो भगवत्फल प्राप्त नहीं होगा- यह भगवान का आशय है। ("देवताओं की उपासना करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं और मुझे भजने वाले मुझको ही प्राप्त होते हैं(भ०गी० ९-२५)" इस वाक्य द्वारा पुरुषोत्तम का भजन करने वाले को ही पुरुषोत्तम की प्राप्ति होगी और भगवान उसके ही योगक्षेम का वहन करते हैं इसलिये पुरुषोत्तमप्राप्ति में पुरुषोत्तम का भजन ही विधि है, अन्य देवताओं का भजन तो किसी भी प्रकार से नहीं। इसलिये विधि ठीक न हो तो फल का न मिलना ठीक ही है।) जैसे जल के बिन्दु या ओसकण या जल के बुदबुदे स्नान-आचमन-पान आदि के द्वारा शुद्धि-तृप्ति आदि के साधक नहीं होते, ठीक वैसे ही अन्य देवताओं का भजन करने वाले वक्ताओं का भाव भी श्रोताओं की शुद्धि-आदि का साधक नहीं बन सकता- यह अर्थ है।

पञ्चदशं भावमाहुः साधनादिप्रकारेणेति । साधनमादिः फलात् यस्मिन् प्रकारे तेन प्रकारेण नवधा भक्तिरेव मार्गो भगवत्प्राप्तिसाधनं तस्मात् क्रमेण प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्मा येषां श्रवणादयो नटवेशादयो वा ते स्यन्दमानाः प्रस्रवणजलतुल्यभावाः प्रकीर्तिता इत्यर्थः ।

अब पंद्रहवें प्रकार के वक्ता के भाव का निरूपण आपश्री साधनादिप्रकारेण इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। जो गुणगान पहले भगवत्प्राप्ति के साधनों द्वारा आरंभ किया गया है अथवा तो नवधारूपाभक्ति में बताये गये भगवत्प्राप्ति के नौ साधनों के द्वारा जो वक्ता भगवद्गुणगान करते हैं, ऐसे वक्ताओं को क्रमशः पहले भगवत्प्रेम स्फुरित होता है, फिर उनमें भगवद्धर्म स्फुरित होते हैं जिनका अर्थ है- या तो ऐसे वक्ता श्रवणादि साधनों में प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा तो भगवान की नटवेश धारण करके की गयी लीलाएँ उनके भीतर स्फुरित होने लगती हैं। भगवान ने नटवेश धारण करके अथवा तो नटरूप से लीलाएँ की हैं, जिनके अंतर्गत श्रीभागवत-वेणुगीत में वर्णित "बर्हापीडं नटवरपपुः(१०-२१-५)" एवं भगवान का मथुरा के रङ्गभवन में प्रवेश करना अर्थात् "श्रीभागवत १०-४३-१७,१८,१९,२०, से लेकर ३० तक के श्लोकों में कहे स्वरूप एवं लीलाओं का समावेश किया जा सकता है। टीकाकार कहते हैं कि स्यन्दमान समान वक्ताओं

---

१. ( )एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते ।

के भीतर भगवान की नटवेश धारण करके की गयी लीलाएँ स्फुरित होती रहती हैं। - ऐसे वक्ता "स्यन्दमान(बहता हुआ झरना)" अर्थात् बहते हुए झरने के जल समान कहे गये हैं- यह अर्थ है।

भक्तिमार्गे मर्यादया भगवदङ्गीकारादकामोपहतैरखिलवर्णाश्रमधर्मैः सत्त्वशुद्धौ भगवद्भक्तिरेव पुरुषार्थ इति शास्त्रार्थनिश्चयाच्छ्रवणादिभिस्तेषां भाव इति । यथा पर्वतोपरि वृष्टितडागादिसद्भावे प्रस्रवणजलं वर्धते तदभावे ह्रसत इति तत्सापेक्षं शुद्ध्यादिहेतुश्च, तथैतेषां भावोपि साधनानुसारी शुद्ध्यादिहेतुश्चेति भावः ।

भक्तिमार्ग में भगवान मर्यादा से जीव का अङ्गीकार करते हैं अतः निष्कामभाव से समस्त वर्णाश्रमधर्मों का पालन करने से सत्त्वशुद्धि होती है एवं भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, यही भगवद्भक्ति पुरुषार्थ है- इस प्रकार के शास्त्रार्थ का निश्चय इन वक्ताओं को श्रवण आदि के द्वारा उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह कि जैसे पर्वत पर वृष्टि होने के कारण एवं उन पर तालाब इत्यादि होने के कारण पर्वतों से बहने वाला जल बढ़ता है एवं वृष्टि या तालाब न हों, तो घटता जाता है और ऐसा जल शुद्धि आदि के लिये भी उपयोग किया जा सकता है ; उसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी श्रवणादि साधनों के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है एवं श्रोताओं के मन की शुद्धि भी करता है।

इदमेवोक्तं भक्तिहंसे । 'आद्यस्तु तत्साधने भवति प्रवृत्तस्तथैव तद्वरणात्, परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजकस्तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्व'मिति । एकादशस्कन्धे च 'भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेनघ । पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् । श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् । परिनिष्ठा तु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम । आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः । मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् । मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् । मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च । इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते' इत्यादिभिर्निरूपितम्। नवधा भक्तिस्तु 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णोर्भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तम'मिति प्रह्लादैर्निरूपिता ॥१०॥

यही बात प्रभुचरणों ने भक्तिहंस में "प्रथमाधिकारी सबसे पहले तो भगवत्प्राप्ति के साधनों की ओर प्रवृत्त होता है क्योंकि भगवान ने उसका वरण इसी ढंग से किया होता है। साधन करते करते जब तक उसे भगवान में स्नेह उत्पन्न न हो जाय, तब तक तो विधि की ही मुख्यता रहती है किन्तु एक बार भगवान में स्नेह उत्पन्न हो जाने के अनन्तर तो वह जो और जैसी भगवत्सेवा करता है, वह भगवान से स्नेह होने के कारण करता है और तब विधि का कोई प्रयोजन नहीं रहता" इस वाक्य द्वारा कही है। यही बात एकादशस्कंध में भी "हे उद्धव ! भक्तियोग का वर्णन तो मैं तुम्हें पहले ही कर चुका हूँ परन्तु अब मैं फिर से भक्ति प्राप्त होने का श्रेष्ठ उपाय बताता हूँ। जिसे मेरी भक्ति प्राप्त करनी हो, वह मेरी कथा में श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण-नाम-लीला का सङ्कीर्तन करे और स्तोत्रों के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा में प्रेम रखे, साष्टाङ्ग प्रणाम करे, मेरे भक्तों की सेवा को बड़ा माने, समस्त प्राणियों में मुझे ही देखे। अपने समस्त अङ्गों की चेष्टा केवल मेरे लिये ही करे, वाणी से मेरे गुणों का गान करे, अपना मन मुझे अर्पित कर दे और समस्त कामनाएँ छोड़ दे। मेरे लिये धन-भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे। जो यज्ञ-दान-हवन-जप-व्रत और तप किया जाय, वह सब कुछ मेरे लिये ही करे। जो मनुष्य इन धर्मों का पालन करते हैं, उनके हृदय में मेरी प्रेमभरी भक्ति का उदय होता है, और जिसे मेरी ऐसी भक्ति प्राप्त हो गयी, उसके लिये फिर और क्या करना बाकी बच जाता है ?(श्री०भा० ११-१९-१९-२४)" इस वाक्य द्वारा कही गयी है। और, नवधारूपाभक्ति तो "भगवान की भक्ति नौ भेदों वाली है। भगवान के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उनका कीर्तन, उनका स्मरण, उनके चरणों की सेवा, उनकी अर्चना, उनका वन्दन, उनका दास्य, उनका सख्य और उनके प्रति आत्मनिवेदन(श्री०भा०)" इस वाक्य द्वारा प्रह्लादजी ने निरूपित की है ॥ १० ॥

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

षोडशं भावमाहुः यादृशा इति । यादृशाः पूर्वमव्यवधानेन प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्, मर्यादैकप्रतिष्ठिताः मर्यादायामेव केवलाः प्रतिष्ठिताः, न तु ततोधिकविशेषाङ्गीकारयुक्तास्ते स्थावरा आपः स्थिरजलतुल्यभावाः समाख्याता इत्यर्थः । यद्वा । ये केचित् येनकेनचित् प्राप्तवृद्धिक्षयविवर्जितप्रेमाणस्ते तथाप्रोक्ता इत्यर्थः । अत एव प्रेमस्वरूपं श्रूयते । 'आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यद्वर्धते । पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः सांप्रतं प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य

१. ( )एतच्चिह्नान्तरितभागः प्राचीनपुस्तकेषु न दृश्यते । -

करवै वाङ्निष्ठता लाघव'मिति । यथैतज्जलं नातपेन शुष्यति स्नानादिहेतुश्च भवति, तथैतेषां भावोपि न संसारतापकुतर्कादिभिर्गच्छति शुद्ध्यादिहेतुश्च भवतीति भावः ॥११½॥

इस श्लोक में आचार्यचरणों ने सोलहवें प्रकार के वक्ता के भाव का निरूपण यादृशाः इत्यादि शब्दों से किया है। "यादृशाः" का अर्थ है- पूर्वश्लोक में कहे गये वक्ता, यानि कि मर्यादामार्गीय साधनों में निष्ठ रहने वाले वक्ता, जिनकी तुलना पर्वत से बहने वाले जल से की गयी थी, वे। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, पूर्वश्लोक में जिस प्रकार के वक्ता का निरूपण किया गया, तादृशाः वैसे वक्ता के भावों में यदि घटती-बढ़ोतरी न होती हो और वे केवल मर्यादा में स्थिर रहते हों और इससे अधिक के अधिकारी न हों, तो वे स्थिरजल के समान कहे जाते हैं- यह अर्थ है। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, जिन वक्ताओं का भगवत्प्रेम किसी भी कारण से घटता या बढ़ता नहीं, दृढ़ ही रहता है, वे स्थिरजल के समान कहे जाते हैं। अतएव प्रेम के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या भी प्राप्त होती है और वह इस प्रकार है- "वास्तविक प्रेम बिना किसी हेतु के प्रकट होता है। अपने प्रेमी के किसी भी अपराध से वो घटता नहीं है और प्रशंसा से बढ़ता भी नहीं यथावत् रहता है। प्रेम ही जगत में अमृततुल्य है एवं दुःख को तत्काल मिटाने वाला है। अब इस श्रेष्ठ प्रेम के विषय में वाणी से क्या कहें"। इसलिये ये समझें कि, जिस प्रकार से स्थिरजल धूप से सूखता नहीं है एवं स्नान आदि के लिये भी उपयोगी होता है : ठीक उसी प्रकार भगवत्प्रेम में स्थिरचित्त वाले वक्ताओं का भाव भी सांसारिकताप से सूखता नहीं है एवं कुतर्क करने वाले वितंडावादियों के कारण नष्ट भी नहीं होता, साथ ही साथ श्रोता के हृदय को शुद्ध भी बनाता है- यह भाव है॥ ११ १/२॥

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

सप्तदशं भावमाहुः **अनेकजन्मेति** । ये भावा अनेकजन्मसु 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति वाक्यात् तपोध्यानसमाधिभिः सम्यक्सिद्धाः तज्जन्मारभ्य सदा भुवि आधारभूते चात्मनि सङ्गः सत्सङ्गः आदिपदादन्नकालविशेषदेशविशेषाः दुष्टसङ्गादयश्च तेषां यौ गुणदोषौ ताभ्यां क्रमेण वृद्धिक्षययुताः, निरन्तर उद्गम उद्भवो गमनं च तेन युताः । एतादृशास्ते भावा नद्यः स्वतोऽसमुद्रगामिनदीजलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । यथा नदीजलं वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिक्षयवद्भवति, भूमिपर्वतादिगुणदोषाभ्यां गुणदोषवद्भवति, शुद्धितृप्त्यादिहेतुश्च भवति, तथैते भावा अपि तपोध्यानसमाधिसाध्यपापक्षयद्वारा जनिता इति शुद्ध्यादिहेतवः सत्सङ्गादिभिर्गुणवन्तो भवन्ति, वर्धन्ते च, दुष्टसङ्गादिभिर्दोषवन्तः भवन्ति, हीयन्ते चेति भावः ॥१३॥

इस श्लोक में आपश्री अब सत्रहवें प्रकार के वक्ता का भाव अनेकजन्म इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, अनेक जन्मों के भाव अर्थात् "अनेक जन्मों में किये गये तप-ध्यान-समाधि आदि के द्वारा मनुष्य के पाप दूर होने पर उसमें कृष्ण के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है(योग वसिष्ठ)" इस श्लोकानुसार तप-ध्यान-समाधि इत्यादि के द्वारा भलीभाँति सिद्ध हुए भाव, जो जन्म से लेकर अन्त तक अपनी आत्मा में सदा बने रहते हैं एवं सत्सङ्ग-दुसङ्ग(अन्न-काल-देश द्वारा होने वाला)दोनों के गुण-दोषों से क्रमशः बढ़ते और घटते रहते हैं अर्थात् भाव आते-जाते रहते हैं; ऐसे भाव उस नदी समान कहे जाते हैं, जिसका जल अपने आप समुद्र में नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि ऐसे भाव उस क्षुद्र नदी की भाँति होते हैं जो वर्षाकाल में स्वतः उत्पन्न हो जाती है और कालांतर में सूख भी जाती है। जिस प्रकार ऐसी नदी का जल वृष्टि से बढ़ता और धूप से सूखता है ; भूमि-पर्वत जहाँ से भी बहता है वहाँ के गुणदोष अपने संग ले लेता है ; शुद्धि एवं प्यास मिटाने के भी काम आता है , ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे भाव भी तप-ध्यान-समाधि द्वारा पापक्षय हो जाने के कारण उत्पन्न होते हैं, श्रोता के मन की शुद्धि भी करते हैं, सत्सङ्ग मिले तो गुणवान बनते हैं, बढ़ते भी हैं एवं दुःसङ्ग मिले तो दूषित होते हैं और घटते भी हैं- यह भाव है॥ १३॥

एतादृशाः स्वतन्त्रास्ते सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

अष्टादशं भावमाहुः **एतादृशा इति** । अव्यवधानेनोक्ता भावाः स्वतन्त्राः निरुपाधिकाश्चेत्तदा ते सिन्धवः स्वतःसमुद्रगामिन्यो महानद्यस्तज्जलतुल्याः परिकीर्तिता इत्यर्थः । सिन्धुषु नदा अपि गृह्यन्ते । यथा महानदीजलप्रविष्टाः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैतद्भावानुसारिणोपि दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशन्ति, महानदीजलवदेते भावाः शुद्ध्यादिहेतवोपि भवन्तीति भावः ।

अब इस श्लोक में आपश्री अठारहवें प्रकार के वक्ता का भाव **एतादृशाः** शब्द से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, अभी पिछले ही श्लोक में जिस प्रकार के भाव वाले वक्ता की बात कही थी, वही वक्ता का भाव यदि सत्सङ्ग-दुःसङ्ग से क्रमशः बढ़ता-घटता न होकर स्वतन्त्र और निष्काम भी हो जाए तो वे सिन्धु(महानदी) कहलाते हैं, जो महानदी स्वतः ही समुद्र में मिल जाती है ; ऐसे वक्ता का भाव महानदी/बड़ी नदियों के जल समान होता है। सिन्धु शब्द का अर्थ महानदी या बड़ी नदी भी होता है। जैसे महानदी के जल में बहने वाला पदार्थ समुद्र में मिल जाता है : ठीक उसी प्रकार ऐसे वक्ताओं का अनुसरण करने वाले श्रोता भी दयासागर भगवान को प्राप्त कर लेते हैं। अतः महानदियों के जल की भाँति इनका भाव शुद्धि आदि के लिये भी उपयोगी होता है- यह भाव है।

एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये भगवदीयाः भक्त्या सेवया पूर्णा 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' येषामात्मादिकं भगवदर्थमपेक्षितं नत्वात्माद्यर्थे भगवान् सेव्यस्ते समुद्राः रत्नाकरतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । भगवदीयशब्दस्तु नामधेयस्य विकल्पेन वृद्धत्वाच्छेषार्थे छप्राप्तौ 'बहुलं छन्दसी'ति छसो विधानात् सिद्धः, पुराणप्रसिद्धोपि, वाचस्पत्यादिवल्लोके ज्ञेयः ।
अब आपश्री उन्नीसवें प्रकार के वक्ता का भाव **पूर्णा भगवदीयाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री यह कहना चाहते हैं कि, जो भगवदीय होते हैं अर्थात् भक्ति/भगवत्सेवा के द्वारा पूर्ण होते हैं अर्थात् भक्ति के अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं रह जाती जैसा कि "भगवदीय हो जाने से ही समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं(श्री०भा० ५-६-१७)" इस श्लोक में कहा भी गया है एवं जिनको आत्मा आदि भगवान के लिये ही अपेक्षित होती है, अपने खुद का भरणपोषण करने के लिये वे भगवान की सेवा नहीं करते, ऐसे वक्ता समुद्र या रत्नाकर के समान कहे जाते हैं, इनका भाव समुद्र के जल की भाँति होता है- यह अर्थ है। "भगवदीय" शब्द कैसे बना यह समझें। व्याकरण के सूत्रानुसार यदि कोई नामवाची शब्द हो तो विकल्प से उसकी वृद्धसंज्ञा हो सकती है अतः भगवत् शब्द चूँकि नामवाची है इसलिये इसकी वृद्धसंज्ञा हुई और तत्पश्चात् इसे "छ" प्राप्त हुआ और "छ" को "बहुलं छन्दसी" सूत्रानुसार "छस्" प्रत्यय करने के पश्चात् "छ" को "ईय" आदेश हुआ और "भगवदीय" शब्द बना। भगवदीय शब्द तो पुराणों में भी प्रसिद्ध है। लोक में जैसे "वाचस्पति" आदि शब्द सिद्ध होते हैं, ठीक वैसे ही "भगवदीय" शब्द भी बना है।

तान् प्रसिद्धान् गणयन्ति शेषव्यासाग्निमारुता इति । जडनारदमैत्राद्या इति । शेषो भगवद्गुणपरः शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते विभूतिरूपश्च । 'अनन्तश्चास्मि नागाना'मिति वाक्यात् । व्यासः कलावतारः सदा भगवद्धर्मनिरूपणपरो यस्य पूर्णभगवद्धर्मनिरूपणेनात्मप्रसादः । अग्निर्भगवदास्यरूपाः स्वयमेव येषां सर्वांशे सर्वस्वरूपः कृष्ण एव । मारुतो हनुमान् श्रीरघुनाथतद्गुणतत्परः । जडो जडभरतो योन्तःपूर्णभावाद्बहिर्जड इव प्रतीयते । नारदः सदा पुरुषोत्तमगुणगानैकतानः । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदादुद्धवादयः । समुद्रदृष्टान्तेन यथा चन्द्रदर्शनादब्धिरुत्तुङ्गतरलिततरङ्गो भवति, तथा भगवन्मुखचन्द्रदर्शनादेतेपि प्रवर्धमानभावा भवन्तीति भावः । अयमेव भावः कपिलदेवैरुक्तः 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः । स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत' इति ॥१४१/२॥
उन प्रसिद्ध भगवदीयों के ही नाम आचार्यचरण यहाँ **शेषव्यासाग्निमारुताः** इत्यादि शब्दों से गिना रहे हैं। शेषजी भगवद्गुणगान में तत्पर रहते हैं एवं शय्यादि के रूप में भगवान की सेवा करते हैं और भगवान के विभूतिरूप भी हैं, जैसा कि "समस्त नागों में मैं शेषनाग हूँ(भ०गी० १०-२८)" इस वाक्य में कहा गया है। व्यासजी भगवान के कलावतार हैं, सदा भगवद्धर्मों का निरूपण करने में तत्पर रहते हैं और जिनको पूर्णरूप से भगवद्धर्म का निरूपण करने पर ही आत्मिक संतोष प्राप्त हुआ। अग्नि भगवान की मुखरूपा है, जो कि स्वयं आचार्यचरण ही हैं जिनके सर्वांश में सर्वरूप कृष्ण विराजते हैं। **मारुत** अर्थात् हनुमानजी, जो कि श्रीरघुनाथजी और उनके गुणगान में सदैव रत रहते हैं। **जड** अर्थात् जड़भरतजी जो आन्तरिकरूप से पूर्णभाव को प्राप्त हो जाने के कारण बाहर से जड़वत् प्रतीत होते थे। **नारद**जी सदा पुरुषोत्तम के गुणगान में एकनिष्ठ रहते हैं। **मैत्र** का अर्थ है मैत्रेयजी, जो कि पराशर ऋषि के शिष्य और भगवद्धर्मों के वक्ता हैं। **आद्य** पद से उद्धवजी जैसे भगवदीय भी गिने जा सकते हैं। आपश्री ने इन भगवदीयों को समुद्र कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे चन्द्रमा का दर्शन करने पर समुद्र उत्तुङ्ग एवं तरंगित हो जाता है, वैसे ही भगवान के मुखचन्द्र का दर्शन करने पर इन भगवदीय का भाव भी प्रवृद्ध हो जाता है- यह भाव है। यही भाव कपिलजी ने "मेरे निष्काम भक्त दिये जाने पर भी मेरी सेवा को छोड़ कर सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मोक्ष तक नहीं लेते(श्रीभा० ३-२९-१३)" इस वाक्य द्वारा कहा है॥ १४ १/२॥

पूर्णभावान् स्वरूपज्ञानभेदेन विलक्षणान्निरूपयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन । एके वेदमिश्रभावेन । एके गुणैर्मिश्रभावेन हरिगुणान् वर्णयन्ति । ते क्रमेणोच्यन्ते । रामकृष्णादयो मनुष्या एव, परं बलादिनाधिका इति ज्ञात्वैके हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तु तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृषादिनिवर्तकं न वा तृप्तिसुखकारि तथैतेषां भावोपीति भावः ।

अब आगे आचार्यचरण उन पूर्णभावयुक्त वक्ताओं का निरूपण कर रहे हैं, जो अपने भीतर भगवद्गुणों का स्वरूप प्रकट होने के कारण एवं भगवद्गुणों के ज्ञान होने के कारण विलक्षण हैं : इन्हें आपश्री लोकवेदगुणैरिति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

एक वो होते हैं जो लोकमिश्रभाव से हरि का गुणगान करते हैं। एक वक्ता वो होते हैं जो वेदमिश्रभाव से हरि का गुणगान करते हैं। एक वो होते हैं जो गुणमिश्रभाव से हरि का गुणगान करते हैं। आचार्यचरण इन्हें क्रम से बता रहे हैं। पहले प्रकार के अर्थात् लोकमिश्रभावयुक्त वक्ताओं का अभिगम ये होता है कि, रामकृष्ण आदि तो मनुष्य ही थे परन्तु ये अत्यधिक बलशाली थे अतः यों जानकर वे इनका गुणगान करते हैं। ये क्षारसमुद्र की भाँति होते हैं अतः इनका भाव क्षारसमुद्र के जल के समान होता है। जिस प्रकार क्षारजल न प्यास मिटा सकता है और न तृप्ति देकर सुखकारी ही हो सकता है; उसी प्रकार ऐसे वक्ताओं का भाव भी ऐसा ही होता है।

एके 'तूद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' इत्यादिना वेदे भूम्युद्धारादेः कृष्णकर्तृकत्वेन निरूपणात् जगत्कर्तैव विविधशरीरेषु आविश्य कार्यं कृत्वा तानि त्यजतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा दधिमण्डस्यासारत्वान्न पुष्टिहेतुत्वम् । तथैतेषां भावस्यापीति भावः ।

दूसरे प्रकार के वक्ता अर्थात् वेदमिश्रभावयुक्त वक्ता "उद्धृतासि वराहेण(महानारा० उप० ४-५)" इत्यादि वाक्यों द्वारा ऐसा समझ लेते हैं कि, चूँकि वेद में कृष्ण के भूमि का उद्धार करने जैसे कार्यों का निरूपण हुआ है अतः वे यों समझ कर हरि का गुणगान करते हैं कि, जगत्कर्ता भगवान ही मनुष्य-पशु-पक्षी इत्यादि विविध शरीरों में आविष्ट होकर उन-उन कार्यों को करके फिर उन शरीरों का त्याग कर देते हैं। इस प्रकार की सोच वाले वक्ता दधिमण्डोद(छाछ के सागर) की भाँति होते हैं और इनका भाव दधिमण्डोद के समान होता है। जैसे छाछ में कुछ भी सार नहीं होता और उससे पोषण नहीं मिलता, वैसे ही इनका भाव भी श्रोता के भाव को पुष्ट नहीं करता।

मायागुणैर्विना भगवतः कर्तृत्वाभावात्तद्गुणैरेव भगवान् सर्वं करोतीति ज्ञात्वा हरेर्गुणान् ये वर्णयन्ति ते सुरोदतुल्यास्तेषां भावः सुरातुल्य इत्यर्थः । यथा सुरायाः स्वरूपविस्मारकत्वं दोषजनकत्वं तथैतद्भावस्यापीति भावः ।

तीसरे प्रकार के वक्ता अर्थात् गुणमिश्रभावयुक्त वक्ता वो होते हैं, जो ये जानकर हरि का गुणगान करते हैं कि, मायागुण के बिना भगवान जगत् बनाने का कार्य नहीं कर सकते अपितु माया के गुण द्वारा ही भगवान सभी कुछ कर सकते हैं। इस प्रकार से जिनकी सोच है, वे सुरोद(मदिरा के समुद्र)समान होते हैं और इनका भाव मदिरा के समान होता है। जैसे मदिरा स्वरूप को भुला देती है, दोष उत्पन्न करती है ; ठीक वैसे ही इनका भाव भी श्रोताओं को स्वरूपविस्मारण करा देता है एवं उनमें दोषबुद्धि पैदा कर देता है- यह भाव है।

भगवान् सर्वेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थ इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावः क्षीरतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरं स्वादुमधुरं पुष्टिजनकं तथायं भावोपीति भावः ।

किन्तु जो वक्ता यह जानकर हरिगुण गाते हैं कि, भगवान सर्वेश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं, वे वक्ता क्षीरोद(दूध के समुद्र)समान होते हैं और उनका भाव क्षीरोद के समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार दूध स्वादिष्ट होता है, मधुर होता है, पोषण देता है; इन वक्ताओं का भाव भी ठीक उसी प्रकार का होता है- यह भाव है।

भगवान् महावीर्यः स्वभक्तानपि वीर्यवतः करोतीति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते घृतोदतुल्यास्तेषां भावो घृततुल्य इत्यर्थः । यथा घृतं वीर्यहेतुस्तथायं भावोपीति भावः ।

और, जो वक्ता यह समझकर हरिगुण गाते हैं कि, भगवान महाशक्तिशाली हैं और अपने भक्तों को भी बलशाली बना देते हैं, वे वक्ता घृतोद(घीके समुद्र)समान होते हैं और उनका भाव घृत के समान होता है- यह अर्थ है। जैसे घृत से शक्ति प्राप्त होती है, वैसे ही इन वक्ताओं का भाव भी श्रोता में सामर्थ्य पैदा करता है।

'तं यथा यथोपासत' इतिश्रुतेः 'भगवान् लक्ष्मीकलत्रः सेवितो भुक्तिं मुक्तिं च यच्छती'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते त्विक्षुरसोदतुल्यास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनिवर्तकस्तथायं भावोपीति भावः ।

और, "तं यथा यथोपासते (मुद्गलोपनिषत्-३)" इस श्रुति के अनुसार जो वक्ता "भगवान लक्ष्मी के पति हैं अतः सेवा करने पर भोग और मोक्ष दोनों देते हैं" यह जानकर हरिगुणवर्णन करते हैं, वे तो ईक्षुरसोद(गन्ने के रस का समुद्र)समान होते हैं और उनका भाव गन्ने के रस समान होता है। जिस प्रकार गन्ने का रस मधुर होता है, भीतर के ताप को दूर करता है; ठीक उसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी मधुर और अन्तःकरण के ताप को दूर करता है- यह अर्थ है।

'यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो यादृशांस्तादृशानपि । सर्वथा शरणं यातानतः सेव्यः स एव ही'ति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदकतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदकं तापनिवृत्तिनैर्मल्यतृप्त्यादिहेतुस्तथायं भावोपीति ।

और, जो "यशःस्वानुद्धरेत् कृष्णो" इस वाक्य के भाव को जानकर हरिगुणवर्णन करते हैं, वे शुद्धोद(**मीठे जल के समुद्र**)समान कहे जाते हैं और इनका भाव शुद्धोदक के समान होता है। जैसे मीठा जल तापनिवृत्ति करता है, निर्मल होता है, तृप्ति करता है; इनका भाव भी ठीक वैसा ही होता है।

भगवान् चिद्रूपो ज्ञानपूर्णो ज्ञानगम्यः सर्वसमो मोक्षार्थं सेव्य इति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावो दधिमण्डतुल्य इत्यर्थः ।

और, भगवान चिद्रूप हैं, ज्ञानपूर्ण हैं, ज्ञान से प्राप्त होते हैं, सभी के लिये समान हैं, भगवान की सेवा मोक्ष पाने के लिये करनी चाहिए- ऐसा जानकर जो हरिगुणवर्णन करते हैं, वे भी दधिमण्डोद(**छाछ के समुद्र**)समान होते हैं और उनका भाव छाछ के समान होता है।

भगवान् वैराग्यपूर्णो न किञ्चिदपेक्षते गृह्णाति वा सर्वैः पावित्र्यार्थं विहितत्वात्सर्वं समर्प्यते स्तूयते चेति ज्ञात्वा ये हरेर्गुणान्वर्णयन्ति ते क्षारोदतुल्यास्तेषां भावः क्षारजलतुल्यो, भगवद्वैराग्यस्य भिन्नरूपत्वादिति भावः । केवलसमुद्रदृष्टान्ते क्षारोदः शुद्धोदो वा ज्ञेयः ॥१५१/२॥

और, भगवान तो वैराग्यपूर्ण हैं, उन्हें किसी से कोई अपेक्षा नहीं है और न वे कुछ ग्रहण करते हैं ; भगवान को जो कुछ भी समर्पित किया जाता है, वह केवल उस वस्तु को पवित्र करने के लिये किया जाता है या अपने को पवित्र बनाने के लिये भगवान की स्तुति की जाती है, स्वयं भगवान को भोग/वस्तु/पदार्थों से कुछ भी लेना-देना नहीं है- ऐसा जानकर जो हरिगुणवर्णन करते हैं, वे भी क्षारोद(**खारे जल के समुद्र**)समान होते हैं और उनका भाव खारे जल के समान होता है क्योंकि वे जानते ही नहीं कि भगवान के वैराग्य का स्वरूप तो कुछ दूसरा ही है- यह भाव है। इस श्लोक में कहे समुद्र के अतिरिक्त पिछले १४वें श्लोक में जहाँ आचार्यचरणों ने केवल समुद्र का ही दृष्टान्त दिया था, वहाँ वक्ता के भावों के अनुसार यथासंभव क्षारोद(**खारे समुद्र का जल**) अथवा तो शुद्धोद(**मीठे समुद्र का जल**) का दृष्टान्त समझ लेना चाहिए॥ १५ १/२॥

पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥
तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥
रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

ये भगवदीयाः 'तमु स्तोतारः' 'यस्मात्क्षरमतीतोहम्' 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्' 'लोकवत्तु लीला कैवल्य मित्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणन्यायैर्भगवन्नामरूपधर्माणां गुणातीतत्वं निश्चित्य भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मकं भगवान् क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमो भगवन्निष्ठं सर्वं निर्गुणं भगवतो लोकवदपि या लीला सैव कैवल्यं मोक्षः फलरूपा गुणातीता स्मरणादिनान्येषां मोक्षसाधिका चेत्येवं निरूपणेन विष्णोः पुरुषोत्तमस्य सर्वानेव गुणान्नवनीतादिचौर्यगोचारणवेणुवादनगोवर्धनोद्धरणादीनपि शुद्धान्गुणातीतत्वेन मायासम्बन्धरहितान्नित्यान्सच्चिदानन्दरूपवतो वर्णयन्ति तेऽमृतोदाः सुधासमुद्रतुल्याः समाख्याताः कथितास्तेषां भावः सुधातुल्य इत्यर्थः । ते भगवच्चौर्यादिप्रयोजनज्ञातारो, यतो विचक्षणाः, ततस्तद्वाक्यानां तेषां वचनामृतस्य पानमन्तर्निवेशनं तत उपदेशग्रहणं तदर्थश्रवणं च सुदुर्लभं सुतरां दुःप्रापम् । अत एव नामस्वरूपज्ञानार्थमेतादृशानामुपदेष्टृणामुपसत्तिः कार्येत्याशयेनाह श्रुतिः 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इति । ते त्वत्सम्बन्धिनं सुमतिं निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भगवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तमित्यर्थः ।

अब इस श्लोक में आचार्यचरण पूर्णभगवदीयों के अंतर्गत उत्तम वक्ताओं का निरूपण गुणातीततया इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। जो भगवदीय "तमु स्तोतार (ऋग्वेद १-१५६-३)" , "चूँकि मैं क्षर-अक्षर दोनों से परे हूँ और सबसे उत्तम हूँ अतः मैं पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ(भ०गी० १५-१८)" , "जो मुझे इस प्रकार निश्चितरूप से पुरुषोत्तम जानता है, वह सबकुछ जानता है(भ०गी० १५-१९)" , "परमेश्वर का विश्व की रचना करने जैसे कार्यों में प्रवृत्त होना तो लोक में आप्तकाम पुरुषों की भाँति केवल लीलामात्र है(ब्र०सू० २-१-३३)" इत्यादि श्रुतिस्मृतिपुराण के वाक्यों के अनुसार भगवान के नाम-रूप-धर्म सभी को गुणातीत निश्चित करके भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मक है एवं भगवान क्षर-अक्षर दोनों से ऊपर पुरुषोत्तम हैं, भगवान में निष्ठ सभी कुछ निर्गुण है, भगवान की लोकानुसारी लीला भी कैवल्य या मोक्ष है, फलरूपा है, गुणातीत है और स्मरण करने वालों के लिये मोक्षसाधिका बन जाती है- इस प्रकार से निरूपण करके विष्णु-पुरुषोत्तम के नवनीतहरण आदि चोरी-गोचारण-वेणुवादन-गोवर्धनोद्धरण आदि समस्त शुद्धगुणों का गान करते हैं एवं गुणातीत होने के कारण भगवद्गुणों को मायासम्बन्धरहित एवं सच्चिदानन्दरूप से वर्णन करते हैं- ऐसे वक्ता सुधासमुद्र(अमृत के समुद्र)समान कहे जाते हैं और उनका भाव सुधासमुद्र के जल समान होता है। वे भगवान की माखनचोरी आदि लीलाओं का तात्पर्य जानते हैं क्योंकि वे विद्वान् हैं। इन विद्वानों से उनके वाक्यों का श्रवण या वचनामृत का पान कर पाना या आत्मसात कर पाना या कि फिर इनके उपदेश को ग्रहण कर पाना या आदरसहित श्रवण कर पाना बड़ा दुर्लभ है, दुष्प्राप्य है। अतएव भगवान के नाम-स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऐसे ही विद्वान् उपदेशकों की शरण लेनी चाहिए- इस आशय से श्रुति "महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे(ऋग्वेद १-१५६-३)" यह कहती है। इस श्रुति का अर्थ यह है कि- हम(वेद) "ते" अर्थात् हे भगवन् तेरे सम्बन्धियों की जो "सुमति" हैं अर्थात् भगवान् को निर्दोषपूर्ण जानने वाले "भगवद्भक्त" हैं, उनका भजन करते हैं।

अत एव तत्त्वसागरेप्युक्तं 'दुर्लभे सद्गुरूणां तु स्यात्तत्सङ्ग उपस्थिते । तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महानि'ति । अत एव नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवत्स्वरूपाज्ञाने ज्ञानकर्मादिकं व्यर्थमित्याह भगवा'नवजानन्ति मां मूढा' इत्यारभ्य 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिता' इत्यन्तेन । नित्यानन्दमयपुरुषोत्तमत्वेन भगवज्ज्ञाने सर्ववित्त्वं सर्वभावेन स्वभजनं चोक्तं भगवता 'यो मामेवमसंमूढ' इति श्लोकेन ।

इसी कारण तत्त्वसागर में भी "दुर्लभे सद्गुरूणां तु(सारसंग्रह/तत्वसार/दीक्षाप्रकारकथने)" यह कहा गया है। और इसी कारण भगवत्स्वरूप को नित्य आनन्दमय पुरुषोत्तमरूप से न जानें, तो समस्त ज्ञानकर्म आदि व्यर्थ हैं- यह बात भगवान ने गीता में "मेरे मनुष्यरूप में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्यस्वभाव को नहीं जानते(भ०गी० ९-११)" इस वाक्य से लेकर "जो इस प्रकार से संमोहित हैं, उनकी मुक्ति उनके सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान सभी कुछ निष्फल हो जाता है(भ०गी० ९-१२)" यहाँ तक के वाक्यों में कही है। और "जो मुझे इस प्रकार से निश्चितरूप से पुरुषोत्तम जानता है, वह सबकुछ जानता है(भ०गी० १५-१९)" इस वाक्य द्वारा भगवान को नित्यानन्दपुरुषोत्तमस्वरूप से जानने वाले को भगवान ने सर्वविद् एवं सर्वभाव से अपना भजन करने की बात कही है।

तद्वाचो महिमानमाहुः **तादृशानामिति** । पूर्णभगवदीयानां वाक्यं क्वचित् यत्र प्रसन्नतया स्वेच्छया वदन्ति, नत्वनुरोधेन प्रेरणया वा, तत्र दूतानां सन्देशहाराणामिव वर्णितं ज्ञेयं, यथा दूतमुखेन राजा वदति, तथा तन्मुखेन भगवानपि दूतानामिव प्रभूत्कर्षवर्णने तेषां न शङ्का चेति भावः । अतो भगवत्कृपया फले भाविन्येतादृशानां समागमो भवति । अत एव श्रीभागवते 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः । सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः । महद्विचलनं नृणा'मित्यादि । अत एवैतद्वचनामृतबिन्दुपानमेभ्य उपदेशग्रहणं श्लोकमात्रश्रवणं शिक्षा वाप्यजामिलाकर्णनवत् । अजामिलस्य यदाकर्णनं विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणं शिक्षा वा तद्वत् प्रकीर्तितम् । यथाजामिलस्य तदनन्तरं न पुनर्नरकसम्बन्धो भगवद्धर्माचरणेनोत्कृष्टफलप्राप्तिस्तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपीति भावः ।

पूर्णभगवदीयों की वाणी की महिमा को आपश्री तादृशानां इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पूर्णभगवदीय कभी-कभार जब प्रसन्नचित्त में अपनी खुद की इच्छा से कुछ कह देते हैं, किसी के अनुरोध या प्रेरणा करने पर नहीं, तो उनके वाक्य सन्देश लाने वाले दूतों के समान होते हैं। तात्पर्य यह कि, जिस प्रकार राजा अपने दूत के द्वारा अपनी बात कहते हैं, उसी प्रकार इन भगवदीयों के मुख द्वारा भगवान भी दूतों की भाँति अपनी बात अपने भक्तों को कहलवाते हैं अतः ऐसे भगवदीय प्रभु के उत्कर्ष का वर्णन करें तो उसमें शङ्का नहीं करनी चाहिए। इसलिये ये समझ लें कि, जब भगवत्कृपा से आगे फलप्राप्ति होने वाली हो, तभी ऐसे पूर्णभगवदीयों का सङ्ग प्राप्त होता है। अतएव श्रीभागवत में "जब संसारचक्र से छूटने का समय आता है, तभी जीव को सत्सङ्ग प्राप्त होता है और सत्सङ्ग प्राप्त होते ही जीव

की आपमें दृढ़ता से बुद्धि लग जाती है(श्री०भा० १०-५१-५४)" , "नन्दबावा ने कहा- हे गर्गाचार्यजी ! आप जैसे महात्माओं का हम जैसे गृहस्थों के यहाँ आना ही हमारे परम कल्याण का कारण है(श्री०भा० १०-८-४)" इत्यादि वाक्यों से उपरोक्त अर्थ कहा गया है। इसलिये इन भगवदीयों के वचनामृत के बिन्दुपान और इनके द्वारा उपदेशग्रहण अर्थात् श्लोकमात्र का श्रवण या शिक्षा ग्रहण करनी ठीक वैसे ही है, जैसे अजामिल ने विष्णुदूतों एवं यमदूतों के बीच का किञ्चित् संवाद सुन लिया था। पूर्णभगवदीयों द्वारा कुछ सत्सङ्ग प्राप्त करना वैसे ही माना गया है, जैसे अजामिल ने विष्णुदूतों से भगवद्धर्म की शक्ति के बारे में सुन लिया था या शिक्षा ग्रहण की थी। जिस प्रकार से अजामिल को उस भगवद्धर्म के बिन्दुपान के पश्चात् फिर नरकसम्बन्ध न हुआ और भगवद्धर्माचरण के द्वारा उत्कृष्ट फलप्राप्ति हुई, उसी प्रकार इन पूर्णभगवदीयों के वचनामृत का बिन्दुपान करने वाले को भी उत्कृष्ट फलप्राप्ति हो जाती है- यह भाव है।

यद्वा । अजामिलस्याकर्णनं यस्मिन् तदजामिलोपाख्यानं तेन यथा भगवद्रूपनामादिमाहात्म्यं ज्ञातं भवति, तथैतद्बिन्दुपानेनापि भवतीति भावः । अत एव श्रीभागवते 'किरातहूणान्ध्रे'ति 'यत्पादपङ्कजे'ति । एतद्बिन्दोः पानापेक्षया रसास्वादोधिक इति तत्परिचायकमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति । रागः स्नेहो गृहादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदात् गृहाद्यासक्तिः, एतान्येव भावाः ।

अथवा, "अजामिलाकर्णन" का अर्थ है- श्रीभागवत में कहा अजामिलोपाख्यान। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अजामिलोपाख्यान सुनने से भगवद्रूप एवं भगवन्नाम के माहात्म्य का ज्ञान हो जाता है ; उसी प्रकार इन भगवदीयों के वचनामृत के बिन्दुपान से भी भगवद्रूप एवं भगवन्नाम के माहात्म्य का ज्ञान हो जाता है- यह भाव है। इसी कारण श्रीभागवत में "किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीचजातियाँ भी जिनके शरणागत भक्तों की शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाती हैं, उन सर्वशक्तिमान भगवान को बार-बार नमस्कार है(श्री०भा० २-४-१८)" , "जिन भगवान के चरणकमलों की रज का सेवन करके योगीजन अपने समस्त बन्धन काट देते हैं, उन भगवान के भक्तों को कर्मबन्धन भला कैसे हो सकता है ?(श्री०भा १०-३३-३५)" इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। किन्तु बिन्दुपान की अपेक्षा वाणी का रसास्वादन करना अधिक होता है अतः आगे आपश्री रागाज्ञानादिभावेन इत्यादि शब्दों से भगवद्गुणगान के रसास्वादन का परिचय दे रहे हैं। राग+अज्ञान+आदि+भावेन में सबसे पहले राग का अर्थ है- गृहपरिवार से स्नेह। अज्ञान का अर्थ है- भगवत्स्वरूप का अज्ञान। आदि का अर्थ है- गृह आदि में आसक्ति होनी ; ये समस्त भाव जब दूर हो जाते हैं, तब भगवद्गुणगान का पूर्णरूप से रसास्वादन होता है।

यद्वा । अज्ञानमविद्या आदिर्येषां भावानां शोकमोहादीनां तेषां यदा सर्वथा नाशनं, तद्वासनापि न तिष्ठति, तदा लेहनं रसास्वादनं पूर्णमुक्तम् । यद्वा, रागाज्ञानादिभावानां यदा सर्वथा नाशनमस्फूर्तिस्तदेति । इदमेव बिन्दोः पानं लेहनं रसास्वादनमुक्तम् । श्रवणादौ व्यसने सम्पन्ने तदेवास्वाद्यमानममृतं भवतीत्यर्थः । तत्स्वानन्दोद्गमकारणं स्वस्य यो भगवदानन्दस्योद्गमस्तस्य नित्यवात् तत्र कारणम् ।'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती'ति श्रुतेः । स्वस्यतिरोहितानन्दस्य य उद्गमः प्राकट्यं ज्ञानफलं तत्कारणतुल्यं यत्रेति च । ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिप्राप्तेः । भगवति क्रमेण प्रेमासक्तिव्यसनैः प्रापञ्चिकास्फूर्तौ न किञ्चिदवशिष्यते । अत एवोक्तमेकादशे 'भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि । एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिना'मित्यादिना च । तथोक्तं भक्तिवर्धिन्यां श्रीवल्लभाचार्यचरणैः 'स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद्गुहारुचिः । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि' ॥१६-१९॥

अथवा अज्ञान का अर्थ है- अविद्या। अर्थात् अविद्या है आदि में जिन शोकमोह इत्यादि भावों के, उन सभी भावों का जब पूर्णरूप से नाश हो जाय, उनके रहे-सहे संस्कार भी नष्ट हो जाएँ , तब भगवद्गुणगान का लेहन/रसास्वादन पूर्ण हुआ कहा जाता है। अथवा, रागाज्ञानादिभावों का जब पूरी तरह से नाश हो जाय, तब भगवत्कथा का पूर्णरसास्वादन हो पाता है। वही बिन्दुपान फिर इस प्रकार से लेहन या रसास्वादन बन जाता है। श्रवणादि करते करते जब व्यसन सिद्ध हो जाता है, तब भगवद्गुणगान का रसास्वादन ही अमृत लगने लगता है- यह अर्थ है। अपने भीतर रहा हुआ भगवदानन्दोद्गम नित्य है और ऐसा लेहन/रसास्वादन ही उस आनन्दोद्गम के उत्पन्न होने में कारण बनता है। जैसा कि "भगवान ही रस हैं और इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है(तै०उ० २-७-१)" इस श्रुति में कहा भी गया है। अथवा तो स्वानन्दोद्गमकारणम् का अर्थ है- जीव में से तिरोहित हुए ब्रह्मानन्द का उद्गम होना जो कि ज्ञान का फल है, उसे प्रकट करने में भगवद्गुणों का लेहन कारणभूत बनता है ; क्योंकि आखिर ब्रह्मभाव प्राप्त होने के पश्चात् ही तो भक्ति प्राप्त होती है। भगवान में जब क्रमपूर्वक प्रेम-आसक्ति-व्यसन सिद्ध होने से प्रपंच मिट जाता है, तब फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। इसी कारण एकादशस्कंध में "जिसे मेरी भक्ति प्राप्त हो जाए, उसे फिर क्या प्राप्त होना शेष रह जाता है ?(श्री०भा० ११-२६-३०)" यह कहा गया है। वही बात भक्तिवर्धिनी में श्रीवल्लभाचार्यचरणों ने "प्रभु से स्नेह हो जाने पर सांसारिक वस्तुओं से प्रीति हट जाती

है(भ०व०- ४)" इस वाक्य द्वारा कही है ॥ १६-१९ ॥

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

विंशं भावमाहुः उद्धृतोदकवदिति । अव्यवधानेनोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथा तेषामेव सर्वे भावाश्च भाववतामप्रत्यक्षदशायामादरेण गृहीतानि वाक्यानि भावाश्चोद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा कथञ्चिद्गृहीतानि पतितोदकवज्जलाशयात् पृथक् स्थितोदकवत् । अथवा, प्रासादादितः पतितोदकवदुपकारं कुर्वन्ति ।

बीसवें प्रकार के वक्ता का भाव आचार्यचरण उद्धृतोदकवत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अभी ऊपर वाले १७वें श्लोक में जो अमृततुल्य वाक्यों की बात कही थी, ऐसे वक्ताओं के अतिरिक्त अन्य जितने भी वक्ता हैं, उनके वाक्यों एवं उनके भावों को उनकी अप्रत्यक्षदशा में भी आदरपूर्वक ग्रहण कर लिया जाय, तो वे वाक्य/भाव किसी पात्र में भर कर लाये गये जल के समान उपकार करते हैं। ऐसों के वाक्यों/भावों को यथाकथञ्चित् ग्रहण कर लेना पतितोदकवत् कहा जाता है अर्थात् जैसे किसी जलाशय से भर कर लाया गया स्थिरजल होता है। तात्पर्य यह कि वे वक्ता तो प्रत्यक्षरूप से प्राप्त नहीं हुए परन्तु उनके भाव/वाक्य ही ग्रहण कर लिये गये। जैसे जलाशय तो प्राप्त नहीं हो पाया परन्तु वहाँ से कुछ मात्रा में ही जल भर कर ले आया गया हो- यह अर्थ है। अथवा तो यों अर्थ कर लें कि उनके वाक्य वर्षा होने के पश्चात् भवन आदि से गिरते हुए जल यानि "पतितोदक" की भाँति उपकार करते हैं। तात्पर्य यह कि जैसे आकाश से बरसता हुआ वर्षा का जल सीधे-सीधे प्राप्त न होकर किसी पर्वत, भूखंड या किसी भवन की छत पर बरस कर गिरता हुआ प्राप्त हुआ। यानि सीधे-सीधे आकाश से शुद्धरूप में प्राप्त नहीं हुआ परन्तु जिस किसी आधार पर गिरा, वहाँ के गुणधर्मों से मिश्रित होकर प्राप्त हुआ, यह अर्थ है।

अथवा । भाववदप्रत्यक्षदशायां सर्वे भावा अमृतोदतुल्यातिरिक्तानामुद्धृतोदकवत्फलं साधयन्ति । वाक्यानि च पतितोदकवत् फलं साधयन्तीत्यर्थः । ततस्तेभ्यो भावेभ्यो वाक्येभ्यश्च फलमपि तथा तदनुरूपमेवेत्यर्थः । यथोद्धृतजलानि स्वप्रभवगुणसदृशानेव गुणान् विदधते, न तु तानेव, तथा तत्तद्भावा अपि तत्तद्गुणसदृशान् गुणान् विदधते । सुधा तु सदैकरूपमेव गुणं विधत्त इति भावः ॥२०॥

अथवा तो ऐसा अर्थ कर लें कि, अमृतसमुद्र से तुलना किये गये भगवद्भाव रखने वाले वक्ताओं के अतिरिक्त अन्य सभी वक्ताओं के भाव उनकी अनुपस्थिति में यथाकथञ्चित् कोई ग्रहण कर ले, तो वे भाव उद्धृतोदक की भाँति श्रोता का उपकार करते हैं ; और यदि उनके वाक्यों का श्रवण कर लिया जाय तो पतितोदकवत् फलसिद्धि करा देते हैं। जबकि अमृतसमुद्र से तुलना किये गये भगवदीयों की वाणी/भाव का तो बिन्दुपान भी फलसिद्धि करा देता है, भले ही वे प्रत्यक्षरूप से न भी प्राप्त हुए हों- यह दोनों में अंतर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, उनकी अनुपस्थिति में उनके भावों एवं वाक्यों को ग्रहण कर लेने का फल भी श्रोता को पतितोदक एवं उद्धृतोदक के समान ही प्राप्त होता है। जैसे किसी स्थान से भर कर लाया गया जल उसके उत्पत्तिस्थान के समान गुण तो उत्पन्न कर सकता है परन्तु ठीक वहीं के गुण प्रकट नहीं कर सकता। उदाहरण के रूप में समझें कि जैसे गङ्गा का जल भर कर घर ले आया जाय तो उसमें गङ्गा के समान पवित्रता तो अवश्य मानी जायेगी परन्तु उसमें प्रवाहरूपा गङ्गा एवं गङ्गा की आध्यात्मिकता, तीर्थरूपता जैसे गुण नहीं आ पायेंगे। ठीक इसी प्रकार अमृतसमुद्रतुल्य से अतिरिक्त जितने वक्ता हैं, उन वक्ताओं के भाव या वाक्यों को श्रोता ग्रहण कर ले, तो वे भाव श्रोता में उनके समान गुण तो पैदा कर सकते हैं परन्तु उन्हीं वक्ताओं के यथावत् गुणों को पैदा नहीं कर सकते। किन्तु सुधा(अमृत)तो सदैव हर परिस्थिति में एक जैसी ही रहती है अतः अमृतसमुद्रतुल्य वक्ताओं के भाव तो चाहे सीधे-सीधे उनसे ही प्रत्यक्षरूप में प्राप्त हों, चाहे वाणी के श्रवण द्वारा, वे तो श्रोता में ठीक उनके जैसे ही भगवद्गुण उत्पन्न कर देते हैं- यह विशेष है ॥ २० ॥

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिता : ॥२१॥

उपसंहरन्ति इतीति । इतीति समाप्तौ । अनेन प्रकारेण वा । जीव आत्मा इन्द्रियाणि च तेषु गताः प्राप्ताः । अत एव भुवि आधारे नानाभावं अनेकविधं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः, नानात्वं वा प्राप्ताः, एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणास्तेषां भावानां भगवदीयत्वात् तद्रूपत्वाद्वा। रूपतः स्वरूपतः ईदृशमिति यत् स्वरूपमिति । फलत इतीदृशमेतत्फलमिति निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥२१॥

जलानामिव भावानां भेदा यत्र निरूपिताः । जलभेद इति ख्यातो ग्रन्थोयं भावबोधकः ॥१॥

श्रीविट्ठलेशाङ्घ्रिसरोजपीठं कल्याणरायेण मुदा प्रणम्य ।

ताताङ्घ्रिपद्मे च गुरून् पितृव्यान् टीका कृतेयं जलभेदनाम्नः ॥२॥
श्रीगोविन्दसुतप्रोक्ता टीका रागवतां हरौ । भावपूर्णा मुदे भूयात्सुन्दरीवाल्पभाषिणी ॥३॥
मृषोद्यमनवद्यं वा बालस्येव कृपालवः । क्षमन्तां विट्ठलाधीशचरणाः प्रभवो मम ॥४॥
इति श्रीविट्ठलेश्वरचरणैकतान श्रीकल्याणरायविरचिता जलभेदटीका सम्पूर्णा ॥

इति से आचार्यचरण ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं। इति शब्द का अर्थ ग्रन्थसमाप्ति के अर्थ में भी हो सकता है और प्रकार अर्थ में भी। जीवेन्द्रियगता का अर्थ है- जीव, आत्मा और इन्द्रियों में जो हरि के गुण व्याप्त हुए, वे भगवद्गुण। ये भगवद्गुण जो भूमि(अर्थात् भक्त के अन्तःकरणरूपी आधार) पर सात्विकादि अनेकविध प्रकार से प्राप्त हुए या नाना प्रकार से प्राप्त हुए भगवान विष्णु के गुण हैं, उनसे युक्त भाव या तो भगवदीय हैं या तो स्वयं विष्णुरूप ही हैं ; आचार्यचरणों ने इन भगवद्गुणों का स्वरूपतः और फलतः निरूपण या विवेचन किया है॥ २१॥

जल के समान भावों के भेद जहाँ बताये गये हैं, उन भावों को बताने वाला यह जलभेद नामक ग्रन्थ है॥ १॥
श्रीविट्ठलेशचरणकमलों, पितृचरणकमलों एवं पितासमान गुरु को प्रसन्नता से नमन करके कल्याणराय ने,
इस जलभेद नामक ग्रन्थ की टीका लिखी॥ २॥
मुझ श्रीगोविन्दसुत कल्याणराय द्वारा की गयी भावपूर्ण टीका हरि से प्रेम करने वालों के लिये अल्पभाषिणी सुंदरी की भाँति प्रसन्नकारी बने॥ ३॥
यदि मैंने कुछ अयोग्य कह दिया हो, तो उसे बालचेष्टा की तरह समझें और मेरे प्रभु विट्ठलाधीशचरण मुझे क्षमा करें॥ ४॥

यह श्रीविट्ठलेश्वरचरणों में एकनिष्ठ श्रीकल्याणराय द्वारा विरचित जलभेदटीका सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसमेतः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् भगवन्तं च तद्गुणान् ।
गुणस्वभावबोधार्था या वाचस्ता उपास्महे ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां त्यागिनां गृहस्थानां च भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणरूपं कीर्तनरूपं च साधनमुक्त्वा तदर्थमर्थबलात्कीर्तयितुः श्रोतुश्च प्राप्ते सङ्गे स किं यस्य कस्यापि कर्तव्य उत भगवदीयत्वेन परीक्षितस्येत्याकांक्षायां यद्येकादशस्कन्धे 'स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणां, गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः, आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसानु कौ, तमोनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वर' इति शुकवाक्ये भगवत्कीर्तेः संसारात्मकतमस्तारकत्वेन कथनात्तस्याश्च गुणजन्यत्वात्तेषामपि श्रूयमाणानां कीर्त्यमानानां स्मर्यमाणानां क्वचित् दृश्यमाणानां च संसारतारकत्वमेवोचितं, भगवता तदर्थमेवानवतारदशायां कीर्तिद्वारा प्रकटनात्,

श्रीवल्लभाचार्य, भगवान एवं उनके गुणों को नमन करके।
भगवद्गुणों के स्वभाव का बोध कराने वाली आचार्यचरणों की वाणी की हम उपासना करते हैं॥ १॥

अब श्रीमदाचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में त्यागी एवं गृहस्थों को भक्तिवर्धन करने के लिये श्रवण-कीर्तनरूप साधन कहे और इन साधनों को कहा होने से ही बात अपने आप समझ आ जाती है कि कीर्तन करने वाले और श्रवण करने वाले किसी व्यक्ति का सङ्ग करने की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु सङ्ग चाहे जिस किसी भी व्यक्ति का करना चाहिए या फिर किसी ऐसे का जिसकी भगवदीयता का परीक्षण हो चुका है ? यह आकांक्षा होती हो तो, एकादशस्कंध में कहे "हे परीक्षित् ! भगवान की वह मूर्ति त्रिलोकी के सौंदर्य-माधुरी से सबके नेत्र अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे। उनकी वाणी, उनके उपदेश परम मधुर, दिव्यातिदिव्य थे। उनके द्वारा उन्हें स्मरण करने वालों के चित्त उन्होंने छीन लिये थे। जिसने उनके एक चरणचिन्ह का भी दर्शन कर लिया, उसकी बहिर्मुखता दूर भाग गयी, वह कर्मप्रपञ्च से उठकर उन्हीं की सेवा में लग गया। उन्होंने अनायास ही अपनी कीर्ति का विस्तार कर दिया, जिसका बड़े-बड़े सुकवियों ने बड़ी ही सुन्दर भाषा में वर्णन किया है। वह इसलिये कि मेरे चले जाने के बाद लोग मेरी इस कीर्ति का गान, श्रवण और स्मरण करके अज्ञानरूप अंधकार से सुगमतया पार हो जायेंगे(श्री०भा० ११-१-६/७)" इस शुकदेवजी के वाक्य में कहा गया है कि, भगवत्कीर्ति संसारात्मक अंधकार को दूर कर देती है और भगवत्कीर्ति भी चूँकि भगवद्गुणों के माहात्म्य के कारण ही उत्पन्न हुई है अतः भगवद्गुण भी सुननेवाले के, कीर्तन करने वाले के, स्मरण करने वाले के और किसी भगवदीय में उनका दर्शन करने वाले के सांसारिक अंधकार को दूर करे, यह तो उचित ही है क्योंकि भगवान अनवतारदशा में अपने भक्तों को सांसारिक अंधकार से तारने के लिये अपनी कीर्ति(भगवान का गुणगान, यशोगान) के रूप में प्रकट रहते हैं।

'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा, वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदु'रिति षष्ठस्कन्धे शुकवाक्यादजामिलस्य पुत्रोपचारितनामकीर्तनमात्रेणैव संसारत उद्धाराच्च, यस्य कस्यापि सङ्गः कर्तव्य इत्यङ्गीक्रियते, तदा 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ति मम नामानि चार्जुन, अमुख्यास्ते जनाः पार्थ दूरतः परिवर्जये'दित्यादिपुराणवाक्येषु निन्दास्मरणस्य, सप्तमस्कन्धे समाप्तौ, 'अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हण' इत्यादिभिर्नारदेन स्वपूर्वजन्मवृतान्तकथने गायतो गतस्य मत्तत्वस्त्रीपरिवृतत्वपुरुलम्पटत्वैः स्वस्य विश्वसृग्दत्तशापकथनस्य च कथमविरोधः ।

किन्तु "किसी दूसरे अभिप्राय से, परिहास में, तान अलापने में या किसी की अवहेलना करने में भी यदि कोई भगवान के नामों का उच्चारण करता है, तो भी उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं(श्री०भा० ६-२-१)" इस षष्ठस्कंध में कहे शुकदेवजी के वाक्य के अनुसार भगवद्गुणगान करने का कोई विशेष अनिवार्य नियम नहीं बताया गया है। अजामिल ने भी अपने पुत्र का ही तो नाम पुकारा था परन्तु केवल इतने मात्र से उसे संसार से मुक्ति मिल गयी अतः इन उदाहरणों के अनुसार यदि हम भगवद्गुणगान का श्रवण-कीर्तन चाहे जैसे

या चाहे जिस किसी के सङ्ग कर लेते हैं, तो फिर उलझन यह पैदा होती है कि, "हे अर्जुन ! भिक्षा की आशा से जो मेरा नाम लेते हैं, उनका दूर से ही त्याग करो" इत्यादि पुराणवाक्यों में तो भिक्षा माँगने के लिये भगवन्नाम लेने वालों की निन्दा की गयी है ; और सप्तमस्कंध की समाप्ति में "नारदजी ने अपने पूर्वजन्म की कथा सुनाते हुए कहा- मैं पूर्वजन्म में उपबर्हण नाम का एक गन्धर्व था और सदा प्रमाद में रहता। एक बार देवताओं के यहाँ ज्ञानसत्र हुआ और मुझे भगवल्लीला का गान करने के लिये बुलाया गया। मैं स्त्रियों के संग लौकिकगीतों का गान करते हुए उन्मत्त होकर वहाँ जा पहुँचा और उन्होंने मुझे शाप दे दिया, जिससे मैं दूसरे जन्म में दासीपुत्र हुआ(श्री०भा० ७-१५-६९/७०/७१/७२)" इत्यादि वाक्यों के द्वारा अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाते हुए नारदजी ने उपरोक्त प्रकार से भगवन्नाम लेने पर उन्हें शूद्र का शाप मिलने वाली बात कही है। तो इस परिस्थिति में ऊपर कहे वाक्यों में और इन नारदवाक्यों की आपस में संगति कैसे बैठेगी ?

किञ्च, प्रथमस्कन्धे नारदेन स्वस्य शूद्रजन्मनि योगिसङ्गतदुक्तभगवत्कथाश्रवणाभ्यां स्वस्य भगवद्रत्यादिकथनं, एकादशस्कन्धे च भगवता कथाश्रवणाद्यर्थं सत्सङ्गस्यैव कथनं च कथं सङ्गच्छते, तथा गुणकर्मानुरूपभगवन्नामोच्चारयितॄणां भिक्षाशामात्रेण कथं निन्द्यत्वं, गुणगातुरुपबर्हणस्य च कथं विश्वसृग्भ्यः शापः ।
और, प्रथमस्कंध में जहाँ नारदजी ने अपने पूर्वजन्म वाली शूद्रयोनि की बात बतायी, वहीं उन्होंने यह भी कहा कि, योगियों के सङ्ग से एवं उनके द्वारा कही भगवत्कथा का श्रवण करने से फिर मुझे भगवान में रति उत्पन्न हुई। एकादशस्कंध में भी भगवान ने कथाश्रवण करने के लिये सत्सङ्ग का ही परामर्श किया है- तो फिर इन सभी वाक्यों की आपस में संगति कैसे लग पायेगी ? यह सन्देह बना रहता है कि, किसका सङ्ग करें और किसका सङ्ग न करें !!!

किञ्चैवं भावभेदेन नामाद्युच्चारयितॄणां गुणगातृप्रभृतीनां च स्वरूपभेदे फलभेदे चावगम्यमाने कथं द्विविधवाक्यानामविरोध इति सन्देह स्वीयानां जाते तद्वारणार्थं 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् स' इति न्यायेन भगवानाकाशादिभूतेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तत्कार्यं करोति, तथा भगवद्गुणा अपि भगवद्रूपत्वाद्भौतिकेषु तत्तद्भावरूपेष्वाधारेषु तत्तद्रूपेण स्थित्वा तत्तद्भावानुसार्येव कार्यं कुर्वन्तीति भगवद्गुणानामाधारवशेन फलतः स्वरूपतश्च नानाप्रकारतां वदिष्यन्तस्तदाधारनिरूपणं प्रतिजानते नमस्कृत्येति ।
वैसे एक प्रश्न यह भी उठता है कि, गुणकर्मों के अनुसार भगवन्नाम का उच्चारण करने वाले यदि भिक्षा माँगने के लिये ही सही परन्तु भगवन्नाम ही तो ले रहे हैं, फिर उनकी निन्दा क्यों करनी चाहिए ? ठीक वैसे ही नारदजी भी पूर्वजन्म में उपबर्हण के रूप में भले मत्त होकर एवं लम्पटों के संग ही सही परन्तु भगवद्गुणगान ही तो कर रहे थे, फिर विश्वसृष्टाओं ने उन्हें क्यों शाप दिया ?? यदि भगवद्गुणगान करने के भाव में भेद है, तो अजामिल की भाँति केवल भगवन्नाम का उच्चारण करने वालों के एवं भगवद्गुणगान करने वालों के स्वरूप और उन्हें मिलने वाले फल में भी भेद हो जायेगा इसलिये ऊपर कहे अजामिल वाले प्रसङ्ग एवं नारदजी वाले प्रसङ्ग का परस्पर विरोध कैसे दूर हो ??? - - स्वकीयजनों को इस प्रकार का सन्देह होने पर उनका सन्देह दूर करने के लिये आचार्यचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि, जैसे "पञ्चमहाभूतों में परमात्मा ही प्रविष्ट होकर एक से दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति करता है(ब्र०सू० २-३-१३)" इस वाक्य के पूर्व में यह चर्चा की गयी कि यदि आकाश वायु को, वायु अग्नि को, अग्नि जल को उत्पन्न करती है तो जगत् का कर्ता किसे मानना चाहिये, इन पंचमहाभूतों को या कि फिर भगवान को ? वहाँ आगे इस वाक्य द्वारा यह समाधान दिया गया कि भगवान ही उन-उन महाभूतों में प्रविष्ट होकर वे सभी कार्य करते हैं अतः मूलतः भगवान ही जगत् के कर्ता हैं। ठीक उसी प्रकार समझिए कि भगवद्गुण भी चूँकि भगवद्रूप हैं अतः वे भगवद्गुण भगवद्रूप से समस्त भावरूपी भौतिक आधारों में प्रकट होकर, जिसका जैसा भाव है, उसके अनुसार ही कार्य करने लगते हैं, जैसे कि भगवान पंचमहाभूतों में प्रविष्ट होकर उन-उन के कार्यों को करते हैं। इसलिये ये समझिए कि भगवद्गुण जिस-जिस प्रकार के आधार में प्रवेश करते हैं, उन-उन आधारों के अनुसार भगवद्गुण भी फलतः एवं स्वरूपतः अनेक प्रकार के होते चले जाते हैं, और उन आधारों का निरूपण आचार्यचरण नमस्कृत्य इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं, जिससे हमें ज्ञात होगा कि भगवद्गुणानुवाद के लिये किसका सङ्ग करें और किसका न करें।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥१॥

हरिं 'हराम्यघं यत्स्मर्तॄणा'मिति[1] भारतवाक्यात्स्मरतामघहर्तारं भगवन्तं नमस्कृत्य, तद्गुणानां तच्छब्दस्य सन्निहितपरामर्षित्वात्तस्य हरेः गुणानामुत्कर्षाधायकानाम् धर्माणां विभेदकान् विशब्दो नानार्थः नानाभेदजनकान् विंशतिप्रकारेण भिन्नान्, सर्वसन्देहवारकान् गुणस्वरूपफलविषयकाः सर्वे पूर्वोक्तप्रकारका अन्ये च ये तादृशाः सन्देहास्तेषां निवर्तकान् भावान् जीवानां मनोविकारान् वक्ष्ये

१. हराम्यघं यत्स्मर्तॄणां हविर्भागं क्रतुष्वहं । वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तस्मादहं हरिः स्मृतः ।

कथयिष्यामि ।
हरिं इत्यादि शब्दों का अर्थ है- "जो मेरा स्मरण करते हैं, मैं उनके पापों को हर लेता हूँ. यज्ञ के हविर्भाग को भी मैं ही हरता हूँ, और मेरा हरितवर्ण है अतः मैं "हरि" कहलाता हूँ" इस महाभारत के वाक्यानुसार स्मरण करने वालों के पापों को हरने वाले भगवान-हरि को नमस्कार करके आचार्यचरण ग्रन्थ का आरंभ कर रहे हैं। तद्गुणानां का अर्थ है- तत्+गुणानाम्। तत् शब्द हमेशा अपने निकटतम शब्द को ही बताने वाला होता है और यहाँ उसका निकटतम शब्द "हरि" है ; अतः तद्गुणानां(तत्+गुणानाम्) शब्द का अर्थ हुआ- हरि के गुण। तात्पर्य यह कि आपश्री हरि के गुणों का उत्कर्ष बताने वाले धर्मों को कह रहे हैं। विभेदकान् शब्द में "वि" अनेक अर्थ का द्योतक है ; अर्थात् उन भगवद्गुणों में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न करने वाले बीस प्रकार के भिन्नान् भिन्न-भिन्न भावों को आपश्री कहेंगे। ये बीस प्रकार के भाव कैसे हैं ? तो आपश्री आज्ञा करते हैं- सर्वसन्देहवारकान् अर्थात् भगवान के गुण-स्वरूप-फल के विषय में होने वाले पूर्व में कहे समस्त प्रकार के सन्देह एवं अन्य जितने भी सन्देह हैं, उन समस्त सन्देहों का निवारण करने वाले जीवों के भावों को आपश्री कहेंगे अर्थात् उनके मनोविकारों को कहेंगे।

अत्र सर्वसन्देहवारकानितिविशेषणेन सन्देहनिवृत्तिरूपफलसूचनात्तदर्थं गुणाधारभूतान् भावान् वक्ष्यामीत्यर्थः । न चात्र गुणेषु तदभिध्यानन्यायाङ्गीकारे किं मानमिति शंक्यम्, उपसंहारवाक्ये, 'इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवी'त्यत्र जीवेन्द्रियगतानां नानाभावप्राप्तिकथनेन तदभिध्यानसूत्रोक्तन्यायस्यैव सूचितत्वादिति ॥१॥

इस श्लोक में आपश्री ने इस ग्रन्थ में बताये जाने वाले भावों को सर्वसन्देहवारक कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ से जीवों के समस्त सन्देहों की निवृत्ति होगी अतः सन्देहनिवृत्ति के लिये भगवद्गुण जिस प्रकार के आधारभूत भावों में प्रविष्ट होते हैं, आपश्री उन भावों के विषय में बतायेंगे- यह अर्थ है। किसी को ये शङ्का नहीं करनी चाहिए कि, "तदभिध्यान" वाले ब्रह्मसूत्र वाली ही बात यहाँ भगवद्गुणों के विषय में भी समझ लेने में क्या प्रमाण है ?? नहीं, ऐसी शङ्का न करें। क्योंकि स्वयं आचार्यचरण ही इस ग्रन्थ के उपसंहार में "इस प्रकार जीव की इन्द्रियों में प्रविष्ट होने वाले अनेक प्रकार के विष्णुगुणों का निरूपण किया गया(२१)" इस वाक्य द्वारा कहे दे रहे हैं कि, जीव की इन्द्रियों में भगवद्गुण प्रविष्ट होकर अनेक भावों का आकार ले लेते हैं और इस वाक्य द्वारा आपश्री ने उसी "तदभिध्यानादेव(ब्र०सू० २-३-१३)" वाले ब्रह्मसूत्र की ही प्रक्रिया सूचित की है। तात्पर्य यह कि जैसा "तदभिध्यानादेव(ब्र०सू० २-३-१३)" वाले ब्रह्मसूत्र में बताया गया कि पंचमहाभूतों में स्वयं भगवान ही प्रविष्ट होकर पंचमहाभूतों का रूप धारण कर लेते हैं ; ठीक उसी प्रकार भगवद्गुण भी अनेक भावों वाले वक्ताओं में प्रविष्ट होकर उन-उन भावों का रूप धारण कर लेते हैं॥ १ ॥

नन्वाधाराणां जीवेन्द्रियधर्मत्वेनानन्त्यात्कथं विंशतिधाभिन्नत्वमेव प्रतिज्ञायत इत्याकांक्षायां बोधसौकर्यार्थं श्रौतवासनया दृष्टान्तेन तथा भिन्नत्वं बोधयन्त्यर्धेन गुणभेदा इत्यादि ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ॥१$^{१}/_{२}$॥

तुः शङ्कानिरासे, उक्तसंख्याविषयिणी शङ्का न कार्या, हि यतो हेतोः गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः यत्संख्याकाः जले मताः श्रुतिसंमताः । तथा चाधारानन्त्येपि यथा जलस्य विंशतिभेदास्तथा गुणानामपि । जलं हि शैत्यगुणकं स्वच्छं अव्यक्तमधुररसं सर्वशोधकं स्वसम्बन्धेन द्रव्यान्तरस्य भूयस्त्वापादकमाप्यायकं च स्वभावतः सदपि यादृगाधारे पतति तादृक्स्वभावं लोके भवति, गुणदोषौ च जनयति, तथा गुणा अपि स्वभावत एकविधा आनन्दरूपाः ब्रह्मणः सकाशात्प्रकाशाश्रयन्यायेन भिन्नाभिन्ना अप्यनेकस्वभाववत्तामनेकगुणदोषवत्तां चापद्यन्त इति तद्दृष्टान्तेन तथोच्यते । श्रौतदृष्टान्तस्यैवं बोधार्थमङ्गीकारादित्यर्थः ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवद्भाव के टिकने का आधार यदि जीव और उसकी इन्द्रियाँ हैं, तो प्रश्न ये उठता है कि जीव तो असंख्य हैं फिर आपश्री केवल बीस प्रकार के ही भेद क्यों कर रहे हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर अपने निजजनों को सुगमता से बोध कराने के लिये आपश्री श्रुति के दृष्टान्तों से भावों की भिन्नता **गुणभेदाः** इस आधे श्लोक द्वारा बोध करा रहे हैं।
इस श्लोक में कहा तु शब्द ऊपर कही शंका का निराकरण करने के लिये है ; अर्थात् आपश्री आज्ञा करते हैं कि, इस बीस प्रकार की संख्या के विषय में शङ्का न करें। क्यों न करें ? तो आपश्री आज्ञा करते हैं- **गुणभेदास्तावन्तः यावन्तः हि जले मताः** अर्थात् मैंने भगवद्गुणों के उतने ही भेद किये हैं, जितने जल के भेद श्रुति में किये गये हैं। अतः भले ही आधार असंख्य हों, तथापि जैसे श्रुति में जल के बीस भेद हैं, उसी प्रकार भगवद्गुणों के भी बीस भेद हैं। जल में शीतलता का गुण होता है, वह स्वच्छ होता है, उसमें कही न जा सके ऐसी एक प्रकार की मधुरता होती है, सभी की शुद्धि करने वाला, और जहाँ जिसमें मिला दिया जाय उसकी मात्रा बढ़ा देता

है, तृप्तिदायक होता है और स्वभावतः शुद्ध होने पर भी जिस प्रकार के आधार में गिरता है, उस आधार का स्वभाव प्राप्त कर लेता है और उसी आधार के गुण-दोष जल में भी उत्पन्न हो जाते हैं ; ठीक इसी प्रकार भगवद्गुण भी स्वभावतः तो एक ही जैसे अर्थात् आनन्दरूप ही होते हैं और जिस तरह सूर्य एवं उसका प्रकाश एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं हैं, उसी तरह भगवद्गुणों का ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी, जैसा कि ब्रह्मसूत्र में भी "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्(ब्र०सू० ३-२-२८)" इस सूत्र द्वारा बताया गया है।
भगवद्गुण भगवद्रूप होते हुए भी जिस जीवरूपी आधार में जाते हैं, उस आधार के अनुसार अनेक प्रकार के स्वभाव एवं गुण-दोषों को प्रकट कर देते हैं अतः आचार्यचरणों ने इन्हें जल के दृष्टान्त द्वारा बताया क्योंकि जल भी ठीक इसी प्रकार से जैसा आधार हो, वैसे बदलता जाता है।

तत्र तैत्तिरीयसंहितायां सप्तमकाण्डे 'कूप्याभ्यः स्वाहा, कूल्याभ्यः स्वाहा, विकर्य्याभ्यः स्वाहा, अवद्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, ह्रद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्यः स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, पृष्वाभ्यः स्वाहा,स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्थावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहेति मन्त्रेषु विंशतिविधा आप अपां होमे उक्ताः ॥१½॥

श्रुति की तैत्तिरीयसंहिता के सप्तमकाण्ड में "कूप्याभ्यः स्वाहाः, कूल्याभ्यः स्वाहाः, विकर्य्याभ्यः स्वाहा, अवद्याभ्यः स्वाहा, खन्याभ्यः स्वाहा, ह्रद्याभ्यः स्वाहा, सूद्याभ्यः स्वाहा, सरस्याभ्यः स्वाहा, वैशन्तीभ्य स्वाहा, पल्वल्याभ्यः स्वाहा, वर्ष्याभ्यः स्वाहा, अवर्ष्याभ्यः स्वाहा, ह्रादुनीभ्यः स्वाहा, पृष्वाभ्यः स्वाहा, स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा, स्थावराभ्यः स्वाहा, नादेयीभ्यः स्वाहा, सैन्धवीभ्यः स्वाहा, समुद्रियाभ्यः स्वाहा, सर्वाभ्यः स्वाहा, इत्यादि मन्त्रों से जल के होम में बीस प्रकार के जल की आहुतियों का वर्णन है॥ १ १/२॥

तत्र प्रथमं कूप्या उक्ता इतीहापि कूपसमानं गुणाधारं प्रथममेकेनाहुः गायका इत्यादि ।

गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥२॥
कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।

गायका गानकर्तारः कूपसङ्काशाः कूपोपमाः, कूपाश्च केचिदुत्तमाः यथा स्कान्दे पुरुषोत्तममाहात्म्ये, 'न्यग्रोधादुत्तरे कूपः सर्वतीर्थमयोस्ति वै,' यथा च द्वारकायामवन्त्यां च दामोदरकूपः, केचिच्च कदाचिदुत्तमाः, यथा व्रजे गोपकूपः , 'सोमवत्यामम्मायामेव सर्वतीर्थमयो नान्यदा', एवं साधारणा अप्रयोजकाश्च ज्ञातव्याः, तथा गायका अपि, तेपि न साधारणाः, किन्तु गन्धर्वा इति पुराणे वेदे च श्रुताः विशेषेण प्रसिद्धाः । तु पुनः यावन्तः कूपभेदास्तावन्तस्ते गन्धर्वा अपि संमताः सम्यग्विचारिताः । तथा च कूपे भवाः कूप्यास्ता यथा कूपरूपाधारभेदेन रूपतः फलतश्च नानाविधा भवन्ति, एवं गन्धर्वैर्गीयमाना गुणा अपि गन्धर्वस्य भगवद्भक्तत्वे तदभक्तत्वे साधारणत्वे लम्पटत्वादिदोषविशिष्टत्वे च तद्भावसमानाकारा भवन्तस्तदनुरूपमेव फलं जनयन्ति ।

श्रुति ने सबसे पहले "कूप्याभ्यः स्वाहा" कहा है अतः यहाँ भी आचार्यचरण कुए के समान आधार वाले प्रथम आधार को गायकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।
गायकाः का अर्थ है- गाने वाले। कूपसङ्काशाः का अर्थ है- कुए के समान। अर्थात् भगवद्गुणानुवाद गाने वाले गायक कुए के समान होते हैं। कुछ कुए उत्तम होते हैं, जैसा कि स्कन्दपुराण के पुरुषोत्तममाहात्म्य में "न्यग्रोधादुत्तरे कूपः" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। जैसे कि द्वारका एवं अवन्तिका में दामोदर नामक कुआ है। कुछ कुए किसी एक समय पर ही उत्तम होते हैं, जैसे कि व्रज में गोप नामक कुआ। गोपकुए के लिये कहा गया है- यह सोमवती अमावस में ही सर्वतीर्थरूप होता है, अन्यथा नहीं। कुछ कुए साधारण होते हैं और कुछ व्यर्थ के। भगवद्गुणगान गाने वाले गायक भी ठीक इसी प्रकार के होते हैं। वो भी साधारण गायक नहीं अपितु गन्धर्व जिनका वर्णन वेदपुराणों में सुना गया है। "तु" शब्द का अर्थ है- जितने भेद कुओं के हैं, उतने ही भेद गन्धर्वों के भी माने गये हैं। "कूप्याः" का अर्थ है- कुए में उत्पन्न होने वाला, अर्थात् "जल"। तात्पर्य यह कि कुए में उत्पन्न होने वाले जल को "कूप्य" कहा जाता है। यों समझें कि जिस प्रकार जल कुएरूपी आधार के अनुसार रूपतः एवं फलतः अनेक प्रकार का होता चला जाता है ; ठीक उसी प्रकार गन्धर्वों द्वारा गाये जाने वाले भगवद्गुण भी गन्धर्व के भगवद्भक्त होने के आधार पर, भक्त न होने के आधार पर, साधारण होने के आधार पर, लम्पट होने के आधार पर इत्यादि विशिष्ट लक्षणों द्वारा इन गन्धर्वों के भावानुसार वैसे ही होते जाते हैं और श्रोताओं को उसी के अनुसार फल देते हैं।

एतेनोपबर्हणस्य शापोऽन्येषां गन्धर्वाणां शापाभावः 'भिक्षाशया ये गृह्णन्ती'तिवाक्यं च समर्थितं ज्ञेयम् । तेन 'गुणगाने सुखावाप्ति'रित्यादिना निरोश्वलक्षणग्रन्थे गुणगातॄणां स्वरूपफलोत्कर्षौ यावुक्तौ तावपि 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दिति

श्लोकोक्तरीतिकेष्वेव पर्यवस्यत इति बोधितम् । इदं 'पूर्णा भगवदीया य' इत्यत्र स्फुटिष्यति ॥२½॥
इस उदाहरण के द्वारा समझ लीजिए कि उपबर्हण को ही शाप क्यों लगा, अन्य गन्धर्वों को क्यों नहीं लगा, और "हे अर्जुन ! भिक्षा की आशा से जो मेरा नाम लेते हैं, उनका दूर से ही त्याग करो" इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य क्या है । इस विश्लेषण से यह भी समझ लेना चाहिए कि "गोविन्द के गुणगान में जिस प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है, वैसी तो शुकदेवजी जैसों को आत्मचिंतन में भी नहीं होती(नि०ल०-६)" इस श्लोक द्वारा निरोधलक्षणग्रन्थ में जिन भगवद्गुणगान गाने वालों के स्वरूप एवं फल का उत्कर्ष कहा गया है, वे भी "श्रीकृष्णचन्द्र के गुणानुवाद से पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्य के अतिरिक्त और ऐसा कौन है जो उनसे विमुख हो सकता है ?(श्री०भा० १०-१-४)" इस श्लोक में कहे भगवद्गुणगान करने वालों की ही कोटि में आते हैं । इस बात को हम आगे आने वाले "पूर्णा भगवदीयाः" इस श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कर देंगे ॥ २ १/२ ॥

कूल्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य द्वितीयं भावमाहुः कुल्या इत्यादि ।

कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥३॥

श्रुतौ कूल्या इति दीर्घः छान्दसो वर्णविकृतिरूपः । पौराणिकाः कुल्याः प्रोक्ताः 'कुल्या स्यात् कृत्रिमा सरि'दिति कोशात् महतो जलाशयात् अन्यत्र जलानयनार्थं या कृत्रिमा नदी क्रियते सा कुल्या । पौराणिकाः पुराणवाचयितारस्ताः प्रोक्ताः । अत्रोपमावाचकपदाभावाद्रूपकं ज्ञेयम् । 'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति काव्यादर्शे लक्षणात्तत्रापीदमाधिक्यन्यूनत्वयोरनुक्तत्वादनुभयोक्तिरूपकं ज्ञेयम् । केषाञ्चिदलङ्काराणां किञ्चित्प्रयोजनार्थं शास्त्रेङ्गीकारस्यानुमानिकसूत्रे तद्विषयश्रुतौ च दर्शनादिति । एवमग्रेपि बोध्यम् ।

अब इसके पश्चात् "कूल्याभ्यः स्वाहा" इस दूसरी श्रुति के अनुसार आचार्यचरण दूसरे प्रकार का भाव "कुल्याः" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वैसे श्रुति में तो छन्दप्रयोग के कारण "कूल्या" यों दीर्घप्रयोग है । पौराणिक(पुराणकथा कहने वाले) कुल्या कहे गये हैं। "कुल्या कृत्रिम नदी को कहते हैं(अमरकोश १-१०-३४)" इस कोश-अर्थ के अनुसार किसी बड़े जलाशय से कहीं दूसरी ओर जल ले जाने के लिये जो कृत्रिम नहर बनायी जाती है, उस नहर को "कुल्या" कहा जाता है। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- पुराणकथा कहने वाले उस नहर के जल समान हैं। कुल्याः पौराणिकाः पद में आचार्यचरण उपमा देकर यों नहीं कह रहे हैं कि "पौराणिक कुल्या के समान होते हैं" परन्तु यों कह रहे हैं कि "पौराणिक कुल्या ही होते हैं" अतः यहाँ रूपक अलंकार समझना चाहिए। क्योंकि काव्यादर्श नामक ग्रन्थ में "उपमा अलंकार में जब उपमान(जिसकी उपमा दी गयी) एवं उपमेय(जिसके लिये उपमा दी गयी) में कोई भेद नहीं रहता तो वही रूपक अलंकार बन जाता है(आचार्य दण्डिनकृत काव्यादर्श २-६६)" यों कहा है। रूपक अलंकार कई प्रकार के होते हैं। एक प्रकार में उपमान की उपमेय से न्यूनता दिखाई जाती है, दूसरे प्रकार में विशेषता दिखाई जाती है और किसी एक प्रकार में समानता दिखाई जाती है। आचार्यचरणों ने यहाँ पौराणिकों को सीधे-सीधे कुल्या ही कह दिया है, न न्यूनता दिखाई और न विशेषता अतः यहाँ अनुभयोक्तिरूपक अलंकार समझना चाहिए। किन्तु एक शंका यह होती है कि, यहाँ तो शास्त्र की बात चल रही है, फिर आचार्यचरणों ने अलंकार का प्रयोग क्यों किया ? अलंकार का प्रयोग तो काव्यों में होता है !!! तो समझिए कि कुछ अलंकारों का प्रयोग कुछ प्रयोजनों से शास्त्रों में भी होता है, उदाहरण के रूप में देखें तो ब्रह्मसूत्र के आनुमानिकसूत्र(ब्र०सू० १-४-१)" में एवं उससे सम्बन्धित श्रुतियों में अलंकारों का प्रयोग होता देखा गया है। यही उदाहरण आगे आने वाले समस्त अलंकारों के लिये समाधान के रूप में जान लेना चाहिए।

पौराणिकानां कुल्यातौल्ये हेतुगर्भं विशेषणमाहुः पारंपर्ययुता भुवीति । तथा च भूमिष्ठत्वात्परंपरया मूलसम्बन्धाच्च ते कुल्यातुल्या इत्यर्थः । तेन यादृश्य आपः कुल्यायां भवन्ति तादृशस्तेषां भावः । ता यथा नद्यादिरहिते देशे कृत्रिमोपायेन नीताः प्रवहन्त्यः पानस्नानाचमनादिरूपपरोपकाराय भवन्ति, तथा तेषां भावोपि । पाद्मे माघमाहात्म्ये वैश्यं प्रति देवदूतवाक्यजाते ङ्गविचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये पुराणसंहितां ये च श्रावयन्ति पठन्ति च । व्याकुर्वन्ति स्मृतिं ये च ये धर्मप्रतिबोधकाः । वेदान्तेषु निविष्टा ये तैरियंजगती धृता । तेषामभ्यासमाहात्म्यैः सर्वे ते हतकिल्विषाः । गच्छन्ति ब्रह्मणो लोकं यत्र मोहो न विद्यते । ज्ञानमज्ञाय यो दद्याद्वेदशास्त्रसमुद्भवं । अपि देवास्तमर्चन्ति भवबन्धविदारकङ्गमिति पौराणिकानामुत्कृष्टत्वकथनात् । अत्र भुवीतिकथनात् पूर्वश्लोकोक्ताः स्वर्गस्था इति बोधितम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यापातादिति ॥३॥

अब पौराणिकों को कुल्या जैसा बताने के लिये आपश्री उन्हें पारंपर्ययुता भुवि इत्यादि शब्दों से उन्हें कुल्या कहने का हेतु बताने वाला एक दूसरा विशेषण दे रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि, जिस प्रकार कुल्या भूमि पर होते हैं एवं परंपरा से किसी बड़े जलाशय से जुड़े होते

हैं ; ठीक इसी प्रकार पौराणिक भी भूमि पर होते हैं एवं परंपरा से पुराण की किसी न किसी मूलपरंपरा से जुड़े होते हैं। इससे आपश्री को यह कहना है कि, जिस प्रकार का जल कुल्या में होता है, उसी प्रकार का भाव इन पौराणिकवक्ताओं का होता है। जिस प्रकार कुल्या का जल नदी आदि से रहित देश में कृत्रिम उपायों द्वारा लाया जाता है एवं उसका बहता जल पान-आचमन इत्यादि के द्वारा लोगों का परोपकार करता है; उसी प्रकार इन पौराणिकों का भाव भी अपनी मूलपरंपरा से लाया गया होता है एवं उसके द्वारा श्रोताओं का परोपकार होता है। जैसा कि पद्मपुराण में वैश्य के प्रति कहे गये देवदूत के "जो शास्त्रविचार करते हैं एवं वेदाभ्यास में रत हैं। और जो पुराणसंहिता सुनाते एवं उनका पाठ करते हैं और जो स्मृति का व्याख्यान करते हैं एवं धर्मज्ञ हैं। जो वेदान्त में निष्ठ हैं, वास्तव में तो ऐसे ही लोगों ने धरती को धारण कर रखा है। उनके ऐसे अभ्यास के माहात्म्य के कारण अन्य सभी पापों से मुक्त हो गये हैं और उनकी ब्रह्मलोक में गति हो जाती है, जहाँ मोह नहीं है। अज्ञानी को वेदशास्त्रों से प्राप्त किये संसारबन्धन से छूटने का ज्ञान देकर वे देवताओं का ही अर्चन कर रहे हैं (पद्मपुराण ३/३१/९४-९६)" इस वाक्य में पौराणिकवक्ताओं की उत्कृष्टता कही गयी है। पौराणिकवक्ताओं को आचार्यचरण विशेषरूप से कह कर भूमि पर बता रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि, पूर्व के दूसरे श्लोक में कहे गये गन्धर्व तो स्वर्ग में होते हैं। यदि ऐसा अर्थ न होता तो फिर आचार्यचरणों को इन्हें विशेषरूप से भूमि पर कहना व्यर्थ हो जाता॥ ३॥

अतः परं 'विकर्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तृतीयं भावमाहुः क्षेत्रेत्यादि ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

च पुनः ते पौराणिका अपिशब्दाद्गन्धर्वाः क्षेत्रप्रविष्टाः, क्षेत्रशब्देन यथा केदार उच्यते, तथा 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति कोशात् 'बलेः क्षेत्रे महीभुज' इति 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयत' इत्यादिवाक्याच्च शरीरपत्न्यावप्युच्येते । एवं सति कृत्रिमजलमार्गे कृते तद्द्वारा केदारप्रविष्टाः कुल्याया आपो यथा उप्तस्य बीजस्य वृक्षस्य वा यः संसारः अभिवृद्धिः तदुत्पत्तिहेतवो भवन्ति, तथा पौराणिका गन्धर्वाश्च स्वदेहे पत्न्यां वाभिनिविष्टाः संसारस्याहन्ताममतात्मकस्योत्पत्तिहेतवो भवन्ति । अतस्तेषां भावो विकर्यातुल्यः ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण "विकर्य्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार तीसरे प्रकार के वक्ता का भाव क्षेत्र इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इस श्लोक में "च" शब्द का अर्थ है- पूर्व में कहे पौराणिकवक्ता। एवं "अपि" शब्द का अर्थ है- पूर्व में कहे गन्धर्व भी। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, पूर्व में कहे पौराणिकवक्ता एवं गन्धर्व भी यदि क्षेत्रप्रविष्ट हो जाएँ, तो श्रोताओं के सांसारिकभाव ही बढ़ाने वाले बनते हैं। जैसे क्षेत्र का अर्थ "खेत" होता है, वैसे ही "क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः(अमरकोश ३-३-१८०)" इस कोश-अर्थ एवं "राजा बलि के क्षेत्र(पत्नी) के गर्भ से छह पुत्र उत्पन्न हुए(श्री०भा० ९-२३-५)" , "हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र कहलाता है(भ०गी० १३-२)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार "क्षेत्र" शब्द का अर्थ "शरीर" और "पत्नी" भी कहा गया है। जब उक्त दोनों शब्दों का अर्थ लेंगे, तो भावार्थ यह होगा कि- जिस प्रकार कृत्रिमजलमार्ग से खेत में लाया गया कुल्या(नहर) का जल बोए हुए बीज अथवा वृक्ष को ही बढ़ाता है, उनकी उत्पत्ति का कारण बनता है ; ठीक उसी प्रकार पौराणिकवक्ता एवं गन्धर्व भी यदि अपनी देह का पोषण करने के लिये अथवा अपनी पत्नी में अभिनिविष्ट होकर भगवद्गुणगान करते हों, तो श्रोताओं के अहंताममतात्मकरूपी संसार को ही बढ़ाने में कारण बनते हैं, भगवद्भाव को बढ़ाने में नहीं। इसलिये ऐसे वक्ताओं का भाव "विकर्य्या" के समान होता है।

कृ विक्षेपे, सृदोरप्, विशेषेण विविधं वा कीर्यते विक्षिप्यते असौ विकरः, केदारे कुल्याजलानयनार्थं कृतो मार्गस्तत्र भवाः विकर्य्याः, ता यथा क्षेत्रिभिः स्वान्नसिद्ध्यर्थं यतस्ततो नीयन्ते तथा तद्भावा अपीति । तादृशा गन्धर्वपौराणिकाः विकरतुल्या इत्यर्थः । एवं च द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां कामनाकरणमुपक्रम्य 'वसुकामो वसून् देवा'नित्यस्य द्वितीयव्याख्याने यदुक्तम् । 'एवं धनस्यापि, भगवद्भक्तेष्वानत्यर्थं श्रवणादिसिद्ध्यर्थं उपदेशनार्थं वा देयमपेक्ष्यते, साधनरूपश्रवणादिकं तादृशैरेव भवती'ति ।

विकर्य्या का अर्थ समझें ; इसमें कृ धातु का अर्थ है- विक्षेप। ऋदोरप् सूत्र द्वारा ऋदन्त धातु को अप् प्रत्यय होता है। कुल मिला कर अर्थ हुआ- जिसे विशेषरूप से खींच कर फैलाया जाय, उसे विकर कहते हैं। कुल्या(नहर) के जल को खेत की ओर खींच ले जाने के लिये जो मार्ग बनाया जाता है, उस मार्ग से बहने वाले जल को "विकर" कहते हैं, जिस जल को किसान अपने कार्यानुसार चाहे जहाँ ले जाते हैं ; ठीक उसी प्रकार पौराणिकवक्ता या गन्धर्व भी यदि अपनी देह या पत्नी में अभिनिविष्ट होकर भगवद्गुणगान करें, तो वे पुराण के अर्थ को भी अपनी कौकिककामना की पूर्ति करने की ओर मोड़ देते हैं। इसलिये ऐसे गन्धर्व और पौराणिकवक्ता ऊपर कहे विकर के समान होते हैं। यही बात द्वितीयस्कंध की सुबोधिनी में आचार्यचरणों ने कामना प्रकरण का आरंभ करके "वसुकामो वसून्(श्री०भा० २-३-३)" इस श्लोक के द्वितीय व्याख्यान में "इसी प्रकार धन भी भगवद्भक्तों की सेवा करने के लिये, श्रवण आदि ठीक

ढंग से निभ पाएँ इसलिये और उपदेश ग्रहण करने के लिये देना होता है क्योंकि साधनरूप श्रवण आदि उन भगवदीयों के माध्यम से ही सिद्ध होता है" इस वाक्य द्वारा कही है।

तत्रापि धनदातुः सत्फलं प्रतिगृहीतुस्तु संसारोत्पत्तिः । 'भिक्षाशये'ति वाक्यात् । यदि तु तत्त्वविचारार्थमुदरभरणोपयोग्यन्नमात्रं गृह्णाति, तदा तु तीर्थपर्यटित्ववन्न दोष इति बोध्यम् । एतदपि तदा यदा पौराणिकानां पारंपर्ययुतत्वं भवति । तदभावे तु वक्तृश्रौत्रोरुभयोरपि संसार एव । स्वबुद्ध्यान्यथाव्याख्यानान्यथाबोधयोः संभवाच्चेति ज्ञेयम् । ननु ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे 'कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमङ्गलम् । कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीडिते'ति ब्रह्माणं प्रति पृथिवीवाक्यात्, 'मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं । मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते' इति श्रीनन्दं प्रति भगवद्वाक्याच्च, नामविक्रयस्य दोषत्वे शिष्येभ्यो भगवन्नामोपदेशस्यापि दोषत्वापत्तिः । तत्र शिष्योपढौकितग्रहणेन नामविक्रयसंभवादिति चेत् । सत्यम् । तथापि गुरुत्वस्य साहजिकब्राह्मणवृत्तित्वेनात्याज्यत्वात्, 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् । सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' इति भगवद्वाक्यात् ।

इतना होने पर भी जो भक्तिवृद्धि के लिये धन दे रहा है, उसे तो सत्फल मिलेगा और जो धन ले रहा है, उसे लौकिकसंसार मिलेगा, जैसा कि "हे अर्जुन ! भिक्षा की आशा से जो मेरा नाम लेते हैं, उनका दूर से ही त्याग करो" इस वाक्य में कहा भी गया है। हाँ, यदि वो तत्त्वविचार देने के लिये केवल पेट भरने लायक अन्न की ही भिक्षा ग्रहण करे, तब तो उसे दोष नहीं लगेगा, जैसा कि तीर्थयात्रा करने वाला केवल पेट भरने लायक अन्न ग्रहण करके तीर्थयात्रा करे तो उसमें दोष नहीं है। ऐसे संस्कार भी तभी संभव हो पाते हैं, जब पौराणिकवक्ता अपनी पुराण-अध्ययन की मूलपरंपरा से जुड़े हों ; यदि नहीं तो ऐसे गुणगान से वक्ता-श्रोता दोनों को लौकिकसंसार ही मिलना है। क्योंकि यदि वक्ता ने पुराणों का परंपरागत अध्ययन नहीं किया है, तो फिर वह अपनी बुद्धि के अनुसार मनचाहे ढंग से पुराणों का व्याख्यान करेगा और यदि श्रोता ने भी परंपरागत पुराण नहीं सुने हैं, तो उसे भी उल्टा-सीधा अर्थबोध होगा। किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्णजन्मखंड के अंतर्गत ब्रह्माजी के प्रति "जो भगवान के मङ्गलमय नामों का विक्रय करते हैं, उनके भार से मैं पीड़ित रहती हूँ(ब्र०वै०पु० ४-२५)" इस पृथिवी के वाक्यानुसार और नन्दजी के प्रति कहे "मेरे नाम का विक्रय करने वाला ब्राह्मण कभी मुक्त नहीं हो सकता। मृत्यु के समय भी ऐसों को मेरा नाम कभी याद नहीं आ सकता" इस भगवद्वाक्यानुसार भी यदि भगवान के नाम का विक्रय करना दोष है, तो फिर यह दोष तो अपने शिष्य को भगवन्नाम का उपदेश करने वाले गुरु पर भी लागू होगा !! क्योंकि तब तो नामोपदेश के अनन्तर अपने शिष्य से कुछ भी भेट स्वीकार करनी भगवन्नाम का विक्रय करना हो जायेगा !!! बात कहीं तक ठीक है, परन्तु गुरु के रूप में उपदेश करना ब्राह्मण की सहजवृत्ति है और जो सहजवृत्ति होती है, उसका "दोषयुक्त होने पर भी स्वाभाविक कर्म को नहीं त्यागना चाहिए(भ०गी० १८-४८)" इस भगवद्वाक्यानुसार त्याग नहीं करना चाहिए।

श्रुतावपि षडाचार्यब्राह्मणारम्भे जनकसमीपे याज्ञवल्क्य आगते जनकेन, 'याज्ञवल्क्य ! किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्न' 'एवं ता'निति गोर्थं सूक्ष्मवस्तुनिर्णायकप्रश्नान्मत्तः कारयितुं वागतोसी'ति पृष्टे याज्ञवल्क्येन 'उभयमेव सम्रा'डित्युक्त्वा, राजप्रश्ने अब्रवी'न्म उदङ्कः शौल्वायन' इत्यादिना प्राणब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन हस्त्यृषभसहस्रं ददामीत्युक्ते याज्ञवल्क्येन 'पिता मेमन्यत नाननुशिष्य हरेते'त्युक्त्वा पूर्णा ब्रह्मविद्योपदिष्टा, ततो जनकेन विदेहाः स्वात्मा च याज्ञवल्क्याय समर्पितः, तदा याज्ञवल्क्यस्तदङ्गीकृतवानिति श्रावितत्वेन ब्रह्मविद्योपदेशोत्तरं शिष्योपढौकितग्रहणस्य प्राप्ततया तन्न्यायस्यात्रापि वक्तुं शक्यत्वाच्च ।

श्रुति में भी षडाचार्यब्राह्मण वाले प्रकरण में जब याज्ञवल्क्य राजा जनक के पास गये तो जनक ने उनसे पूछा कि "आप यहाँ गायों का दान लेने आये हैं या मुझसे सूक्ष्मवस्तु-परमात्मा के निर्णायक प्रश्न करवाने आए हैं ?(बृहदा० ४-१-१)" तब याज्ञवल्क्य ने "हे सम्राट ! मैं दोनों के लिये आया हूँ" यों उत्तर दिया। और तब ब्रह्म के विषय में उनसे जानकर आगे राजा ने उनसे कहा- किन्तु मुझे तो उदङ्क शौल्वायन ने कुछ और बताया है, दूसरे ने कुछ और बताया है, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ अतः अब आप मुझे सही ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, तो मैं आपको एक हजार गौएँ दान में दूँगा(बृहदा० ४-१-३)। तब याज्ञवल्क्य बोले- मैं आपका दान स्वीकार नहीं करूँगा क्योंकि मेरे पिता ने मुझे संपूर्णज्ञान दिये बिना दान न लेने को कहा है(बृहदा० ४-१-३)। यह कह कर बाद में याज्ञवल्क्य ने राजा को संपूर्ण ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इसके पश्चात् जनक ने राज्य एवं अपने आप को याज्ञवल्क्य को समर्पित कर दिया और तब याज्ञवल्क्य ने उसे स्वीकार किया। ये पूरा प्रकरण श्रुति में सुना गया है अतः जब उन्होंने संपूर्ण ब्रह्मविद्या का उपदेश कर दिया, तो फिर उन्हें अपने शिष्य से भेट लेने में दोष नहीं लगा; वही बात यहाँ पर भी लागू होती है इसलिये इस रीति से गुरु को शिष्य से भेट स्वीकार करने में दोष नहीं लगता।

किञ्च, गीतायामेव सहजकर्मात्यागमुक्त्वा, 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छती'त्यत्र

असक्तबुद्धित्वादिभिस्तत्कर्मसंन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिं कथयता भगवता तद्दोषपरिहारोपायस्योक्तत्वाच्च तथा करणे दोषाभावादिति । एवञ्च यत्प्रभुचरणैरुक्तं 'विचार्यैव सदा देयं कृष्णनाम विशेषतः । अविचारितदानेन स्वयं दाता विनश्यती'ति । तत्रापि स्वस्य शिष्यस्य चोद्धारं विचार्यैव देयम् । लोभादविचारितदाने तु नामविक्रयापत्त्या दाता स्वयमपराधभाग्भवतीत्यर्थो ज्ञेयः । प्रकृतमनुसरामः । तेन गन्धर्वाणां पौराणिकानां च सङ्गस्तत्स्वरूपं विचार्य कार्य इति बोधितम् ॥३१/२॥

और, गीता में ही सहजकर्म को न छोड़ने को कह कर "संन्यास का फल केवल आत्मसंयम करने, प्राकृत वस्तुओं की आसक्ति को त्यागने और प्राकृतसुख का त्याग करने से प्राप्त हो जाता है। यही संन्यास की परम संसिद्धि है(भ०गी० १८-४९)" इस वाक्य द्वारा भगवान ने- आसक्त हुए बिना जब कर्म करेंगे, तो धीरे-धीरे कर्म से संन्यास हो जायेगा और निष्कामसिद्धि मिल जायेगी- यह कर कर कर्मदोष का परिहार भी बता दिया है अतः गुरु भी अपने शिष्यों से कुछ भी अपेक्षा रखे बिना उपदेश करें, तो फिर उनसे भेट स्वीकार करने में भी दोष नहीं है। यही बात प्रभुचरणों ने "दान हमेशा विचार करके ही देना चाहिए, तिस पर भी कृष्णनाम का दान तो विशेषरूप से पात्र-अपात्र का विचार करके ही देना चाहिए। बिना विचारे दान देने पर स्वयं दाता का विनाश हो जाता है" इस वाक्य द्वारा कही है। इसमें भी गुरु को अपना एवं शिष्य दोनों के उद्धार का विचार करके ही उपदेश का दान करना चाहिए। लोभवश होकर बिना विचारे दान देने पर भगवन्नाम को बेचने का दोष लगेगा और स्वयं दाता अपराध का भागी बनेगा- यह समझ लीजिए। चलिये, अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। इतने व्याख्यान से कुलमिला कर यह सिद्ध हुआ कि, गन्धर्वों एवं पौराणिकवक्ता इन दोनों के स्वरूप का विचार करके ही इनका सङ्ग करना चाहिए॥ ३ १/२॥

अतः परं 'अवद्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादीत्यादि** ।

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥४॥

आदिपदेन स्वैरिणीसङ्ग्रहः । ईदृशाः गायकाः गर्तसंज्ञिकाः । गर्तलक्षणं तु कात्यायनस्मृतौ 'धनुःसहस्राण्यष्टौ तु तोयं यासां न विद्यते । न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ते परिकीर्तिताः' इति । आपः नदीसम्बन्धिन्योपि नदीशब्दवहा न, किन्तु ते जलाशया गर्ताः शास्त्रेषु सर्वत्र कीर्तिता इत्यर्थः । तथा च 'नद्या यच्च परित्यक्त'मित्यादिवाक्यान्तरात् तज्जलं बहुलमपि न शिष्टानां स्नानपानादियोग्यम् । तथा तादृशां भावोपीत्यर्थः ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण "अवद्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार चौथे प्रकार के वक्ता का भाव वेश्यादि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। वेश्या+आदि+सहिता में "आदि" शब्द से स्वैरिणी का अर्थ भी ले लेना चाहिए। तात्पर्य यह कि वेश्या, स्वैरिणी इत्यादि को सङ्ग में लेकर मत्त होकर भगवद्गुणानुवाद करने वाले गायक "गर्त(गढ्ढा)" समान कहे जाते हैं। गढ्ढे का लक्षण तो कात्यायनस्मृति में "आठ हजार धनुष(चार हाथ की लंबाई)के जितना जल जिसमें न हो, उसे नदी नहीं कहते, उसे गढ्ढा कहते हैं(कात्यायनस्मृति-प्रातःकालिकस्नानादिक्रियावर्णनम्-खण्ड १०-६)" इस वाक्य द्वारा कहा गया है। यद्यपि ऐसे गढ्ढों में भरा हुआ जल नदी का ही होता है परन्तु उसे नदी नहीं कहा जाता, किन्तु शास्त्रों में उन जलाशयों को गर्त(गढ्ढा) कहा जाता है- यह अर्थ है। और, "जिस जल को नदी छोड़कर आगे निकल जाती है, उस जलाशय को गर्त कहा जाता है" इत्यादि अन्य वाक्यों के अनुसार भी उस जलाशय में भले ही अधिक जल हो तथापि महापुरुषों के स्नान-पान के योग्य नहीं होता। ठीक इसी प्रकार इन मत्त गायकों का भाव भी ग्रहण करने लायक नहीं होता।

यद्वा, 'प्रह्लादो ह वै कायाधवः विरोचनँ स्वपुत्रमुदास्यत् स प्रदरोऽभवत्, तस्मात्प्रदरस्य नाचामे'दिति श्रुतावापस्तम्बस्मृतौ च न वर्षधारास्वाचामेत्तथा च प्रदरोदक इति तज्जलाचमननिषेधात् । तत्र 'प्रदरो गर्त' इति सायणीयादौ व्याख्यानात्तेषामापोऽवद्याः, न उद्यन्त इत्यवद्याः पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिभ्यां तदाधारनिन्दान्तः ता अपि निन्द्या इत्यर्थः । तादृशां भावस्य दुष्टत्वात्तद्गीता गुणा न समीचीनफलदाः गातॄणां श्रोतॄणां चेति तादृशां सङ्गो न कर्तव्य इति भावः ॥४॥

अथवा तो, "प्रह्लादो ह वै कायाधव ..... नाचामेत्(तैत्ति०ब्रा० १-५-१०-७)" इस श्रुति में एवं आपस्तम्बस्मृति में भी "वर्षा की धारा में एवं प्रदर(गढ्ढा) में आचमन नहीं करना चाहिए" इस वाक्य द्वारा गढ्ढे के जल से आचमन करने का निषेध किया गया है। सायणीय आदि की व्याख्या में भी प्रदर को गर्त कहा गया है अतः गर्त के जल को "अवद्य" कहा जाता है ; जो जल ऊपर न आए, नीचे ही पडा रहे उसे "अवद्य" कहते हैं। पूर्व में कही श्रुतिस्मृति के वाक्यों के अनुसार ऐसे जलों के आधार की निन्दा की गयी है अतः ऐसा जल भी निन्दनीय है। ऐसे जल की भाँति इन मत्त गायकों का भाव भी दुष्ट होता है अतः जब ये भगवद्गुणगान भी करते हैं, तो ऐसा गुणगान

न गाने वालों को और न सुनने वालों को ही उचितफल दे सकता है। इसलिये ऐसे वेश्यादि सहित मत्त गायकों का सङ्ग नहीं करना चाहिए- यह भाव है॥ ४॥

अतःपरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चमं भावं वक्तुमन्यानपि ततो हीनानाहुः जलार्थमित्यादि ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

हस्तपादप्रक्षालनगण्डूषादिदुष्टजलस्य सर्वत्र प्रसाराभावार्थं ये गर्ताः कृतास्तादृशाः । तथा च तज्जलं न समीचां योग्यम् । जात्या नीचाः गानोपजीवनेनैव ये उदरंभरयस्ते यथा तथा तेषां भावोपीति तद्गता गुणा अपि तादृशा इति तत्सङ्गो न कार्य इति भावः ।

इसके पश्चात् "खन्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार पाँचवें प्रकार के वक्ता का भाव आपश्री जलार्थम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं, जिनका भाव ऊपर कहे वक्ता से भी हीन कोटि का है।

इस श्लोक से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, हाथ-पैर धोने के पश्चात् एवं कुल्ला करने के पश्चात् गन्दा जल बाहर चारों तरफ न फैल जाए इसलिये घर के बाहर जो गढ्ढे बनाये जाते हैं, उन गढ्ढों को गर्त कहते हैं। इन गढ्ढों का जल सत्पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं होता। अपने उदरपोषण के लिये गाकर भगवत्कथा कह कर अपनी आजीविका चलाने वाले उस गन्दे जल के गढ्ढे समान होते हैं। नीच जाति के एवं गाकर उपजीविका चला कर अपना पेट भरने वाले जैसे होते हैं, उनके भीतर का भाव भी वैसा ही होता है। अतः यदि भगवद्गुण ऐसों के माध्यम से श्रवण किये जाएँ तो भगवद्गुण भी उनकी तरह मलिन हो जाते हैं इसलिये ऐसों का सङ्ग नहीं करना चाहिए- यह भाव है।

श्रुतौ 'अवद्याभ्यः स्वाहे'त्यनन्तरं 'खन्याभ्यः स्वाहे'त्युक्तम् । अत्र खननेन निष्पन्ना आपः खन्या इति व्याख्यानम् । तथा सति तत्सङ्ग्रहार्थमत्रापि प्रकारान्तरेण पुनर्व्याख्येयम् । तुशब्देन तथा सूचनात् । तथा च नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ताः । तु पुनः नीचा गानोपजीविनः जलार्थमेव गर्ता इति । एतस्मिन् पक्षे चायमर्थः । जलार्थं जलनिष्पादनार्थं खननेन निष्पादिता ये गर्तास्ते जलार्थमेव गर्ताश्चोद्राणीति यावत् । नीचा गानोपजीविनस्तादृशाः तेषु नीचत्वं जातिदोषः, गानोपजीवित्वं च कर्मदोष इति । चोद्रजलं पुनः खननात्कलुषं निर्मलमपि संस्कारं विना नानाजातीयजनोच्छिष्टसंसर्गदोषाच्च यथा शिष्टायोग्यं, तथा तद्भावनिविष्टा गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्च दुष्यन्तीति तादृशामपि सङ्गो न कार्य इति बोधितम् । एवं पञ्चविधा भावा उक्ताः । एवमत्र गातृविषयकाः सन्देहा निवारिताः ॥४½॥

श्रुति में "अवद्याभ्यः स्वाहा" के पश्चात् "खन्याभ्यः स्वाहा" कहा गया है। वहाँ श्रुति ने "खन्याः" का अर्थ- "खोदने से निकला हुआ जल" - यों किया है। **तात्पर्य यह है कि, जो बने बनाये गढ्ढे होते हैं उनके लिये श्रुति ने "अवद्या" कहा है और जो गढ्ढे स्वयं खोद कर बनाये जाते हैं, उन्हें श्रुति में "खन्या" कहा है-** यह दोनों में अंतर है।

यद्यपि "अवद्या" और "खन्या" इन दोनों का अर्थ तो गर्त(गढ्ढा)ही है, तथापि श्रुति ने इनकी "अवद्याभ्यः स्वाहा" एवं "खन्याभ्यः स्वाहा" यों अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है, अतः हमें भी यहाँ दो बार व्याख्या करनी आवश्यक हो जाती है। और वैसे "तु" शब्द भी दूसरे प्रकार का ही सूचन कर रहा है, तो अब हम दूसरे प्रकार से व्याख्या कर रहे हैं। पहली अर्थात् "अवद्या" वाली व्याख्या लें तो "नीच जाति के गाकर अपनी उपजीविका चलाने वाले वक्ता गन्दे जल के लिये बनाये गढ्ढे के समान होते हैं"। जब हम "तु" शब्द के अनुसार दूसरा वाला अर्थात् "खन्या" वाला अर्थ लेंगे तो इसका अर्थ होगा- **जलार्थं जल निकालने(प्राप्त करने)के लिये अर्थात् खोद कर जल निकालने(प्राप्त करने)के लिये जो गढ्ढे खोदे जाते हैं, वे गढ्ढे "खन्या" कहे जाते हैं।** इन गढ्ढों को "चोद्र" भी कहा जाता है। आपश्री का तात्पर्य यह है कि- नीच जाति के लोग जो भगवद्गुणानुवाद गाकर अपनी आजीविका चलाते हैं, वे इस प्रकार के गढ्ढे के समान होते हैं। इनमें हीनता इनकी जातिदोष के कारण होती है एवं गाकर अपनी आजीविका चलाना इनका कर्मदोष है। और चोद्र का जल तो खोदने से कलुषित हो जाता है वो भले ही निर्मल भी कर दिया गया हो परन्तु शुद्धिकरण संस्कार किये बिना अनेक प्रकार की जाति के लोगों द्वारा जूठा किया हुआ एवं संसर्गदोषयुक्त होता है और सज्जनों के उपयोग का नहीं होता : ठीक इसी प्रकार भगवद्गुण भी गाकर आजीविका चलाने वालों के भाव के सङ्ग मिलकर स्वरूपतः एवं फलतः दूषित हो जाते हैं अतः ऐसे वक्ताओं का सङ्ग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ तक पाँच प्रकार के वक्ताओं के भाव कह दिये गये। यहाँ तक भगवद्गुणगान गाने वालों के विषय में होने वाले सन्देहों का निवारण किया गया॥ ४ १/२॥

अतः परं कीर्तयितृविषयकांस्तान् निवारयितुं 'हृद्याभ्य स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्योत्तमं षष्ठं भावमाहुः हृदास्त्वित्यादि ।

हृदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥५॥

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥६॥
अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥७॥

अत्र तुशब्दः प्रकरणं भिनत्ति । पण्डा शास्त्रजन्या बुद्धिः स्वाभीष्टार्थग्राहिका च तद्वन्तः पण्डिताः प्रकर्षेण पुराणादिषूक्ताः । शास्त्रदर्शित्वेपि विशेषमाहुः **भगवच्छास्त्रतत्परा** इति । भगवता प्रोक्तं शास्त्रं गीताश्रीभागवतपञ्चरात्रवाराहपुराणादि तन्निष्ठाः ये ते ह्रदाः । 'जलाशयो जलाधारस्तत्रागाधजलो ह्रद' इति कोशात् महान् जलाशयो ह्रदः, परं नद्येकदेशभूतो नदीसंलग्नः । 'कालिन्द्यां कालीयस्यासीत् ह्रद' इति 'शुष्यत् ह्रदाः कृशतटा बत सिन्धुपत्न्य' इत्यादौ तादृशेष्वेव ह्रदपदप्रयोगात् । तथा च तेषां भावे निविष्टा भगवद्गुणा अपि ह्रद्यजलतुल्याः । तद्यथा सर्वकार्येषु स्वरूपतः प्रशस्तं फलतश्चोत्तमं, तथा तैर्विचार्यमाणास्तेभ्यः श्रूयमाणाश्च गुणाः स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इत्यर्थः । अत्रापि 'विचारयन्ति ये शास्त्रं वेदाभ्यासरताश्च ये' इति पूर्वोपन्यस्तमाघमाहात्म्योक्तं स्वरूपवाक्यं फलवाक्यं चानुसन्धेयम् ।

भगवद्गुणगान गाने वालों का भाव कहकर अब इसके पश्चात् आचार्यचरण कीर्तन करने वालों के प्रति होने वाले सन्देहों का निवारण करने के लिये "ह्रद्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार छठे प्रकार के वक्ता का उत्तमभाव कह रहे हैं।

ह्रदास्तु(ह्रदाः + तु)में प्रयुक्त "तु" शब्द बता रहा है कि, यहाँ से प्रकरण बदल गया है और अब उत्तम विद्वान वक्ताओं की बात आरंभ हो रही है। पण्डा का अर्थ है- शास्त्रों का अध्ययन करने से उत्पन्न हुई बुद्धि और प्रसङ्गानुसार शब्द के अर्थ को ग्रहण कर सके ऐसी बुद्धि। ऐसी पण्डा/बुद्धि जिनके पास है, वो पण्डित कहलाते हैं ; जिनके लिये पुराण आदि में विशेषरूप से कहा ही गया है। ऐसे पण्डितों ने शास्त्र तो पढ़े होते हैं तथापि उनमें एक और विशेषता बताते हुये आपश्री उन्हें **भगवच्छास्त्रतत्पराः** कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भगवान द्वारा कहे गये गीता-श्रीभागवत-पञ्चरात्र-वाराहपुराण इत्यादि शास्त्रों में जिन पण्डितों की निष्ठा है, वे पण्डित "ह्रद" कहे जाते हैं। "जलाशय में रहने वाली अगाध जलराशि को "ह्रद" कहा जाता है(अमरकोश १-१०-२५)" इस कोश अर्थ के अनुसार बड़े जलाशयों को "ह्रद" कहा जाता है परन्तु वे होते हैं नदी में ही अर्थात् नदी के किसी एक भाग में होते हैं, नदी से जुड़े होते हैं। क्योंकि "यमुनाजी में कालियनाग का एक कुण्ड(ह्रद)था(श्री०भा० १०-१६-४)" , "हे समुद्रपत्नियों ! ग्रीष्मऋतु है, तुम्हारे कुण्ड(ह्रद) सूख गये हैं(श्री०भा० १०-९०-२३)" इत्यादि वाक्यों में ऐसे ही नदी के एक विशाल जलराशि को "ह्रद" कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि, जब इन पण्डितों के भावों में भगवद्गुण प्रविष्ट होते हैं, तो वे भी ह्रद्यजल के समान हो जाते हैं। जैसे ह्रदजल समस्त कार्यों में स्वरूपतः प्रशस्त एवं फलतः उत्तम माना गया है ; ठीक उसी प्रकार इन पण्डितों द्वारा विचार किये गये एवं इनके द्वारा श्रवण किये गये भगवद्गुण भी स्वरूपतः एवं फलतः उत्तम होते हैं- यह अर्थ है। जिस प्रकार पूर्व के ३सरे श्लोक में "जो शास्त्रविचार करते हैं एवं वेदाभ्यास में रत हैं। और जो पुराणसंहिता सुनाते एवं उनका पाठ करते हैं और जो स्मृति का व्याख्यान करते हैं एवं धर्मज्ञ हैं। जो वेदान्त में निष्ठ हैं, वास्तव में तो ऐसे ही लोगों ने धरती को धारण कर रखा है। उनके ऐसे अभ्यास के माहात्म्य के कारण अन्य दूसरे सभी पापों से मुक्त हो गये हैं और उनकी ब्रह्मलोक में गति हो जाती है, जहाँ मोह नहीं है। अज्ञानी को वेदशास्त्रों से प्राप्त किये संसारबन्धन से छूटने का ज्ञान देकर वे देवताओं का ही अर्चन कर रहे हैं (पद्मपुराण ३/३१/९४-९६)" इस माट्टमाहात्म्य के वाक्य द्वारा पुराणवक्ताओं को श्रेष्ठ बताया गया था एवं उन्हें सुनने वालों को भी श्रेष्ठफल मिलना बताया गया था, उसी प्रकार यहाँ भी इन पण्डितवक्ताओं को श्रेष्ठ मान लें और इन्हें सुनने वालों को श्रेष्ठफल मिलना मान लें।

सूद्याभ्यः स्वाहेति श्रुतिमनुसृत्य तस्मादुत्कृष्टं सप्तमं भावमाहुः सन्देहेत्यादि । तत्र तेषु भगवच्छास्त्रतत्परेषु येऽज्ञानां श्रोतृणां भगवच्छास्त्रविषयकं सन्देहं वारयन्ति, ते सूदाः, सुष्ठु समीचीनं स्वादु सद्गुणं उदमुदकं येषां ते सूदाः । तत्र हेतुमाहुः **गंभीरमानसा** इति । अगाधं दुरवगाहं हृदयं येषां तादृशाः । तथा च श्रोतुर्हृदयं बुद्ध्वा तदधिकारानुसारेण तद्धितं बोधयन्ति, न तु सर्वं शास्त्रार्थमित्यर्थः । तेन तादृशं जलमुक्तं तादृशस्तेषां भावः स्वरूपतः फलतश्चोत्तम इति तादृशां सङ्गः कर्तव्य इति भावः । अत्रापि 'पूर्वोक्तज्ञानमज्ञाय यो द्रव्या'दिति वाक्यं 'गच्छन्ति ब्रह्मणो लोक'मिति तत्फलवाक्यं चानुसन्धेयम् । एवमत्र मर्यादामार्गीयं भावद्वयमुक्तम् ।

अब इसके पश्चात् "सूद्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार आचार्यचरण ऊपर कहे पण्डितों से भी उत्कृष्ट सातवें प्रकार के वक्ता का भाव सन्देह इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का कहना यह है कि, ऊपर कहे भगवच्छास्त्रतत्परों में भी जो वक्ता अज्ञानी श्रोताओं के भगवच्छास्त्रविषयक सन्देह दूर करते हैं. वे "सूद" कहे जाते हैं। जिसका जल सुंदर, स्वादिष्ट एवं गुणवान होता है, वे जलस्रोत "सूद"

कहे जाते हैं। ये सूद समान वक्ता उत्तम क्यों कहे गये हैं, इसका कारण आपश्री कहते हैं- **गंभीरमानसाः** अर्थात् ये गंभीर प्रकृति वाले होते हैं। इनका हृदय विशाल एवं इनके हृदय का अभिप्राय जानना कठिन होता है। तात्पर्य यह कि ये श्रोता के हृदय को जानकर उनके अधिकारानुसार ही उन्हें बोध कराते हैं, समस्त शास्त्रार्थ को नहीं कहते- यह अर्थ है। इससे आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, सूद का जल जिस प्रकार का होता है, उसी प्रकार का भाव इन सन्देहनिवारण करने वाले गंभीरप्रकृति वाले वक्ताओं का होता है, जो स्वरूपतः और फलतः दोनों दृष्टि से उत्तम होता है अतः ऐसे वक्ताओं का सङ्ग करना चाहिए। यहाँ भी पूर्व के ३सरे एवं ५वें श्लोक में कहे "जो शास्त्रविचार करते हैं एवं वेदाभ्यास में रत हैं। और जो पुराणसंहिता सुनाते एवं उनका पाठ करते हैं और जो स्मृति का व्याख्यान करते हैं एवं धर्मज्ञ हैं। अज्ञानी को वेदशास्त्रों से प्राप्त किये संसारबन्धन से छूटने का ज्ञान देकर वे देवताओं का ही अर्चन कर रहे हैं (पद्मपुराण ३/३१/९४-९६)" इस वाक्य का एवं "उनके ऐसे अभ्यास के माहात्म्य के कारण अन्य सभी पापों से मुक्त हो गये हैं और उनकी ब्रह्मलोक में गति हो जाती है, जहाँ मोह नहीं है(पद्मपुराण ३/३१/९४-९६)" इस वाक्य का अनुसंधान रखते हुए उनसे मिलने वाले फल का भी अनुसंधान कर लेना चाहिए। इस प्रकार आचार्यचरणों ने भगवच्छास्त्रतत्पर एवं सन्देहनिवारण करने वाले ऐसे दो मर्यादामार्गीय वक्ताओं के भाव कहे।

श्रीकल्याणरायास्तु 'सूदा इत्यनेन वाप्योदा उच्यन्त' इति पक्षान्तरमाहुः । तदा तस्मिन् पक्षे गंभीरत्वं निम्नत्वं सन्देहवारकत्वं च तत्र सोपानस्थानापन्नं ज्ञेयम् । तत्रैव श्रोतॄणां विशेषतस्तत्सङ्गादिति ।

आगे टीकाकार श्रीकल्याणरायजी के पक्ष की चर्चा कर रहे हैं जहाँ उन्होंने "सूद" का अर्थ वापी का जल भी किया है। आचार्यचरणों ने सूद के समान वक्ताओं के लिये यह भी कहा है कि, वे गंभीरप्रकृति के होते हैं, उनमें शास्त्र की गहराई होती है इत्यादि इत्यादि। टीकाकार यह विचार कर रहे हैं कि, वापी का जल तो गहरा नहीं होता फिर इन गंभीरप्रकृति एवं सन्देहनिवारण करने वालों को वापी की उपमा देनी कैसे संभव है ? वापी उस चौकोर जलाशय को कहते हैं, जिसमें चारों तरफ से कुछ नीचे तक सीढ़ीयाँ बनी होती है, जिनसे उतर कर जल लेना होता है। इस पर टीकाकार लिखते हैं कि इस अर्थ में गंभीरप्रकृति एवं सन्देहवारकता इत्यादि गुणों को वापी की उन नीची गहरी सीढ़ीयों के समान समझ लेना चाहिए और तब इन्हें वापी के जल की उपमा देनी संगत बन सकेगी। श्रीकल्याणरायजी ने तो "सूद का अर्थ वापी का जल भी होता है" यों कह कर सूद को वापी का जल भी बताया है। यदि वह पक्ष लें तो, गंभीरता-गहराई-सन्देहवारकता इत्यादि को वापी की सीढ़ीयाँ समझ लें क्योंकि ये सभी गुण उनमें होंगे तब ही तो श्रोता विशेषरूप से उनका संग करके लाभान्वित हो पायेगा !!

अतः परं 'सरस्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसारेण तत उत्कृष्टं पुष्ट्यनुसृतमष्टमं भावमाहुः **सर इत्यादि । भगवति प्रेम्णा युक्ताः निवृत्तलौकिकरागाः, तथा पूर्वोक्तवत् बुधाः भगवच्छास्त्रतत्पराः श्रोतुः सन्देहवारकाः ये ते सरःकमलसम्पूर्णाः, सरसि यानि कमलानि तैः सम्पूर्णा सम्यग्भरिता या आपस्तादृशाः । न च श्रुतौ सरस्यापदेन सरोधिकरणकत्वमात्रलाभादत्र कमलसम्पूर्णत्वस्य कुत उक्तिरिति शंक्यम् । सरस्यापदस्य 'सारसं सरसीरूह'मिति कमलनामस्मारणेन तत्सम्बन्धार्थमेव तत्प्रयोगात् । अन्यथा ह्रद्यासूद्याभ्यां विशेषाभावात्तदनुल्लेखापत्तेरिति बोध्यम् । अत्र पूर्वं जलधाराणां दृष्टान्तत्वमुक्त्वात्र यदाप एव दृष्टान्तत्वेन सूचितास्तेन तेषां भावव्याप्तत्वं सूच्यते । तथाच यथा ता आपः सौगन्ध्यभ्रमरझंकारप्रभृतिभिः सर्वेन्द्रियाह्लादिन्यस्तथा तेषां भावोपि श्रोतृषु ज्ञानभक्ती संक्रामयन् तेषां सर्वेन्द्रियाह्लादी भवति, फलतश्चोत्कृष्यत इति तद्गता गुणास्तथेत्यर्थः । अत एवैकादशस्कन्धे संवादसमाप्तौ भगवतोक्तं 'य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलं, तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मने'ति ।**

इसके पश्चात् अब आचार्यचरण "सरस्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार ऊपर कहे वक्ताओं से भी उत्कृष्ट पुष्टिभावानुसारी आठवें प्रकार के वक्ताओं को सरः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। प्रेम्णा का अर्थ है- भगवान में स्नेह हो जाने के कारण जिनकी लौकिक में आसक्ति छूट गयी है ; ऐसे भगवत्प्रेमयुक्त, पूर्व में कहे वक्ताओं की भाँति पण्डित, भगवच्छास्त्र में तत्पर और श्रोताओं के सन्देह का निवारण करने वाले जो वक्ता होते हैं, वे कमलयुक्त सरोवर के समान होते हैं। तात्पर्य यह कि कमल से भरे सरोवर के जल के समान होते हैं। यहाँ ये शंका नहीं करनी चाहिए कि, आचार्यचरण जिस तैत्तिरीयश्रुति का उदाहरण दे रहे हैं, उस श्रुति में तो केवल सरोवर कहा गया है, कमल की बात तो नहीं कही गयी है, फिर आचार्यचरण इन्हें कमलयुक्तसरोवर की उपमा क्यों दे रहे हैं ? नहीं, आपकी शंका ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति में कहे "सरस्या" पद का अर्थ "सारसं सरसीरूहं(अमरकोष/वारिवर्ग १-१०-४०)" इस वाक्य के अनुसार कमलयुक्त सरोवर ही होता है अतः आपश्री ने भी उसी अभिप्राय से यहाँ कमलयुक्तसरोवर की बात कही है। यदि श्रुति को "ह्रद" और "सूद" से अधिक विशेष लक्षण न कहना होता तो, "सरस्या" पद क्यों कहती ? "सरस्या" पद से उसे कमलयुक्त जल वाली विशेषता

बतानी थी इसलिये कहा। एक ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि, अब तक आचार्यचरणों ने जल के आधारों की उपमा दी थी। परन्तु यहाँ आपश्री जल के आधार की उपमा न देकर सीधे-सीधे जल की ही उपमा दे रहे हैं। इसका कारण यह है कि, जिस प्रकार से सरोवर का जल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस श्लोक में कहे वक्ताओं का भाव भी सर्वत्र श्रोताओं में व्याप्त हो जाता है- यह बताना चाह रहे हैं। इसे यों समझें कि, जिस प्रकार कमलयुक्त सरोवर का जल सुगंध, भौंरों की झंकार से युक्त होने के कारण समस्त इन्द्रियों को प्रसन्नकारी लगता है : ठीक उसी प्रकार भगवान से प्रेम करने वाले-गंभीरप्रकृति-सन्देहों का निवारण करने वाले वक्ताओं का भाव भी श्रोताओं में ज्ञानभक्ति उत्पन्न करता हुआ उनकी समस्त इन्द्रियों को प्रसन्नता देता है और फलदृष्टि से भी उत्कृष्ट होता है अतः ऐसे वक्ताओं में रहने वाले भगवद्गुण इस प्रकार के उत्कृष्ट होते हैं। अतएव एकादशस्कंध के संवाद की समाप्ति में भगवान ने उद्धवजी से "जो पुरुष मेरे भागवतधर्मों को मेरे भक्तों को भलीभाँति समझायेगा, उसे मैं प्रसन्नमन से अपना स्वरूप तक दे दूँगा(श्री०भा० ११-२९-२६)" यह कहा है।

अतःपरं 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य ततो न्यूनं नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इत्यादि । अल्पं श्रुतमध्ययनं श्रवणं वा सत्पुरुषवाक्यसम्बन्धि येषां ते अल्पश्रुताः भगवद्विषयकप्रेमयुक्ताश्च । ते वेशन्ताः अल्पसरस्तुल्याः । 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरे' इति कोशात् । 'विश प्रवेशने विशन्त्यस्मिन् भेकादय' इति निरुक्तेश्च । अत्र चाल्पश्रुतप्रेमयुक्तपदयोः समभिव्याहाराद्भक्तावपि स्वल्पत्वं सूच्यते । तेन 'वैशन्तीभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्युक्ता या आपस्तत्तुल्यस्तेषां भाव इति बोधितम् । तथा च प्रेमवत्त्वेन पूर्वोक्तजातीयत्वेप्यल्पत्वाद्यथा तज्जलं महिषादिभिरवगाढं कलुषं भवति, तथा तद्भावोपि श्रुतप्रेम्णोरल्पत्वाद्विजातीयशास्त्रादिसंसर्गेण कलुषितो भवतीति तत्सङ्गोऽप्रयोजक इवेत्यर्थः ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण "वेशन्तीभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार ऊपर कहे भगवान से प्रेम करने वाले, सन्देह का निवारण करने वाले इत्यादि वक्ताओं से न्यूनभाव को "अल्पश्रुता" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। अल्पश्रुताः का अर्थ है- जिन्होंने सत्पुरुषों के वाक्यों का अध्ययन या श्रवण अल्प किया है और जो भगवद्विषयकप्रेम से युक्त भी होते हैं, ऐसे वक्ता। ऐसे वक्ता "वेशन्त" कहे जाते हैं यानि कि छोटा सरोवर। जैसा कि "वेशन्त और पल्वल छोटे सरोवर को कहते हैं(अमरकोश १-१०-२८)" इस प्रकार कोश में बताया गया है। और, "विश धातु प्रवेश करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है(पा०धातुपाठ ६-१६०)" तदनुसार "जिसमें मेंढक आदि प्रवेश कर जाते हैं उसे वेशन्त कहते हैं(अमरकोष १-१०-२८)" इस वाक्य द्वारा भी यही अर्थ किया गया है। और, चूँकि आचार्यचरणों ने "अल्पश्रुताः" के संग-संग ही "प्रेमयुक्ताः" पद का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि, ये अल्पश्रुत तो हैं ही, संग-संग इनमें भगवान के प्रति प्रेम भी कम होता है अतः इनकी भक्ति भी अल्प होती है। इससे "वेशन्तीभ्यः स्वाहा" इस श्रुति में जिस जल की बात की गयी है, इनका भाव उस जल के समान होता है- यह जान लें। वह इस प्रकार कि, चूँकि ये भगवान से प्रेम करते हैं अतः पूर्व में कहे "सूद" के जैसे ही होते हैं, तथापि अल्पश्रुत होने के कारण जैसे सूदा का जल भी भैंस आदि पशुओं के घुस जाने के कारण गन्दा हो जाता है; ठीक वैसे ही इनका भाव भी अल्पश्रुत होने के कारण और अल्प भगवत्प्रेम होने के कारण विजातीय शास्त्रों का संसर्ग होने से कलुषित हो जाता है- यह अर्थ है। इसलिये इनका सङ्ग करना निःप्रयोजक जैसा ही है।

अतः परं 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुत्यनुसृतं वेशन्तसजातीयं दशमं भावमाहुः कर्मेत्यादि । श्रुतं च भक्तिश्च श्रुतभक्ती, तथा पूर्वोक्तवदल्पे श्रुतभक्ती येषां ते तथाल्पश्रुतभक्तयः । पूर्वोक्ताद्विशेषः कर्मशुद्धा इति । भगवदर्पितेन फलासङ्गरहितेन कर्मनिर्हारोद्देशतो वा कृतेन कर्मणा शुद्धा तदनुरूपचित्तशुद्धियुक्ताः पल्वलानि । वेशन्तपल्वलयोः शक्यतावच्छेदकतौल्येपि श्रुतौ 'पल्वल्याभ्यः स्वाहे'ति निर्देशभेदात् पलगतौ पलति पल्यते वेति निरुक्तिभेदाच्च तयोः कश्चित् भेदो वाच्यः । स चात्र कर्मशुद्धिभेदादवगन्तव्यः । तेनैवं पूर्वस्मादाधिक्येपि गन्तृत्वान्महिषादिगम्यतया कालुष्याच्च तत्तुल्यकक्षत्वमेव । तथा च तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति तत्सङ्गोप्यप्रयोजक इवेत्यर्थः ।

इसके पश्चात् "पल्वल्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार वेशन्त के जैसा ही दसवें प्रकार के वक्ता का भाव आचार्यचरण कर्म इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। सर्वप्रथम तथाल्पश्रुतभक्तयः का अर्थ समझें। जिसमें श्रवण और भक्ति अल्पमात्रा में होती है, वे "अल्पश्रुतभक्ती" कहे जाते हैं ; उन्हें आपश्री अल्पश्रुतभक्तयः कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ये पूर्व की ही भाँति अल्पश्रुत होते हैं परन्तु इनमें उनकी तुलना में एक विशेषता है कि, ये कर्मशुद्ध होते हैं। इनको कर्मशुद्ध कहने का अभिप्राय यह है कि, ये अपने कर्म भगवान को अर्पित कर देते हैं, जिसके कारण इनमें फलप्राप्त करने की कामना नष्ट हो जाती है अथवा ये कर्मबन्धन को पूर्णरूप से काटने के उद्देश्य से कर्म करते हैं इसलिये शुद्ध हो जाते हैं और निष्कामरूप से कर्म करने के कारण इन्हें चित्तशुद्धि प्राप्त हो जाती है, ऐसे वक्ता "पल्वल"

कहे जाते हैं। यद्यपि "वेशन्त" और "पल्वल" का अर्थ एक समान ही होता है परन्तु श्रुति में "पल्वल्याभ्यः स्वाहा" यों करके इन दोनों का भिन्न-भिन्न रूप से निर्देश किया है ; साथ ही साथ निरुक्त में भी "पल धातु गति के अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः जो गतिशील है या जिसे गतिशील किया जाता है, उसे पल्वल कहते हैं(अमरकोश/रामाश्रमी टीका १-१०-२८)" इस वाक्य द्वारा पल्वल की परिभाषा अलग से की गयी है अतः इन दोनों के बीच का कुछ भेद कहना आवश्यक हो जाता है। और वह भेद कर्मशुद्धि के रूप में समझना चाहिए। अल्पश्रुत वाली कोटि के वक्ताओं में कर्मशुद्धि नहीं है, किन्तु इनमें है, इसलिये पूर्व में कहे वक्ता अल्पश्रुतों से तो उत्तम हैं परन्तु ये दोनों ही गतिशील हैं एवं भैस आदि पशुओं द्वारा गन्दे कर दिये जाने के दोनों कारणों से ये दोनों समान कक्षा में ही आते हैं। और इस कारण कर्मशुद्धों का भाव भी पल्वल के जल जैसा होता है अतः इनका सङ्ग भी निःप्रयोजक जैसा ही है- यह अर्थ है।

एवमत्र कीर्तयितृविषयकाः सन्देहा निवारिताः । कीर्तयितृषु च श्रोतॄणामुपकाराय वाच एव प्राधान्यात्तस्याश्च बहिरिन्द्रियत्वात्तदाधारभूतस्थूलदेहे प्राधान्येन गुणाधारा एव जलाधारसाम्येन निरूपिताः ।

इस प्रकार से यहाँ तक कीर्तन करने वालों के प्रति होने वाले सन्देहों का निवारण कर दिया गया। श्रोताओं को कृतार्थ करने के लिये कीर्तनकारों में तो वाणी की ही प्रधानता होती है ;और वाणी चूँकि बाह्य इन्द्रिय है अतः उसके स्थूलदेह रूपी आधार में रह कर जिस प्रकार की देह हो उसके अनुसार ही श्रोताओं को कृतार्थ करती है ; ठीक उसी प्रकार भगवद्गुण भी वक्तारूपी आधार में प्रकट होते हैं, इसलिये इन भगवद्गुणों के बारे में बताने के लिये आपश्री ने वक्ताओं के बारे में उनकी तुलना जल के आधारों से करके बताया।

अतः परं भावयितृविषयकान् सन्देहान् वारयितुं तेषु लिङ्गशरीरस्य मनस एव प्राधान्याद्गुणा विशेषतो बहिर्न निर्गच्छन्तीति दुर्लभत्वाद्गुणानामेव जलतुल्यत्वं निरूपयन्तो 'वर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पूर्वस्माद्विलक्षणमेकादशं भावमाहुः योगेत्यादि ।

अब इसके पश्चात् आपश्री भावुकजनों(भावना करने वालों) के प्रति होने वाले सन्देहों का निराकरण कर रहे हैं। कीर्तन करने वालों में वाणी की प्रधानता होती है और वाणी बाह्य-इन्द्रिय है अतः वाणी का सम्बन्ध स्थूलदेह से है किन्तु भावुकजनों का सम्बन्ध मन से है अतः यहाँ मन की प्रधानता है और मन तो लिङ्गशरीर से सम्बन्धित है इसलिये इनके गुण अधिकतर बाहर प्रकट नहीं होते अतः इनके भावों को जानना बड़ा दुर्लभ होता है ; इस कारण इनके भावों का वर्णन न करके इनमें प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुणों की ही जल से समानता बता कर आचार्यचरण उन भगवद्गुणों को निरूपित कर रहे हैं। यहाँ आपश्री "वर्ष्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार ग्यारहवें प्रकार के वक्ताओं के विषय में कह रहे हैं, जो पूर्व में कहे कर्मशुद्ध वक्ताओं की तुलना में कुछ विलक्षण हैं। इन्हें आपश्री योग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो, यमाद्यष्टाङ्गसहितः । यथा द्वितीयस्कन्धे प्रथमाध्याये 'गृहात्प्रव्रजितो धीर' इत्यादिना स्थूलभगवद्विषयकधारणावानुक्तः । 'यतः सन्धार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः । आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षत' इत्यनेन तस्यापि भक्तिसाधकत्वोक्तेः । ध्यानं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारः । यथा 'केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ती'त्यादिषूक्तं, आदिपदेन धारणा, एतैस्त्रिभिः समुच्चितैरेकैकेन वा संयुक्ता भगवतो गुणा योगप्रभावादयो रूपलीलादयश्च ।

योग का अर्थ है- चित्तवृति का नियन्त्रण कर लेना, जो यम-नियम इत्यादि आठ अङ्गों वाला होता है। जैसे कि द्वितीयस्कंध के प्रथमाध्याय में "मृत्यु का समय आने पर मनुष्य घबराए नहीं। धैर्य के साथ घर से निकल कर तीर्थजल में स्नान करे और पवित्र एकान्त स्थल पर आसन लगा कर बैठ जाए(श्री०भा० २-१-१६)" इत्यादि वाक्यों द्वारा योगी को स्थूलभगवद्विषयक धारणा करने वाला बताया गया है, जिसके पश्चात् वह संपूर्ण विश्व को विराट स्वरूप भगवान के रूप में देखने लगता है। और, "धारण स्थिर हो जाने पर ध्यान में जब योगी भगवान को देखता है, तो उसे तुरन्त ही भक्तियोग की प्राप्ति हो जाती है(श्री०भा० २-१-२१)" इस वाक्य से बताया गया है कि, योग द्वारा भी भक्ति सिद्ध होती है। ध्यान का अर्थ है- प्रयत्न करके चित्त को एक स्थल पर केन्द्रित करना। जैसा कि "कोई-कोई साधक अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में विराजमान भगवान के प्रादेशमात्र स्वरूप की धारणा करते हैं। वे ऐसा ध्यान करते हैं कि, भगवान की चार भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं(श्री०भा० २-२-८)" इस वाक्य में ध्यान केन्द्रित करना बताया गया है। आदि पद से योग के आठ अंगों के अंतर्गत आने वाली "धारणा" का भी अर्थ ले लेना चाहिए। योग-ध्यान-धारणा में से एक-एक के द्वारा अथवा तो एक साथ तीनों के द्वारा संयुक्त हुए भगवान के योगप्रभाव आदि एवं रूपलीला आदि गुण जिन वक्ताओं में प्रकट होते हैं, वे वक्ता वर्ष्य(वर्षा के जल)समान कहे जाते हैं।

कपिलदेवैः 'स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशय'मिति ध्यानविषये लीलानामप्युक्तत्वात् । तादृशा गुणा वर्ष्याः वृष्टिर्वर्षस्तत्सम्बन्धिन्य आपो वर्ष्याः, ता यथा दिव्याः भूमौ पतन्त्यो जलाशयान् स्वकाल एव भरन्ति, तथा योगादियुक्ता भगवद्गुणा अपि योगिषु वर्तमानाः भूमौ दुर्लभाः अधिकारिविशेषान् कृतार्थयन्ति, न सर्वानित्यर्थः । यद्यपि वृष्टिजलं क्षेत्रादौ पतितं सत् संसारहेतुर्भवति, तथापि सोंशो नात्र दृष्टान्तफलतयाभिप्रेतः । तेषां योगित्वादन्तर्निष्ठत्वेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, कुयोगित्वापातेन विदूरकाष्ठत्वापाताच्च, 'वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेदि'ति निबन्धे योगस्य विद्यापर्वत्वेनोक्ततयात्रोत्कर्षार्थं तद्ग्रहणाच्च । दार्ष्टान्तिकतयात्र गुणानामेवोक्तत्वाच्च । अन्यथा तु भावकथनस्योपक्रान्तत्वेन तद्विरोधापत्तेश्च । तस्मात्पूर्वोक्तमेव दृष्टान्तफलं ग्राह्यम् । इतः पूर्वं कर्मशुद्धानामुक्तत्वादत्र तत्प्रसङ्गेन योगस्मरणं, योगस्यापि कर्मविशेषत्वादिति ॥७½॥

कपिलदेवजी ने "भगवान की लीलाएँ बड़ी दर्शनीय हैं। योगी को चाहिए कि अपनी रुचि के अनुसार खड़े हुए, चलते हुए, पोढ़े हुए, अथवा अन्तर्यामी स्वरूप से विराजे हुए उनके स्वरूप का विशुद्धभाव से ध्यान करे(श्री०भा० ३-२८-१९)" इस वाक्य द्वारा भगवान की लीलाओं का भी ध्यान करना बताया है। ऐसे योगध्यान से संयुक्त वक्ता के मुख से निकलने वाले भगवद्गुण वर्ष्य कहे जाते हैं। वर्ष्याः का अर्थ है- वर्षा से सम्बन्धित जल। जैसे वर्षा का जल आकाश से भूमि पर गिर कर जलाशयों को अपने वर्षाकाल में ही भरता है; ठीक उसी प्रकार योगादि से युक्त भगवद्गुण योगियों में व्याप्त रहते हुए भी भूतल पर प्राप्त होने बड़े दुर्लभ होते हैं, किसी विशेष अधिकारिजनों को ही कृतार्थ करते हैं, सभी को नहीं- यह अर्थ है। यद्यपि वर्षा का जल खेतों में गिरकर अन्न/संसार को पैदा करता है, तथापि उस अंश को दृष्टान्त के रूप में नहीं लेना चाहिए अपितु वर्षाजल खेतों को भर देता है, उनका पोषण करता है- इस अर्थ में ही लेना चाहिए। क्योंकि वर्षा के जल का दृष्टान्त योगियों के लिये दिया जा रहा है और वे योगी होने के कारण अन्तर्मुखी होते हैं अतः उक्त दृष्टान्तानुसार ये नहीं कहा जा सकता कि उनके द्वारा गाया गया भगवद्गुणगान श्रोता के संसार या सांसारिकभावों का पोषण करता है। क्योंकि यदि वे सांसारिकभाव का ही पोषण करने वाले हों, तो कुयोगी कहलायेंगे और तब भगवान से बहुत दूर हो गये और अपने लक्ष्य से भटक गये कहलायेंगे। इसलिये वर्षाजल के दृष्टान्त का अन्न/संसार उत्पन्न करने वाला अंश नहीं लेना चाहिए क्योंकि इतना अंश योगियों के लिये उचित नहीं बैठ पायेगा। दूसरी बात यह भी है कि, "वैराग्यं सांख्ययोगौ च(शा०प्र०-४५)" इस श्लोक के निबन्ध में आचार्यचरणों ने योग को विद्या का अंग माना है अतः यहाँ आचार्यचरणों ने योगी वक्ता का दृष्टान्त उसका उत्कर्ष बढ़ाने के लिये या उसकी प्रशंसा के रूप में दिया है। क्योंकि दार्ष्टान्ततया आपश्री ने योगी वक्ता के गुण ही बताये हैं। यहाँ प्रस्तुत विषय भी भाव का ही चल रहा है अतः यदि गुण के बदले दोष बता देंगे, तो बात विरोध में चली जायेगी। इसलिये यहाँ वही प्रशंसा वाला दृष्टान्त ग्रहण करना चहिए जिसमें वर्षा का जल खेतों का भरणपोषण कर देता है, यों कहा गया था। इसका एक कारण यह भी है कि, ध्यान दें कि इसके पहले कर्मशुद्धों की बात कही गयी थी, जिसके कारण योग का प्रसङ्ग निकल पड़ा क्योंकि योग भी तो एक कर्मविशेष ही है॥ ७ १/२॥

अतःपर'मवर्ष्याभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कर्मसम्बन्धिनमेव द्वादशं भावमाहुः तप इत्यादि ।

तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥

तुः प्रकरणभेदकः । 'तप सन्तापे,' शरीरेन्द्रियादिकं तपति यत्कर्म कृच्छ्रचान्द्रायणानशनादिरूपं तत्तपः, ज्ञानं सेश्वरसांख्यादिसिद्धं, आदिपदेन त्यागः, तेषां भावेन विद्यमानतया संयुक्ता ये गुणास्ते स्वेदजाः प्रकीर्तिताः ।

इसके पश्चात् आपश्री "अवर्ष्याभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार कर्मसम्बन्धी ही बारहवें प्रकार का भाव "तप" इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। "तु" शब्द पूर्व की ही भाँति बताता है कि यहाँ से प्रकरण बदल रहा है और नई बात आरंभ हो रही है। सबसे पहले तप शब्द का अर्थ समझें। "तप सन्तापे(पा०धातुपाठ १-११४०)" के अनुसार तप का अर्थ होता है- इन्द्रियों को तप्त करना। जिस कृच्छ-चान्द्रायण-अनशन जैसे कर्मों से शरीर-इन्द्रियाँ आदि तपें, वह कर्म "तप" कहलाता है। ज्ञान का अर्थ है- ईश्वरवादी सांख्य में सिद्ध हुआ ज्ञान। आदि पद से "त्याग" ले लें। इन सभी भावों से संयुक्त हुए जो भगवद्गुण होते हैं, वे स्वेदज कहे जाते हैं।

अत्र योगध्यानादिसंयुक्तपदैकदेशभूतं संयुक्तं पदमनुषज्जते । तथा च तादृशा गुणाः स्वेदजाः प्रकीर्तिताः, 'ष्विदा गात्रप्रक्षरणे,' धर्मश्रमादिना सन्तप्ताद्गात्रात्प्रसृतं यज्जलं सः स्वेदस्तस्माज्जाता वर्षजलभिन्नत्वेपि बिन्दुरूपत्वाद्वर्ष्यतुल्या अवर्ष्याः या आपो वस्त्रादावेकीभूतास्तत्तुल्याः । ता यथा न समीचीनव्यवहारयोग्याः , किन्तु तद्गात्रस्यैव तापनिवारिकाः, नान्यस्य, एवं तद्गता गुणा अपीत्यर्थः । तेन तादृशामपि सङ्गो न प्रकृतोपयोगी । तपआदिष्वेव विशेषाभिनिवेशेन गुणानां गौणत्वात्क्वचिन्मुख्यत्वेपि प्रकृतानुपयोगित्वादिति ।

पूर्व में कहे **योगध्यानादिसंयुक्ता** के अंतर्गत जुड़े हुए "संयुक्ताः" पद को यहाँ भी जोड़ लेना चाहिए ; ऐसा करने से कुलमिला कर अर्थ बनेगा- **तपोज्ञानादिभावेनसंयुक्ता** अर्थात् तपज्ञान-आदि भाव से संयुक्त वक्ताओं के विषय में आपश्री कह रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि तपोज्ञानादिभाव से संयुक्त वक्ताओं में रहने वाले गुण स्वेदज कहे जाते हैं। यदि व्याकरण द्वारा अर्थ करें तो, "ष्विदा धातु शरीर से स्रवित होने के अर्थ में प्रयुक्त होती है(पा०धातुपाठ ४-८५)" इसके अनुसार "धूप से सन्तप्त होने पर शरीर से जो जल निकलता है, उसे स्वेद कहते हैं" यों होगा। यद्यपि शरीर से निकलने वाला जल वर्षाजल से भिन्न होता है परन्तु पसीने का जल एवं वर्षाजल दोनों मूलतः तो बिन्दुरूप ही होते हैं अतः उतने अंश में पसीने के जल को वर्षाजल के समान कहने के लिये उसे "अवर्ष्य" कहा गया है। पसीने का जल जैसे वस्त्र आदि में एकमेक हो जाता है, ठीक इसी प्रकार तपज्ञानादिभाव से संयुक्त वक्ताओं के तपज्ञान आदि भाव भी भगवद्गुणगान में मिश्रित हो जाते हैं। जैसे पसीने का जल शुद्ध कार्यों में उपयोगी नहीं होता, केवल शरीर का ताप ही दूर करता है, किसी अन्य का ताप दूर नहीं कर सकता, वैसे ही तपोज्ञानादिभावों से संयुक्त वक्ता किसी दूसरे के ताप का निवारण नहीं कर सकते। इसलिये ऐसे वक्ताओं का सङ्ग भी उपयोगी नहीं होता। ये लोग विशेषकर तप आदि में ही अभिनिविष्ट रहते हैं अतः इनमें भगवद्गुणों का माहात्म्य गौण ही रहता है। कभी भगवद्गुण प्रधान हो भी जाएँ तथापि ऐसों का सङ्ग प्रकृत संदर्भ में उपयोगी नहीं है।

अवर्ष्यत्वं च वर्ष्यभिन्नत्वे सति तत्समानत्वं, तच्च भूयः प्रक्षरणाद्बोध्यम् । सायणीये तु वर्ष्यनैरपेक्ष्येण भूमाववस्थिता अवर्ष्या इति व्याख्यातम्, तन्नास्माकं रोचते । पर्युदासस्य सदृग्ग्राहित्वेन भूमाववस्थिते तत्सदृशत्वाभावात् । अतस्तदर्थं तत्र स्वेदजलमेव ग्राह्यं, भूयः सादृश्यादिति ॥८॥

"अवर्ष्य" का अर्थ है- वर्षाजल से भिन्न होते हुए भी वर्षाजल के समान जल। समानता यह है कि, वर्षाजल भी आकाश से वारंवार स्रवित होता रहता है और पसीने का जल भी शरीर से वारंवार स्रवित होता रहता है। सायणीयभाष्य में "अवर्ष्य" का अर्थ "वर्षाजल के जल से सम्बन्धित न होकर केवल भूमि पर पड़े जल को अवर्ष्य कहते हैं" इस प्रकार से किया गया है, जो हमें ठीक नहीं लगता। आगे आने वाली पङ्क्ति में टीकाकार सायणभाष्य में किये गये "अवर्ष्य" शब्द के अर्थ से उन्हें कहाँ विरोध है, यह बता रहे हैं। सायणाचार्यजी ने अवर्ष्य का अर्थ- "जो वर्षा का जल न हो, उस जल को अवर्ष्य कहते हैं" यों किया है। यानि "अ" को निषेध अर्थ में लिया है। यानि "अ" वर्षाजल का निषेध कर दे रहा है, वर्षाजल को हटा दे रहा है। टीकाकार को यह मान्य नहीं है। वे कहते हैं- "अ" का अर्थ हमेशा किसी का निषेध करने में नहीं होता। अथवा ये समझें कि "अ" जिसके संग लगा हो, उस वस्तु का सर्वथा निषेध ही कर देता हो, उसकी सत्ता को हटा देता हो, ऐसा नहीं है। "पर्युदास" शब्द का अर्थ होता है- किसी वस्तु को हटाना या उसका निषेध करना। किन्तु पर्युदास का वास्तविक तात्पर्य वस्तु की सत्ता को मिटाना नहीं होता अपितु "उस वस्तु के जैसा ही परन्तु फिर भी उससे भिन्न" इस अर्थ में होता है। तात्पर्य यह हुआ कि पर्युदास का अर्थ किसी का अभाव बताना नहीं अपितु उससे कुछ समानता दिखाते हुए भी उसके जैसा न बताने में होता है। जैसे कह दिया जाय "अमित्रं"। अब "अमित्रं" शब्द का अर्थ मित्र का न होना नहीं है अपितु उस व्यक्ति से है, जिसका अस्तित्व तो है परन्तु वो अपना मित्र नहीं है। ठीक इसी प्रकार कह दिया जाय "अधातु"। तो "अधातु" शब्द का अर्थ धातु का न होना नहीं है अपितु उस वस्तु से है, जो धातु के जैसी दिखाई तो देती है परन्तु फिर भी धातु नहीं है। यानि कि जिस वस्तु का पर्युदास अर्थ किया गया होता है, वहाँ पर्युदास उस वस्तु की सत्ता को नहीं मिटाता परन्तु उससे कुछ समानता बताते हुए भी उस वस्तु का अर्थ नहीं लेता। जैसा कि हमने ऊपर अमित्र, अधातु इत्यादि शब्दों के उदाहरण द्वारा समझा। टीकाकार का कहना है कि सायणाचार्यजी ने "अवर्ष्य" शब्द में पर्युदास का अर्थ निषेध अर्थ में कर दिया है, जो उचित नहीं है। क्योंकि पर्युदास तो सदृशता या समानता दिखाता है। यदि सायणाचार्यजी के अनुसार "अवर्ष्य" का अर्थ वर्षाजल से सम्बन्धित न मानते हुए भूमि पर पड़ा हुआ जल मान लिया जाय, तो पसीने के जल से उसकी सदृश्यता या समानता कैसे की जा सकेगी ? अतः यदि पसीने के जल से तुलना करनी हो तो टीकाकार कहते हैं कि, मेरे अनुसार अर्थ करना ही ठीक है। इसलिये अवर्ष्य का अर्थ पसीने का जल ही करना चाहिए क्योंकि वर्षाजल एवं पसीने के जल में कई समानताएँ हैं॥ ८॥

अतःपरं 'ह्रादुनीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य कीर्तयितृनिष्ठमुत्कृष्टं त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेनेत्यादि** ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥

तुः पूर्वोक्तसादृश्यभेदकः । अलौकिकं भगवत्कृपाजन्यं महदनुग्रहजन्यं वा अलौकिकार्थप्रकाशकत्वाल्लोकविलक्षणं यत् ज्ञानं, तेन प्रत्यासत्तिभूतेन मनसि तेषां भानात्तेनैव श्रोतुरधिकारस्यापि भानात् प्रकर्षेण तदधिकारानुसारेणोक्ताः कादाचित्काः श्रोतृणां

कस्मिंश्चित्कालविशेष एव बुद्धिगोचराः शब्दगम्या आप्तवाक्यादेव ज्ञायमाना ईदृशा ये हरेः सर्वदुःखहर्तुर्गुणाः रूपलीलाविशेषाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । 'पत्लृ गतौ,' पतन् सर्वतो गच्छन् शब्दो ह्रादो यासामपां ताः पतच्छब्दास्तादृशाः प्रकर्षेण कीर्तिताः । तथा च भगवतो रहस्या ये गुणास्ते तादृशेभ्य एव कीर्तयितृभ्यः श्रोतृभिः प्राप्यन्ते, न सर्वैः । अतस्तादृशाधिकारसम्पत्तौ तादृशां कीर्तयितृणां सङ्गः सर्वथा कार्य एवेति भावः ॥९॥

इसके पश्चात् आचार्यचरण "ह्रादुनीभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार कीर्तन करने वालों में रहने वाला उत्कृष्ट तेरहवाँ भाव अलौकिकेन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

"तु" शब्द बताता है कि इस श्लोक में कहे गये वक्ता पूर्व में कहे गये वक्ताओं से अलग हैं। यहाँ आचार्यचरण अलौकिकज्ञान से पूर्ण हरिगुणगान करने वाले वक्ताओं के विषय में कह रहे हैं। अलौकिकज्ञान का अर्थ है- भगवत्कृपा से या महानुभावों के अनुग्रह से अलौकिक-अर्थ को प्रकाशित करता होने के कारण लोक से विलक्षणज्ञान। इस अनुभूत हुए अलौकिकज्ञान का भान मन में ही होता है और उसी अलौकिकज्ञान से उन्हें श्रोता के अधिकार का भी भान हो जाता है अतः वे श्रोताओं के अधिकारानुसार ही हरिगुण का वर्णन करते हैं। और ऐसा गुणगान उनके मुख से कभी-कभार ही निकलता है अर्थात् वह गुणगान श्रोताओं को किसी विशेष काल में ही बुद्धिगम्य बन पाता है, इसलिये आपश्री ने इन्हें "कादाचित्काः" कहा है। इन्हें आचार्यचरण शब्दगम्याः भी कह रहे हैं, जिसका अर्थ है- इन्हें इनके यथार्थवाक्यों द्वारा ही पहचाना जा सकता है कि ये अलौकिकज्ञान द्वारा सर्वदुःखहर्ता हरि का गुणगान कर रहे हैं। पतच्छब्दाः का अर्थ समझें। "पत्लृ" धातु गति अर्थ में प्रयुक्त होती है(पा०धातुपाठ १-९७९)" तदनुसार झरने से गिरते हुए जिस जल का चारों तरफ नाद होता है, उसे "पतच्छब्दाः" कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, भगवान के रहस्यमयी गुण ऐसे पतच्छब्द समान कीर्तनकारों द्वारा ही श्रोतागण प्राप्त करते हैं, अन्य सभी वक्ताओं द्वारा नहीं। इसलिये जब भगवान के ऐसे रहस्यमय गुणों का श्रवण करने का अधिकार प्राप्त हो जाय, तब ऐसे अलौकिकज्ञान रखने वाले कीर्तनकारों का सङ्ग सर्वथा करना ही चाहिए- यह भाव है॥ ९॥

अतःपरं 'पृष्वाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य चतुर्दशं जघन्यं भावमाहुः देवेत्यादि ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।

देवाः श्रौताः पौराणिकाश्च शिवाग्निदुर्गागणपतिप्रभृतय आदिशब्देनान्ये पितृमात्रादयस्तेषामुपासनं स्वरूपचिन्तनं सेवनं वा तेनोद्भूता उपासके उद्गताः स्वयमन्यैश्चानुभूयमाना इति यावत् । ईदृशा ये गुणाः ज्ञानबलसामर्थ्यादयस्ते पृष्वाः अवश्यायजन्या आपः पृष्वा इति सायणभाष्ये व्याख्यातं, तत्तुल्याः । ता यथा पाषाणभूमौ पतिताः, तत उद्गता इव भासन्ते, न तु तास्तदीयाः, एवं तेऽपि गुणा भगवदीया एव, 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भव'मिति गीतावाक्योक्तन्यायात् । परन्तु तानुपासकाः स्वीयत्वेन देवीयत्वादिना वा भ्रमान्मन्यन्ते, तेन च उत्सिच्यन्ते साहंकारा भवन्तीति यावत् । अतस्तेषां स्वरूपं फलं च जघन्यमेव । नीहारेण प्रावृता इति श्रुतौ नीहारस्य ज्ञानतिरोधायकत्वेनोक्तत्वादिति तेषूत्कर्षबुद्धिस्तादृशां सङ्गश्च न कार्य इत्यर्थः ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण "पृष्वाभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार चौदहवाँ जघन्यभाव देव इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

देवाः का अर्थ है- श्रुति और पुराण में कहे गये शिव, अग्नि, दुर्गा, गणपति जैसे देवतागण। आदि शब्द से इनके अतिरिक्त पिता, माता इत्यादि का अर्थ ले लेना चाहिए ; इन सभी की उपासना, इनके स्वरूप का चिंतन या इनकी सेवा करने से उपासक में जो ज्ञान-बल-सामर्थ्य आदि गुण प्रकट होते हैं, यानि स्वयं उसे अनुभूत होने वाले या फिर दूसरों को उसमें अनुभूत होने वाले जो ज्ञान-बल-सामर्थ्य आदि गुण होते हैं, वे पृष्व कहे जाते हैं। सायणाचार्यजी ने इसकी व्याख्या "अवश्यायजन्याः पृष्वाः(सायणभाष्य ७-४-१३)" इस वाक्य द्वारा की है। ये गुण पृष्व के समान होते हैं। जिस प्रकार पृष्व का जल वैसे तो पत्थर वाली भूमि पर गिरा होकर यों दिखाई पड़ता है मानों पत्थर में से ही निकल रहा हो, परन्तु वो पत्थर में से निकलने वाला जल नहीं होता, वैसे ही "वैकुण्ठजगत में ही नहीं अपितु प्राकृतजगत में भी जो कोई वस्तु ऐश्वर्य अथवा कांति से युक्त हो, उसे तू मेरे तेज-अंश से उत्पन्न हुई जान(भ०गी० १०-४१)" इस गीतावाक्यानुसार ये सारे गुण भगवान के ही हैं परन्तु इन देवताओं के उपासक भ्रमवश या तो इन्हें अपने खुद के मान लेते हैं या फिर उन देवताओं के मान लेते हैं जिसके कारण फिर उनमें अहंकार पनप जाता है। इसलिये ऐसे ज्ञान-बल-सामर्थ्य आदि गुणों का स्वरूप एवं फल जघन्य ही होता है। और श्रुति में तो "नीहारेण प्रावृता(तै०सं ४-६-२-५)" इस वाक्यानुसार कहा ही गया है कि, कोहरा ज्ञान को ढँक देता है। इसलिये ऐसों में उत्कर्षबुद्धि नहीं रखनी चाहिए एवं ऐसों का संग भी नहीं करना चाहिए- यह अर्थ है।

अतःपरं 'स्यन्दमानाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य पञ्चदशं भावमाहुः साधनेत्यादि ।

साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गत: ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्मा: स्यन्दमाना: प्रकीर्तिता: ।

साधनानि वर्णाश्रमधर्मास्ते आदयो यस्य तादृशो य: प्रकारो मर्यादामार्गीयो निष्कामतत्करणरूपस्तेन प्रकारेण यो नवधा भक्तिमार्ग: । 'श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणे'ति वाक्योक्तो मार्गो भगवत्प्राप्त्युपाय: । ततो या प्रेम्ण: भगवद्भक्तिरूपस्य पूर्तिर्हृदये व्याप्तिस्तया कृत्वा स्फुरन्तो भगवद्धर्मा येषु ते स्यन्दमाना: प्रकीर्तिता: । 'स्यन्दू प्रस्रवणे', प्रस्रवणरूपा या आपस्तादृशा: । ता यथा स्नानपानाचमनादौ प्रशस्ता: स्वसंयुक्तां भूमिं शीतलां कुर्वन्ति, सर्वानुपकुर्वन्ति च, तथा तादृशगुणाधारा: पुरुषा अपि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वान् श्रोतॄन् द्रष्टॄंश्च स्वात्मनश्च भगवदुपयोगिन: कुर्वन्तीति तादृशां सङ्ग: कार्य इत्यर्थ: ॥१०॥

अब आचार्यचरण "स्यन्दमानाभ्य: स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार पद्रहवें प्रकार के वक्ता का भाव साधन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। साधनादि का अर्थ है- वर्णाश्रमधर्म आदि मर्यादामार्गीय निष्कामभाव से किये जाते साधन; और इन साधनों के साथ नवधा भक्तिमार्ग में बताये उपाय किये जाते हैं, वे। जैसा कि "भगवान की भक्ति के नौ भेद हैं। भगवान के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उनका कीर्तन, उनका स्मरण, उनके चरणों की सेवा, उनकी अर्चना, उनका वन्दन, उनका दास्य, उनका सख्य और उनके प्रति आत्मनिवेदन(श्री०भा० ७-५-२३)" इस वाक्य द्वारा बताया गया है। यानि कि पूर्व में कहे मर्यादामार्गीय साधन के साथ-साथ नवधाभक्ति के उपायों के द्वारा जो भगवद्भक्तिरूपी प्रेम की पूर्ति हृदय में होती है अर्थात् भगवद्भक्ति हृदय में व्याप्त होती है, उसके द्वारा जिनके हृदय में भगवद्धर्म स्फुरित होते हैं, वे वक्ता "स्यन्दमान" कहे जाते हैं। "स्यन्दू धातु प्रस्रवण अर्थ में प्रयुक्त होती है(पा०धातुपाठ १-१८५)" तदनुसार प्रसरित होने वाले जल को "स्यन्द" कहते हैं और ये वक्ता स्यन्द के समान होते हैं। स्यन्द का जल जैसे स्नान-आचमन इत्यादि में प्रशस्त माना गया है, जिस भूमि पर गिरता है उसे शीतल कर देता है और सभी के लिये उपकारी होता है: ठीक वैसे ही स्यन्द जैसे गुण धारण करने वाले वक्ता भी पूर्व में कहे प्रकार से सभी श्रोताओं को, उनका दर्शन करने वालों को और खुद उनको भी भगवान के उपयोगी बना देते हैं अतः इनका सङ्ग करना चाहिए- यह अर्थ है॥ १०॥

अत:परं 'स्थावराभ्य: स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य षोडशं भावमाहु: यादृशा इत्यादि ।

यादृशास्तादृशा: प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिता: ॥११॥
स्थावरास्ते मया ख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिता: ।

यादृशा: साधनादीत्यारभ्य धर्मा इत्यन्तेन यत्प्रकारका: सिद्धास्तादृशास्तत्प्रकारका: सन्त: प्रोक्ता: प्रकर्षेण शास्त्रे उक्ता:, ये गुणाधारा वृद्धिक्षयविवर्जिता: न वर्धन्ते, न वा क्षीयन्ते, किन्त्वेकरूपास्तिष्ठन्ति । किञ्च, मर्यादैकप्रतिष्ठिता: । 'एके मुख्यान्यकेवला:' मर्यादायामेव एके च ते प्रतिष्ठिताश्च एकप्रतिष्ठिता: मुख्या: प्रतिष्ठां च प्राप्ता: ते गुणाधारा मया स्थावरा एकत्र प्रतिष्ठिता या आपस्ता: स्थावरा: तत्तुल्या: ख्याता: प्रकथिता: । ता यथा एकत्रैव तिष्ठन्ति स्वाधारमेव च शीतलीकुर्वन्ति, गुणवत्तया ख्यापयन्ति च । नतु स्वत उद्यम्यान्यानुपकुर्वन्ति, तथा ते गुणाधारा: पुरुषा अपि स्वसम्बद्धान् स्वाधारं च ख्यापयन्ति । तेन तादृशां सङ्गस्तावन्मात्रगुणक:, न तु विशेषानुग्रहफलक इत्यर्थ: । अत्र मयेत्युक्त्या नान्येषां सम्मतिरिति बोधितम् । अन्येषां मर्यादाप्रतिष्ठितत्वेन पुष्टिस्वरूपस्याज्ञानान्मार्यादिकेषूत्कृष्टबुद्धेरिति ॥११½॥

इसके पश्चात् "स्थावराभ्य: स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार आचार्यचरण सोलहवें प्रकारके वक्ता का भाव यादृशाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यादृशाः शब्द से आपश्री का तात्पर्य पूर्वश्लोक में कहे मर्यादामार्गीय साधनादि द्वारा नवधाभक्तिरूप उपायों से भगवत्प्रेम प्राप्त करने वाले वक्ताओं से है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ये वक्ता शास्त्रों में विशेषरूप से कहे गये हैं और यदि ये वृद्धिक्षयरहित रहते हों यानि भगवत्प्रेम वाली स्थिति में पहुँच कर न उस स्थिति से आगे बढ़ें और न ही घटें, तो स्थावर(ठहरे हुए जल)समान कहलाते हैं। तात्पर्य यह कि ये केवल मर्यादामार्ग में ही प्रतिष्ठित(स्थित) रहते हैं। मर्यादा+एक+प्रतिष्ठित में प्रयुक्त हुए "एक" शब्द के कोशानुसार "मुख्य-अन्य-केवल(अमरकोश ३-३-१६)" यों तीन अर्थ होते हैं। यहाँ प्रयुक्त हुए "एक" शब्द का अर्थ "केवल" है। तात्पर्य यह हुआ कि ये केवल मर्यादा में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- "ऐसे भगवद्गुणों के आधाररूपी वक्ताओं को मैं स्थावर मानता हूँ अर्थात् एक स्थान पर एकत्र हुए जल के समान मानता हूँ"। एक स्थान पर एकत्र हुआ जल जैसे एक ही स्थान पर जमा रहता है और केवल अपने आधार को ही शीतल करता है, अपने स्थान की गुणवत्ता की भी ख्याति बढ़ाता है, किन्तु अपने आप बहते हुए किसी के

लिये उपयोगी नहीं होता ; ठीक वैसे ही ऊपर कहे भगवद्गुणों को धारण करने वाले वक्ता भी अपने से सम्बन्धित लोगों के ही उपयोगी होते हैं एवं जिस स्थल पर रहते हैं, उस स्थल को प्रसिद्ध करते हैं। इसलिये निष्कर्ष यह हुआ कि, इन वक्ताओं का सङ्ग केवल सीमित मात्रा में ही गुणकारी होता है, श्रोताओं को विशेष अनुग्रहरूपी फल नहीं देता- यह अर्थ है। आचार्यचरणों ने इनके लिये "मैं ऐसा मानता हूँ" यों कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि ये आपश्री की स्वतन्त्र सोच है और इसमें अन्यों की सहमति होनी आवश्यक नहीं है। क्योंकि वैसे भी मर्यादामार्गीय लोग तो पुष्टिस्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण मर्यादामार्गीय प्रकार को ही उत्कृष्ट मानते हैं॥ ११ १/२॥

अतःपरं 'नादेयीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य सप्तदशं भावं सार्धेनाहुः अनेकेत्यादि ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

अनेकेषु जन्मसु संसिद्धाः सम्यक्सिद्धाः पूर्वानुरूपतया सिद्धाः । जन्मप्रभृतीति क्रियाविशेषणम् । एतज्जन्मारभ्य, सर्वदा सर्वस्मिन्काले सङ्गातगुणदोषाभ्यां, आदिशब्देन कालकर्मदेशस्वभावास्तत्कृतौ यौ गुणदोषौ ताभ्यां कृत्वा भुवि भवनं भूः उत्पत्तिर्विद्यमानता वा तस्यां वृद्धिक्षययुताः सत्सङ्गेन समीचीनदेशकालकर्मस्वभावैर्वृद्धिमन्तः दुःसंगादसमीचीनकालकर्मदेशस्वभावैः क्षयं प्राप्नुवन्तः, ईदृशाः सन्तोपि निरन्तरोद्गमयुता निरन्तरो यदुद्गमः प्रवाहस्तेन युतास्तादृशा ये गुणास्ते नादेयीनामपामाधारभूता या नद्यस्तत्तुल्याः कीर्तिताः ।

इसके पश्चात् "नादेयीभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार आचार्यचरण सत्रहवें प्रकार के वक्ता का भाव अनेक इत्यादि डेढ़ श्लोक द्वारा कह रहे हैं।

अनेक जन्मों में जिनको भगवद्भाव सिद्ध हुआ है, उन्हें आचार्यचरण **अनेकजन्मसंसिद्धाः** कह रहे हैं। श्लोक में प्रयुक्त हुआ "जन्मप्रभृति" शब्द क्रियाविशेषण है यानि कि ये क्रिया की विशेषता बतला रहा है। इसका अर्थ है- इस जन्म से लेकर। तात्पर्य यह कि, जन्म से लेकर सर्वदा/सभी काल में संसार के गुणदोषों से प्रभावित होते हुए और आदि शब्द से काल-कर्म-देश-स्वभाव इत्यादि के कारण उत्पन्न होने वाले जो गुणदोष हैं ; उन जन्म एवं गुणदोष दोनों से प्रभावित होते हुए पृथ्वी पर उत्पन्न हुए अथवा पृथ्वी पर विद्यमान रहने वाले और जिनके भावों में वृद्धिक्षय होता रहता है अर्थात् सत्सङ्ग मिल जाए तो उचित देश-काल-कर्म-स्वभाव के द्वारा इनका भाव वृद्धि को प्राप्त होता है और दुःसङ्ग मिल जाए तो अनुचित देश-काल-कर्म-स्वभाव के द्वारा इनका भाव कम हो जाता है ; ऐसा होने पर भी ये निरन्तरोद्गमयुता होते हैं अर्थात् इनमें भावों का उद्गम/प्रवाह सदा बना रहता है इसलिये इनके भीतर रहने वाले भगवद्गुण नादेयी(नदी का उद्गमस्थल) नामक जल की जो आधारभूता नदी होती है, अर्थात् जिस नदी से अन्य छोटी-मोटी नदियाँ या तालाब निकलते हैं, उसके समान कहे जाते हैं- यह अर्थ है। नादेयी उस नदी को कहा जाता है जो यद्यपि वर्षाकाल में बढ़ती है और ग्रीष्मकाल में कुछ सूख भी जाती है परन्तु उसका प्रवाह निरन्तर बना रहता है और उसी में से अन्य छोटी-मोटी नदियाँ या सरोवर, तालाब आदि निकलते हैं। इसी लक्षण को लेकर ऊपर कहे वक्ताओं की तुलना नादेयी से की गयी है।

तथा च नद्यो यथा काश्चित्स्वभावतः शुभाः काश्चिदुष्टाः, यथा गङ्गादयः, कर्मनाशादयश्च, काश्चन कालतः, यथा 'कलौ वेत्रवती गङ्गे'ति । गङ्गा च न पूर्ववत्स्नानमात्रेण कुष्ठं हरतीति, तथा देशतः, यथा भागीरथी महानदी च प्रवाहदेशभेदात् । एवं संगादपि ज्ञेयाः, यथा श्रीयमुनासङ्गेन गंगा उत्कृष्टा जाता, तासां जलं च तादृशमेव, तथा तद्भावा अपीति तन्निष्ठा गुणा अपि तत्स्वरूपा इति तादृशां संगो न निश्चयेनोत्तमफलद इत्यर्थः । अत्र च नदीनामेतावद्विशेषणकथनं दार्ष्टान्तिके एतेषामेव धर्माणां प्राप्त्यर्थम् । तेन भावेषु गुणेषु तदाधारेषु चैत एव धर्मा अतिदेष्टव्याः, नेतर इति सूचितम् । अन्यथैतावत्कथनवैयर्थ्यापत्तेरिति ॥ १२ ॥ १३॥

इसका अर्थ यह हुआ कि, जिस प्रकार कोई नदी स्वभाव से शुद्ध होती है, कोई स्वभावतः दुष्ट होती है ; जैसे कि गङ्गा नदी और कर्मनाशा नदी। कोई नदी कालान्तर में उत्तम बनती हैं, जैसा कि "कलियुग में वेत्रवती नदी गङ्गा समान है" इस वाक्य में कहा गया है। तात्पर्य यह कि यद्यपि वेत्रवती नदी का पूर्वकाल में ऐसा कोई विशेष माहात्म्य प्राप्त नहीं होता परन्तु कलियुग में उसे गङ्गासमान कहा जाने लगा। और, गङ्गा भी अब पहले की तरह केवल स्नानमात्र से कुष्ठरोग दूर नहीं करती। उसी प्रकार कोई नदियाँ स्थान के कारण उत्तम मानीं जाती हैं, जैसे कि भागीरथी और महानदी। यद्यपि ये दोनों एक ही नदी हैं और एक ही स्रोत से निकलती हैं परन्तु आगे चल कर दो अलग-अलग स्थानों पर इनके नाम बदल जाते हैं। इसी प्रकार सङ्ग के कारण भी नदियों में उत्तमता आती है, जैसे कि श्रीयमुनाजी के सङ्ग के कारण गङ्गाजी उत्कृष्ट बनी हैं। तो जैसे उपर्युक्त नदियों का जल देश-काल-स्वभाव के अनुसार बदलता जाता है, ठीक वैसे ही इन नदियों के दृष्टान्त द्वारा कहे जाने वाले वक्ताओं के भाव भी देश-काल-स्वभाव के अनुसार बदलते जाते हैं, उसी

प्रकार इनमें रहने वाले भगवद्गुण भी बदलते जाते हैं एवं उन भगवद्गुणों का स्वभाव भी बदलता जाता है ; इसलिये ऐसे वक्ताओं का सङ्ग निश्चितरूप से उत्तम फलदायी नहीं होता- यह अर्थ है। अभी ऊपर हमने नदियों के जितने विशेषण कहे हैं, उनसे यह समझना चाहिए कि इनके माध्यम से बताये जाने वाले दार्ष्टान्त यानि वक्ताओं में भी इन नदियों जैसे ही देश-काल-स्वभाव से प्रभावित होने वाले धर्म होते हैं। इसलिये इन वक्ताओं के भावों में, उनमें रहने वाले भगवद्गुणों में एवं स्वयं इनमें भी इन्हीं नदियों के ही धर्म समझ लेने चाहिए, इनके अतिरिक्त नहीं- यह सूचित किया गया है। यदि आचार्यचरणों को इस श्लोक में कहे वक्ताओं में वे गुणधर्म बताने अपेक्षित न होते जो हमने अभी ऊपर नदियों के बताये हैं, तो आपश्री व्यर्थ में इनके लिये नदियों का दृष्टान्त क्यों देते ?॥ १२ ॥ १३ ॥

अतःपरं 'सैन्धवीभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्याष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इत्यादि ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत् सिन्धवः परिकीर्तिताः ।

अत्रैतादृशा इत्यनेनाद्यन्तविशेषणयोः संग्रहः । स्वतन्त्रा इत्यनेन मध्यविशेषणनिरासः क्रियते । तथा चैतादृशा अनेकजन्मसंसिद्धा निरन्तरोद्गमयुताः स्वतन्त्राः जन्मप्रभृति सर्वदा संगगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षयरहिताश्चेत्स्युः तदा ते जीवाः सिन्धवः समुद्रगामिन्यो महानद्यो महानदाश्च तत्तुल्याः परिकीर्तिताः । तेषां भावो महानदीजलतुल्यः । तद्यथा दृष्टं स्पृष्टं समीचीनव्यवहारेण शुभफलं गृहादावानीतमपि शुभम्, तथा तद्गता गुणा अपि स्वरूपतः फलतश्चोत्तमा इति तादृशां संगः कर्तव्य इति भावः ॥१३½॥

इसके पश्चात् "सैन्धवीभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार आचार्यचरण अठारहवें प्रकार के वक्ता का भाव एतादृशाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आगे बढ़ने से पहले इस श्लोक में कहे "एतादृशाः" पद से आचार्यचरण किस प्रकार के वक्ता के विषय में कहना चाह रहे हैं, यह समझ लें। आपश्री ने पूर्व के श्लोक में जिस प्रकार के वक्ताओं की बात की, उनमें तीन वक्ता विशेष थे - (१) अनेकजन्मसंसिद्धाः अर्थात् अनेक जन्म लेने के पश्चात् जिन्हें भगवद्भाव प्राप्त हुआ, ऐसे। (२) सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुताः अर्थात् जैसा सङ्ग मिले उसके गुण और दोषों के अनुसार जिनका भाव बढ़ता और घटता हो। (३) निरन्तरोद्गमयुताः अर्थात् ऐसे वक्ता निरन्तर बहने वाली नदी समान होते हैं। टीकाकार कहते हैं, एतादृशाः शब्द से आचार्यचरणों का तात्पर्य यही पूर्व के ही वक्ता हैं परन्तु ध्यान रखने वाली बात यह है कि, दूसरे वाले विशेषण को यहाँ नहीं गिनना चाहिए। अर्थात् एतादृशाः शब्द से आपश्री इस श्लोक में बताए जाने वाले वक्ताओं के लिये केवल पहला और तीसरा विशेषण ही लेना चाह रहे हैं, दूसरा नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर आगे अनुवाद पढ़ें। इस श्लोक में एतादृशाः शब्द से पूर्व में कहे प्रकार के वक्ता लिये प्रयुक्त हुए तीन विशेषणों में से पहला और तीसरा विशेषण ही लेना चाहिए। एतादृशाः के पश्चात् आए "स्वतन्त्राः" शब्द से ही आचार्यचरण मध्य वाला विशेषण हटाए दे रहे हैं। कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि, "अनेकजन्मसंसिद्ध" और "निरन्तरोद्गमयुता" वक्ता यदि स्वतन्त्र हो जाएँ अर्थात् जन्म से लेकर सदा-सर्वदा गुणदोषों से वृद्धिक्षयरहित हो जाएँ(सङ्ग के अनुसार न उनके भावों में वृद्धि हो और न क्षय), तो ऐसे जीव सिन्धवः अर्थात् समुद्र में जा मिलने वाली महानदी के समान कहे जाते हैं। अर्थात् सङ्ग के गुणदोषों के कारण भावों में वृद्धिक्षय होने वाली न्यूनता यदि इनमें से हट जाए, तो इनका भाव महानदी/महानद के समान कहलाता है। जिस प्रकार महानदी का जल देखने में, स्पर्श करने में, उसके संग समुचित व्यवहार करने से शुभफल को देने वाला होता है और यदि उसका जल घर भी लेकर आ जाएँ, तो भी शुभ माना जाता है ; ठीक उसी प्रकार इन वक्ताओं में प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुण भी स्वरूपतः और फलतः दोनों प्रकार से उत्तम होते हैं अतः ऐसे वक्ताओं का सङ्ग करना चाहिए- यह भाव है॥ १३ १/२॥

अतःपरं 'समुद्रियाभ्यः स्वाहे'ति श्रुतिमनुसृत्य तत उत्तममूनविंशं भावमाहुः पूर्णा इत्यादि ।

पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

पूर्णाः ज्ञानक्रियाभक्तिसाफल्ययुक्ताः भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनः । भगवदीयशब्दो अव्युत्पन्नो वैडूर्यादिशब्दवद्रूढो 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्था' इति श्रीभागवतपञ्चमस्कन्धे प्रयोगादवगन्तव्यः । य इति दुर्लभत्वं तेषां सूच्यते । तान् गणयन्ति शेषेत्यादि । शेषः संकर्षणः सनत्कुमारोपदेष्टा । व्यासो भगवान् बादरायणः, भगवतो ज्ञानावतारः, समाधौ भगवत्स्वरूपं लीलां चानुभूय श्रीभागवतमुक्तवान्, शुकं च पाठितवान् । अग्निरग्निपुराणवक्ता, मारुतो वायुपुराणवक्ता, जडो रहूगणोपदेष्टा, नारदः प्रसिद्ध एव, सनत्कुमारशिष्यः प्राचीनबर्हिर्गुरुः, मैत्रो मैत्रेयः विदुरोपदेष्टा, आदिपदेन शिवादिसङ्ग्रहः । ते समुद्राः प्रकीर्तितास्तेषां भावः समुद्रजलतुल्यः । समुद्रजलं यथातिगम्भीरं अक्षोभ्यं रत्नानामाकरभूतं तथा तेषां भावोप्यत्यन्तगम्भीरोऽक्षोभ्यो नानाविधभावाकरश्चेति

तन्निष्ठा गुणा अपि तथेति तादृशां संगः सेवा च स्वरूपतः फलतश्चोत्तमेति सा कार्येत्यर्थः ॥१४१/२॥

अब इसके पश्चात् आचार्यचरण "समुद्रियाभ्यः स्वाहा" इस श्रुति के अनुसार पूर्वश्लोक में कहे वक्ता से भी उत्तम उन्नीसवें प्रकार के वक्ताओं का भाव पूर्णा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इन भगवदीयों में पूर्णता यह है कि, इनमें ज्ञान-क्रिया-भक्ति फलपर्यंत प्राप्त हो चुकी होती है ; भगवदीय का अर्थ है- जो भगवान से सम्बन्धित है, वो। "भगवदीय" शब्द की वैसे व्याकरणानुसार कोई व्युत्पत्ति नहीं है परन्तु भगवत्सम्बन्धित के अर्थ में रूढ़ हो चुका है, जैसे कि "वैडूर्य" आदि शब्द रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। "वैडूर्य" का अर्थ यों तो "दूर" होता है परन्तु लोक में इसे "आभूषण" के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, वैसे। "भगवदीय" शब्द का अर्थ श्रीभागवत के पंचमस्कंध में किये "भगवदीय हो जाने से ही समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं(श्री०भा० ५-६-१७)" इस प्रयोग द्वारा समझ लेना चाहिए। आपश्री ने इनके लिये "ये(जो)" शब्द का प्रयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि ऐसे भगवदीय प्राप्त होने बड़े दुर्लभ होते हैं। उन्हीं भगवदीयों को आपश्री शेष इत्यादि नामों द्वारा गिना रहे हैं। शेष अर्थात् संकर्षण, जिन्होंने सनत्कुमारों को उपदेश दिया था। व्यासजी अर्थात् भगवान बादरायण, भगवान के ज्ञानावतार, जिन्होंने समाधि में भगवत्स्वरूप एवं भगवल्लीला का अनुभव करके श्रीभागवत कही और श्रीशुकदेवजी को पढ़ाई। अग्नि अर्थात् अग्निपुराण के वक्ता अग्निदेव। मारुत अर्थात् वायुपुराण के वक्ता। जड़ अर्थात् जड़भरतजी जिन्होंने राजा रहूगण को उपदेश दिया। नारदजी तो खैर प्रसिद्ध ही हैं, जो सनत्कुमारों के शिष्य और प्राचीनबर्हि के गुरु हैं। मैत्र अर्थात् मैत्रेयजी, जिन्होंने विदुरजी को उपदेश दिया। आदि पद से शिव इत्यादि देवताओं को समझ लेना चाहिए ; ये सभी भगवदीय समुद्र कहे गये हैं, इनका भाव समुद्रजल के समान होता है। जैसे समुद्रजल अतिगंभीर होता है, उसमें कभी विकार नहीं आता और उसमें रत्नों का खजाना भरा होता है, ठीक वैसे ही इन भगवदीयों का भाव भी अत्यन्त गंभीर होता है, उसमें कभी विकार नहीं आता और इनमें अनेक प्रकार के भावों का खजाना होता है और इन भगवदीयों में प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुण भी अति गंभीर होते हैं, उनमें कभी विकार नहीं आता इसलिये ऐसे भगवदीयों का सङ्ग एवं उनकी सेवा स्वरूपतः और फलतः दोनों दृष्टि से उत्तम है अतः करनी चाहिए॥ १४ १/२॥

पूर्वं भावनिरूपणारम्भे श्रुतिपुराणसिद्धाः गन्धर्वाः 'कूपभेदास्त्वि'त्यर्धेन यथा नानाभेदा उक्तास्तथा अन्ते पुराणादिप्रसिद्धान् भगवदीयानपि नानाभेदान् द्वाभ्यामाहुः लोकेत्यादि ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।
गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्यानं सुदुर्लभम् ॥१७॥

लोकश्च वेदश्च गुणाश्च लोकवेदगुणास्तैर्मिश्रभावेन मिलितत्वेन एके मुख्यभगवदीयाः हरेः सर्वदुःखहर्तुर्भगवतो गुणान् वर्णयन्ति । यथा वाल्मीकी रामायणे रामगुणान् लोकमिश्रानुक्तवान् । यथा चाध्यात्मरामायणे शिवो रामगुणान् वेदमिश्रान् । यथा विष्णुपुराणे पराशरः सत्त्वगुणमिश्रान् । यथा च मनुःस्मृत्यारम्भे रजोमिश्रान् । 'स्वयंभुवे नमस्कृत्ये'त्युक्त्वा पश्चादग्रे सृष्टिं वर्णयिष्यन् 'ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिले तदे'त्युक्तवान् । यथा च वायुर्वायवीये शिवरूपमेव ब्रह्मत्वेनोक्तवान् ।

पूर्व में भावों का निरूपण करने का आरंभ करते समय आचार्यचरणों ने "कूपभेदास्तु" इस आधे श्लोक द्वारा श्रुतिपुराणसिद्ध गन्धर्वों के जिस प्रकार से भेद कहे थे, उसी प्रकार अब अन्त में आपश्री पुराणों में प्रसिद्ध भगवदीयों के भी अनेक भेदों को लोक इत्यादि शब्दों से दो श्लोकों द्वारा कह रहे हैं।

इस श्लोक से आपश्री का तात्पर्य यह है कि- जो लोकानुसारी(१), वेदानुसारी(२), एवं सत्व-रज-तम(३, ४, ५) आदि गुणानुसारी यों ; एवं ६ ठा प्रकार वो जो इन पाँचों के मिलेजुले प्रकार से ; यों कुल छह प्रकार से सर्वदुःखहर्ता-हरि की लीलाओं का गुणगान करते हैं, वे मुख्यभगवदीय हैं और क्षार-आदि छह प्रकार के समुद्र समान कहे जाते हैं। लोकानुसारी अर्थ में गुणगान करने का अर्थ यह है कि, जैसे वाल्मीकि ने रामायण में राम के गुणों को लौकिकगुणों के समान बता कर गुणगान किया है। और वेदानुसारी अर्थ में गुणगान करने का तात्पर्य यह है कि, जैसे अध्यात्मरामायण के वक्ता शिव ने राम के वैदिकगुणों का गुणगान किया है। सत्वरजतम आदि गुणानुसारी गुणगान करने का अर्थ है, जैसे पराशर मुनि ने विष्णुपुराण में सत्त्वगुण से मिश्रित हरि का गुणगान किया है। मनुस्मृति के आरंभ में "स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणे अमिततेजसे। मनुप्रणीतान् विविधान् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वताम्॥ १॥" यह कह कर बाद में सृष्टि का वर्णन

करते हुए "ब्रह्मा नारायणाख्यस्तु सुष्वाप सलिल" इस वाक्य तक रजोमिश्रित गुणगान किया गया है। और, वायुदेवता ने वायुपुराण में तमोगुण से शिव को ही ब्रह्मरूप कहा है।

न च मनोर्भगवदीयत्वाभावः शंक्यः । तृतीयस्कन्धे तस्य तथात्वसाधनात् । न वा वायोः । हनुमदवतारे तस्य रामभक्तत्वेनैव सुप्रसिद्धत्वादिति । न च गुणमिश्रवर्णने गुणाभिमानिवर्णनमिति शंक्यम् । तत्र तदुक्तेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेषु अभिमानित्वापादकस्य कालभयस्यानुक्तत्वात् । अतो गुणावतारा एव तत्रोच्यन्ते, न जीवाः ।

मनु में भगवदीयता नहीं है, ऐसी शंका मत करिये, क्योंकि तृतीयस्कंध में मनु को भगवदीय कह दिया गया है(देखें श्री०भा० ३-२२-३३,३४,३५)। वायु की भी भगवदीयता में शंका मत करिये, क्योंकि हनुमान के रूप में अवतार लेकर रामभक्त के रूप में तो वो प्रसिद्ध हैं ही। आप ऐसी शङ्का मत करियेगा कि, यदि वाल्मीकि ने या शिव ने या वायु ने ब्रह्माविष्णुमहेश आदि देवताओं का सत्वरजतमरूप से गुणगान किया है तो ये जीवों की कोटि में आए साधारण देवताओं का वर्णन है। नहीं, ऐसी शङ्का मत करिये, ये साधारण देवताओं का वर्णन नहीं है अपितु भगवान के गुणों का ही वर्णन है। क्योंकि देवताओं को तो काल का भय होता है कि हमारा काल तो कुछ समय के पश्चात् समाप्त हो जायेगा ; किन्तु ध्यान देंगे तो पता चलेगा कि इनके वर्णन में, "इन्हें कालभय होता है", यह बात कहीं नहीं कही है अतः यह सिद्ध होता है कि, इनके द्वारा किया गया गुणगान कालभय रखने वाले देवताओं का गुणगान नहीं है अपितु गुणावतार भगवान का ही है। इसीलिये वहाँ इन्होंने भगवान के गुणावतार का ही वर्णन किया है, जीवों का नहीं।

एवमत्र लोकवेदगुणमिश्रभावेन पञ्चैव सिध्यन्ति, न षष्ठः, अतो लोकवेदगुणैरुपलक्षितान् मिश्रभावेनोपलक्षितान् हरेर्गुणान् वर्णयन्तीति व्याख्येयम्, तथा सति संकीर्णपुराणवक्तारः षष्ठा भविष्यन्तीति तैः संख्यापूर्तिः । एवञ्च तत्तद्भावस्तत्तज्जलतुल्योवगन्तव्यः । तज्जलं यथा क्षाराम्लमादनाव्यक्तमधुरस्नेहव्यक्तमधुरगुणकम्, तथा तेषां भावोपीति तन्निष्ठा गुणा अपि लोकादिप्रधानास्तदनुरूपफलदा इति तत्संगोपि तथेत्यर्थः ।

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, मूलश्लोक में तो छह प्रकार के समुद्रों के तुल्य छह प्रकार के भाव कहे गये हैं और वो कैसे होते हैं, यह बताने के लिये आपश्री ने केवल पाँच ही उदाहरण दिये गये हैं अर्थात् लोक-वेद-सत्वगुण-रजोगुण-तमोगुण इत्यादि पाँच प्रकार से हरि का गुणगान करने का भाव रखने वाले वक्ता। छठे प्रकार का भाव बताया नहीं है !! तो प्रश्न होता है कि, छठे प्रकार का वक्ता बताने के लिये कौन सा उदाहरण होना चाहिए ? इसलिये इस उलझन को सुलझाने के लिये **लोकवेदगुणैर्मिश्रभाव** वाले वक्ताओं की व्याख्या ऐसे करनी चाहिए कि = लोक-वेद-गुण(सत्व-रज-तम) यों पाँच प्रकार के भावों द्वारा हरि का गुणगान करने वाले पाँच प्रकार के वक्ता और इनसे अलग छठे प्रकार का भाव वो है, जो इन पाँचों भावों से मिश्रित हरि का गुणगान करते हैं ; यों अर्थ करेंगे, तब छह प्रकार के भावों की संख्या पूरी होगी। इस ढंग से अर्थ करने पर पुराणों(एवं उपपुराणों) को सभी भावों से मिश्रित करके अर्थ कहने वाले वक्ता छठे प्रकार की कोटि में आ जायेंगे और इस प्रकार छह की गिनती पूरी हो जायेगी। अब इन छहों प्रकार के भगवदीय वक्ताओं के भावों को छह प्रकार के समुद्र के जल समान समझ लीजिए। जैसे छह प्रकार के समुद्रों का जल क्रमशः क्षारयुक्त(खाराजल)-अम्लयुक्त(दधिमण्डोद)-सुरायुक्त(सुरोद)-अव्यक्तमधुर(शुद्धोद)-स्नेहयुक्त(घृतोद) व्यक्तमधुर(ईक्षोद) यों छह प्रकार का होता है : ठीक इसी प्रकार इन छह प्रकार के भगवदीयों का भाव भी इन्हीं छह प्रकार के समुद्र समान होता है अतः इनमें प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुण भी इन्हीं प्रकारों के अनुरूप फलदायी होते हैं, इसलिये ऐसे भगवदीयों का सङ्ग भी श्रोताओं में क्रमशः ऐसे ही भाव उत्पन्न करायेगा।

न च गुणाद्युपलक्षिता गुणा न मूलगुणा इति शंक्यम् । 'यदादित्यगतं तेज'इति न्यायेन तेषामपि भागवतत्वे बाधकाभावादापाततः प्रतीतेरप्रयोजकत्वाच्च, अत एव निबन्धे 'सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदित'इति स्थितमिति न काचिच्छङ्का ।

यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि, यदि भगवद्गुणों को लोकवेदगुणों से मिश्रित करके गुणगान किया जा रहा है, तो अब वे भगवान के मूलगुण न रहे। नहीं, ऐसी शंका मत करिये। क्योंकि "जो तेज सूर्य में स्थित होकर सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है, उसको तू मेरा ही जान(भ०गी० १५-१२)" इस वाक्यानुसार भले ही भगवद्गुण लोकवेद इत्यादि भावों से मिश्रित हो जाते हों, तथापि रहेंगे तो वे भगवान के गुण ही। क्योंकि आपाततः यदि ऐसा लग भी रहा हो कि, ये भगवान के मूलगुण नहीं हैं, तब भी कोई बात नहीं क्योंकि आपाततः प्रतीति का कोई विशेष मूल्य नहीं होता। इसी कारण निबन्ध में आचार्यचरणों द्वारा "सर्वरूप कृष्ण ही पुराणों में शिव, ब्रह्मा आदि रूपों से वर्णित किये गये हैं(सर्व०-५२)" यह सिद्धान्त स्थापित ही है अतः यहाँ शंका के लिये कोई स्थान नहीं है।

एवं षट् समुद्रतुल्यान् भगवदीयानुक्त्वा सर्वत उत्तमान् सप्तमानाहुः गुणातीततयेत्यादि । स्वस्य गुणातीततया शुद्धान्

लोकवेदगुणामिश्रान् सच्चिदानन्दरूपिणः सच्चिदानन्दात्मकान्, विष्णोरित्यस्य वा विशेषणं, तथा च सच्चिदानन्दरूपिणो विष्णोः तादृशान् शुद्धान् सर्वान् गुणान् स्वयं गुणातीततया विचक्षणाः सर्वज्ञातारः सन्तो ये वर्णयन्ति, ते अमृतोदाः शुद्धोदसमुद्रतुल्याः सम्यक्प्रकारेण आख्याताः कथिताः । अतस्तादृशां भावो गुणातीत एवेति । तत्र भगवद्गुणा अपि स्वस्य यथावत्स्वरूपतया प्रकाशमाना भवन्तीति तेषां संगो दुर्लभ इति तद्वाक्यानां तेषां या वाचस्तासां स्वान्तःप्रवेशनं सुतरां दुर्लभमित्यर्थः ।

इस प्रकार से समुद्रतुल्य छह भगवदीयों को कहकर इन सभी से उत्तम सातवें भगवदीय वक्ता के विषय में आपश्री गुणातीततया इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

इस श्लोक का भावार्थ है- जो भगवदीय स्वयं गुणातीत हैं एवं लोकवेदगुणों से रहित भगवान के सच्चिदानन्दरूपी गुणों को गाते हैं ; अथवा सच्चिदानन्दात्मक विष्णु के गुण गाते हैं, ऐसे विष्णु के समस्त शुद्धगुणों को गाते हैं, वे अमृतोद(अमृत के समुद्र)समान कहे जाते हैं। ऐसे विचक्षण/सर्वज्ञ भगवदीय "अमृतोद" अर्थात् अमृत के समुद्र समान कहे जाते हैं। इसलिये इनका भाव भी गुणातीत ही होता है। ऐसे गुणातीत भगवदीयों में भगवद्गुण भी अपने वास्तविक यथावत् स्वरूप से प्रकाशित होते हैं अतः ऐसों का सङ्ग मिलना बड़ा दुर्लभ है। जब इनका सङ्ग ही मिलना दुर्लभ है, वहाँ इनकी वाणी को अपने अन्तःकरण में उतार पाना तो और भी दुर्लभ बात है- यह अर्थ है।

अत्र शुद्धोदा इत्यनुक्त्वा यदमृतोदा इत्युक्तं तेन श्वेतद्वीपादिपरिखाभूतावरण्याख्यौ 'अरश्च ह वैण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके' इति श्रुत्युक्तौ 'अरनामामृतांभोधिर्ण्यनामामृतसागर' इति वाराहपुराणोपबृंहितौ समुद्रावपि संगृहीतौ ज्ञेयौ । किञ्च, 'कूप्याभ्य' इत्यादिश्रुतौ 'सर्वाभ्यः स्वाहे'ति समाप्तावुक्तम् । तत्र सर्वशब्दस्य पूर्वोक्तसंग्राहकत्वे अपां ऊनविंशति भेदा एव भवन्तीत्यभिप्रेत्य सर्वशब्दस्य समुद्रजल एव निवेशः कृतः । एतदभिप्रायेणैव 'नद्यः प्रसन्नसलिला'इत्यस्य सुबोधिन्या'मापो बहुविधा एकोनविंशति भेदा'इत्युक्तम् ।

यहाँ आचार्यचरणों ने इन्हें "शुद्धोदाः" न कहकर "अमृतोदाः" कहा है, उससे श्वेतद्वीप की परिधि में आए "अर" एवं "ण्य" नामक दो समुद्र भी समझ लेने चाहिए, जिनके विषय में श्रुति ने "अर एवं ण्य नाम के ब्रह्मलोक में दो समुद्र हैं" यह कहा है और वाराहपुराण में "अर नामक अमृत का समुद्र एवं ण्य नामक अमृत का सागर" यों कहा गया है। एक बात और ध्यान में लें। "कूप्याभ्यः" इत्यादि तैत्तिरीयश्रुति में "सर्वाभ्यः स्वाहा" श्रुति वहाँ कही गयी है, जहाँ जल के भेद समाप्त हो रहे हैं। "सर्वाभ्यः" में "सर्व" शब्द का अर्थ इस श्रुति के पहले आयी हुई सभी उन्नीस श्रुतियाँ हैं अतः "सर्वाभ्यः स्वाहा" को भी मिलाकर जल के कुल उन्नीस ही भेद होते हैं अतः "सर्वाभ्य स्वाहा" श्रुति के द्वारा कोई अलग जल का प्रकार नहीं कहा गया है अपितु उसे समुद्रजल के ही अंतर्गत मान लिया गया है। इसी अभिप्राय से आचार्यचरणों ने भी "नद्यः प्रसन्नसलिला(श्री०भा० १०-३-३)" इस श्लोक की सुबोधिनी में "जल उन्नीस प्रकार का होता है" इस वाक्य द्वारा जल के उन्नीस ही भेद कहे हैं।

न च पूर्वं शेषादीन् सप्तोक्त्वा ततो लोकेत्यादि सार्धद्वयेन समुद्रविभागस्योक्तत्वाच्छेषादय एव सप्तात्र ग्राह्याः, नेतर इति शंक्यम् । तत्र यथायथं क्रमेण ग्रहणे शेषव्यासयोः क्षारदधिमण्डोदतुल्यत्वापत्त्या प्रतिलोमग्रहणे च मैत्रेयनारदयोस्तथात्वापत्त्या निकर्षापत्तेः । अतस्तत्राद्य[1]शब्दोक्ता इतर एव किञ्चित्तद्धर्मसाम्येन षड् ग्राह्याः । तेन पूर्वोक्ताः सप्तामृतोदेष्वेव प्रविशन्तीति मम प्रतिभाति ॥१५-१७॥

अब आप ये शंका भी मत करिए कि १४ वें श्लोक में आचार्यचरणों ने शेष-व्यास-अग्नि आदि ७ भगवदीयों की बात की है और उसके तुरंत बाद "लोकवेदमिश्र" इत्यादि ढाई श्लोक द्वारा समुद्रविभाग कहे हैं तो आपश्री ने उन्हीं ७ भगवदीयों की तुलना इन समुद्रों से की होगी, अन्य किसी भगवदीयों की बात नहीं है !! नहीं, आपकी शंका ठीक नहीं है। यदि इस प्रकार से आपने इन भगवदीयों की तुलना क्रमशः इन समुद्रों से करनी शुरु कर दी, तो शेषजी एवं व्यासजी को क्रमशः खारे जल के समुद्र समान और छाछ के समुद्र समान सारहीन कहने की आपत्ति आ पड़ेगी। और यदि उल्टे क्रम से संगति मिलायेंगे तो मैत्रेय और नारदजी को खारेजल के समुद्र और सारहीन छाछ के समुद्र समान कहने की आपत्ति आयेगी। इसलिये इस प्रकार से तो खैर संगति नहीं मिलायी जा सकती परन्तु चलो, फिर भी यदि संगति मिलानी ही है, तो **शेषव्यासाग्नि** वाले १४वें श्लोक में कहे "आदि" शब्द के द्वारा इन सातों भगवदीयों से भिन्न अन्य दूसरे भगवदीयों की तुलना इन छहों समुद्रों के संग कर लो। इससे यह सिद्ध होगा कि, **शेषव्यासाग्नि** वाले १४वें श्लोक में कहे सातों भगवदीय तो अमृतोद(अमृत के समुद्र)वाली कोटि में ही आयेंगे और अन्हें खारासमुद्र या सुरासमुद्र कहने की आपत्ति नहीं आयेगी- ऐसा मुझे लगता है ॥ १५ - १७ ॥

नन्वेवं सति तेषां तादृशां च दुर्मिलत्वात्तद्वाक्यानामिदानीन्तनानां कालादिदोषदुष्टानामलभ्यमेवेति वक्तव्यं, न तु सुदुर्लभमिति शङ्कायामाहुः **तादृशानामित्यादि** ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।

---

१. वाल्मीकिशिवपराशरमन्वादयः ।

अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

तादृशानामपि क्वचिद्भगवतोद्धार्यत्वेन विचारिते केनचिदपराधादिना भगवद्विमुक्ते पुरुषे भगवतस्तद्द्वारोद्धिधीर्षायां वाक्यं श्रुतिगोचरं भवतीति शेषः । तत्र प्रमाणमाहुः **दूतानामिव वर्णितमिति** । यथा षष्ठस्कन्धे भगवद्दूतानां वर्णितं वाक्यमजामिलस्य श्रुतिगोचरमभूत्तथेदानीमपि भगवदुद्धिधीर्षाविषयस्य भवतीति नालभ्यम्, किन्तु सुदुर्लभमेवेत्यर्थः । एवं तादृशां सङ्गं तद्वागन्तःप्रवेशं च साधयित्वा श्रोतृणामुद्धिधीर्षाविशेषविषयत्वप्रकारज्ञापनाय पाने विशेषमाहुः **अजामिलेत्यादि** । अजामिलेन यथा यमदूतान् प्रत्युच्यमानं भगवद्दूतवाक्यमाकर्णितं, तथा चेदाकर्णयेत्तदाकर्णनं बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । जलबिन्दोर्यथा पानं न तृप्तिदं, किन्त्वीषत्सुखदं, तथा स्वोद्देशेनान्यान् प्रत्युच्यमानं तदुद्देशेन वा तान् प्रत्युच्यमानं स्वयमाकर्णयेत्तदा तद्बिन्दुपानतुल्यं स्वदोषज्ञानेन सांसारिकग्लानिजनकं पश्चाज्जन्मान्तरे भगवत्प्राप्तिफलकं चेत्यर्थः ।

किसी पूर्वपक्षी को यह शङ्का होती है कि, ऊपर कहे सातों प्रकार के भगवदीय और उनकी वाणी सुननी तो अब आज के काल-आदि के प्रभाव से दुष्ट आधुनिक जीवों को तो अलभ्य ही है, फिर आचार्यचरण ऐसा क्यों कह रहे हैं कि- ऐसे भगवदीय प्राप्त होने सुदुर्लभ हैं ? आपश्री को तो ये कहना चाहिए कि, आज के समय में ऐसे भगवदीय और उनकी वाणी सुननी प्राप्त हो ही नहीं सकती। यदि ऐसी शंका होती हो, तो आपश्री आगे के श्लोक में इसका निराकरण कर रहे हैं।

शङ्का के समाधान में यों समझें कि, ऐसे काल आदि से दुष्ट हुए आधुनिकजीवों को भी उत्तमभगवदीयों की वाणी प्राप्त होती ही है, जब भगवान किसी अपराध आदि के कारण भगवद्विमुख बने अपने किसी ऐसे ही भगवदीयपुरुष का उद्धार करने का मन बनाते हैं तब उस भगवदीयपुरुष द्वारा उस दुष्टजीव का उद्धार करने की इच्छा करते हैं और तब उसकी वाणी जीव को प्राप्त होती है। इस बात को प्रमाणित करने के लिये आपश्री दूतानामिव वर्णितम् इत्यादि शब्दों से अजामिल का उदाहरण दे रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, जिस प्रकार भागवत के षष्ठस्कंध में वर्णित है कि, भगवद्दूतों के वाक्य अजामिल जैसे दुष्टजीव को भी सुनने मिल गये थे. ठीक उसी प्रकार उस जीव को भी सुनने मिल सकते हैं, जिस जीव का उद्धार करने का विचार भगवान ने किया है। इसलिये ऐसा नहीं है कि आधुनिकजीवों को भगवदीयों की वाणी सुनने मिल ही नहीं सकती, हाँ ये अवश्य कहा जा सकता है कि, सुदुर्लभ तो होती ही है- यह अर्थ है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने यह सिद्ध किया कि, आधुनिकजीवों को भी ऐसे भगवदीयों का सङ्ग एवं इनकी वाणी प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार से आचार्यचरणों ने ऐसे भगवदीयों का संग और उनकी वाणी को अपने भीतर प्रवेश कराने की बात को सिद्ध करके अब आगे आपश्री ऐसे श्रोताओं के उद्धार का विशेष प्रकार बताने के लिये भगवदीयों की वाणी का पान करने का विशेष प्रकार अजामिल इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। अजामिल ने जिस ढंग से यमदूतों के प्रति कहे गये भगवद्दूतों के वाक्य सुन लिये थे, उस ढंग से और उतनी मात्रा में भी यदि भगवदीयों की वाणी सुनने मिल जाय, तो उसे बिन्दुपान कहा जाता है। जिस प्रकार जलबिन्दु का पान तृप्तिदायक नहीं होता अपितु किञ्चित् सुख ही दे सकता है, उसी प्रकार भगवदीय यदि मुख्यरूप से खुद हमें कहने के लिये दूसरों से कह रहे हों अथवा मुख्यरूप से दूसरों के लिये ही कह रहे हों और हम सुन लें ; दोनों ही ढंग से उनकी वाणी सुननी बिन्दुपान समान होती है। क्योंकि उस वाणी को सुनकर उसे अपने दोषों का ज्ञान होगा जिससे संसार के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होगा और कभी जन्मान्तर में वह वाणी भगवत्प्राप्तिरूप फल प्राप्त करायेगी- यह अर्थ है।

यदा त्वेतदुद्देशेनैव भगवद्गुणबोधकं वाक्यममृतोदतुल्यैरुच्यते, तदा त्विहैव भगवत्प्राप्तिफलदमिति तत्स्वरूपमाहुः रागेत्यादि ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

रागश्च अज्ञानं च ते आदिर्येषां तादृशा ये भावाः कामक्रोधादिविकारभाजस्तेषां यदा नाशनं निवृत्तिरमृतोदानं वाक्येन भवतीति [1]शेषः । तदा तद्वाक्पानं तत्कालमेव स्वगुणं जनयल्लेहनमित्युक्तं, लिह आस्वादने, आस्वादनमित्युक्तम् । तत्र हेतुः । **स्वानन्दोद्गमकारणमिति** । स्वस्य भगवतो य आनन्दः स्वरूपात्मको लीलात्मको वा तस्य य उद्गम उच्चैः प्राकट्यं तस्य कारणं, तथा चैवं दोषनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दसाधकत्वात्तत्पानं लेहनरूपमित्यर्थः । एवमपां ऊनविंशतिभेदपक्षादरणेन सर्वे भावास्तद्वन्तो जीवास्तद्गता गुणाश्च प्रपञ्चेन निरूपिताः ।

---

१. रागनिवृतिः प्राचीनबर्हिषः जाता । यथा चाज्ञाननिवृतिः रहूगणस्य जाता । यथा च आदिशब्देन द्वेषस्तन्निवृतिः विदूरस्य जाता । एवमन्यत्र ।

किन्तु जब वे सीधे-सीधे मुख्यरूप से जीव को ही भगवद्गुणों का बोध कराते हैं, तब तो उन भगवदीयों की वाणी को अमृतसमुद्र के समान कहा जाता है और उस वाणी को सुनते ही तत्काल भगवत्प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो जाता है, जिसका स्वरूप आपश्री राग इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का तात्पर्य यह है कि, सांसारिक राग और अज्ञान जैसे भाव जो व्यक्ति में काम-क्रोध आदि का विकार उत्पन्न करते हैं, उन भावों का जब नाश या निवृत्ति अमृतसमुद्र समान भगवदीयों की वाणी द्वारा हो जाती है, तब उस वाणी का पान करना लेहन अर्थात् आस्वादन करना कहलाता है। तब उनकी वाणी का पान करने से उनकी वाणी तत्काल अपने गुणों को प्रकट करती है, जिसका पान करना "लेहन" कहा जाता है। "लिह धातु आस्वादन अर्थ में प्रयुक्त होती है(पा०धातुपाठ २-६)" तदनुसार लेहन करने का अर्थ आस्वादन करना होता है। इनकी वाणी सुनने को पान करना न कह कर लेहन/आस्वादन करना क्यों कहा जा रहा है, इसका कारण आपश्री स्वानन्दोद्गमकारणम् शब्द से बता रहे हैं। आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, इन भगवदीयों की वाणी भगवान के स्वरूपात्मक अथवा लीलात्मक आनन्द को उत्पन्न करने में कारण बनती है ; उद्गम का अर्थ है- उच्च प्रकार से प्रकट होना अर्थात् इनकी वाणी जीव के दोषों की निवृत्ति करके उसे परमानन्द सिद्ध करा देती है अतः ऐसे भगवदीयों की वाणी सुनने को आस्वादन करना कहा जा रहा है। इस प्रकार से हमने यहाँ जल के उन्नीस भेदों के द्वारा आदरपूर्वक समस्त भाव, उन भावों को धारण करने वाले वक्ता एवं तदनुसार उनमें प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुणों को विस्तार से निरूपित कर दिया।

अतः परं सायणीये 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यस्य तद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थ उक्त इति तमनुसृत्य पूर्वेभ्योतिरिक्तं विंशं भावमाहुः उद्भूतेत्यादि ।

उद्भूतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं वापि तथा ततः ॥२०॥

सर्वे पूर्वोक्तातिरिक्ता ये गुणा भावास्तदाधाराश्च ते उद्भूतोदकवत् कूपतडागादिभ्यः पात्रेषूद्धृतं यदुदकं तद्वत्, उद्धृतं जलं यथा परिमितं यादृशभाण्डस्थं तदनुरोधेन शुद्ध्यशुद्धिमच्च भवति । क्वचित्किञ्चित्स्वाकारानुकार्यपि भवति । तथा ते उक्तातिरिक्ता भावा अपि परिमिता आधारानुसारेणाकारानुसारेण च शुद्ध्यशुद्ध्यादिभाजः । तथेति वैयधिकरण्यदृष्टान्तबोधकं, उक्तातिरिक्तानां भावाधिकरणानां वाक्यानि, पतितोदकवत् पात्रेभ्यः पतितं यदुदकं तद्वत् । पतितोदकं यत्र पतति तदार्द्रीकुर्वत् क्वचिद्गुणं क्वचिद्दोषं च विधत्ते । तथा तेषां वाक्यानि आधारमार्द्रीकुर्वन्ति, तदनुसारेणैव गुणदोषकराणि । वेत्यनादरे, आत्मनः फलमपि तथा, आत्मनो गुणाधारस्य फलमपि तथा भाववदेव । चकारपाठे तु च पुनरित्यर्थो वक्तव्यः ॥२०॥

इसके पश्चात् चूँकि सायणभाष्य में "सर्वाभ्यः स्वाहा" इस अंतिम श्रुति को इसके पूर्व में आने वाली समस्त श्रुतियों में कहे जल के भेदों के अतिरिक्त अन्य जल के जितने भी प्रकार हैं, उनकी द्योतक माना है अतः उसी अर्थ के अनुसार इस श्लोक में भी पूर्व में कहे जल के उन्नीस भेदों के अतिरिक्त अन्य जल के जितने भेद हैं या हो सकते हैं, उनके विषय में आचार्यचरण बीसवें प्रकार के वक्ता का भाव उद्भूतोदकवत् शब्द से कह रहे हैं।

श्लोक में सर्वे का अर्थ है- पूर्व में कहे वक्ताओं के समस्त भेदों से अतिरिक्त अन्य जितने भेद हैं, वे ; उनके विषय में कहा जा रहा है। अर्थात् उन सभी से अतिरिक्त वक्ता में रहने वाले अन्य जितने गुण, भाव या उन भावों के आधार हो सकते हैं, वे सभी उद्भूतोदकवत् अर्थात् कुए या तालाब आदि से पात्र में भरकर लाये गये जल समान होते हैं। कहीं से भरकर लाया गया जल जैसे सीमित मात्रा में होता है एवं जिस पात्र में होता है उसी के अनुसार शुद्ध या अशुद्ध बन जाता है ; और कहीं कहीं वो जिस आकार में जाता है उसी आकार के अनुसार कार्य करता है(अर्थात् पात्र में गया तो सीमित होकर वहीं रह जायेगा, नाले में गया तो बह जायेगा, खेत में गया तो फैल जायेगा) ठीक उसी प्रकार पूर्व में कहे उन्नीस प्रकार के भावों से अतिरिक्त वक्ता के जो भाव होते हैं, वे सीमित होते हैं और अपने आधार के अनुसार शुद्धि या अशुद्धि करने वाले होते हैं। मूलश्लोक में तथा शब्द से ज्ञात होता है कि इस श्लोक में जिस प्रकार के जल का उदाहरण दिया गया है, वह पूर्व में कहे जलभेदों से अतिरिक्त है। पतितोदकवत् का अर्थ है- पात्र से नीचे गिरे हुए जल के जैसा भाव। पात्र से गिरा हुआ जल जहाँ गिरता है, उस स्थान को गीला कर देता है और उस स्थान में कभी गुण तो कभी दोष उत्पन्न कर देता है: ठीक उसी प्रकार इस श्लोक में दिये गये उदाहरण से जिस प्रकार के वक्ताओं की बात कही है, उनके वाक्य भी जिस आधार/श्रोता में जाते हैं, उसे आर्द्र बना देते हैं, और उस श्रोता के ही अनुसार उसमें गुणदोष उत्पन्न करने वाले बन जाते हैं। "वा" शब्द अनादर अर्थ में है अर्थात् ऐसा भाव या ऐसे वक्ता हीन कोटि के होते हैं, श्रोता को फल भी हीन ही देते हैं। यदि मूलश्लोक में फलं वापि

पाठ न मानकर फलं चापि पाठ मानना हो, तो "च" शब्द का अर्थ "और" के अर्थ में कर लें। अर्थात् तब मूलश्लोक का अर्थ ऐसे करेंगे कि- "और उनका फल भी फल भी वैसा ही होगा" ॥ २० ॥

एवं भगवद्गुणाधारभूतान् जीवानां भावान् तदधिकरणभूतान् जीवांश्च भगवद्गुणस्वरूपफलभेदार्थं निरूप्योपसंहरन्ति इतीत्यादि ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥२१॥

इति उक्तप्रकारेण भुवि भूलोके जीवेन्द्रियगताः, जीवाः शरीरविशिष्टाश्चेतनाः, इन्द्रियाणि मनोवाक्चक्षुःप्रभृतीनि, तद्गतास्तेषु स्थिताः नानाभावं गताः, तत्र स्थित्यैव रूपतः फलतश्च अनेकभावं प्राप्ताः, विष्णोर्व्यापकस्य भगवतो गुणा धर्माः निरूपिताः, नितरां कथिताः । तथा च भगवन्निष्ठत्वेनैकरूप्येप्याधारभेदेन तल्लिङ्गास्तदनुरूपफलाश्च भवन्तीति तदाधारस्वरूपं विचार्य तज्ज्ञानार्थं जीवसङ्गो भगवद्भक्तैर्विधेयो, नतु कथञ्चित् गुणसत्तामात्रेणेत्यर्थः ।

इस प्रकार भगवद्गुण के आधारभूत जीवों/वक्ताओं के भावों एवं उन भावों के अधिकरणरूप जीव/श्रोताओं का निरूपण भगवद्गुणों के स्वरूप-फल के भेद को बताने के लिये किया गया। और अब आचार्यचरण इस ग्रन्थ का उपसंहार इति इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। जीव भगवद्गुणों का आधार होता है। भगवद्गुण जीवों के भावों में प्रविष्ट होते हैं अथवा टिकते हैं।

इति शब्द का अर्थ है- पूर्वश्लोक में कहे समस्त प्रकारों द्वारा ; भुवि अर्थात् भूलोक में जीव-इन्द्रियों में प्रविष्ट होने वाले ; जीव का अर्थ है- शरीरधारी जीव, चेतन। इन्द्रियाणि का अर्थ है = मन-वाणी-चक्षु आदि इन्द्रियाँ। इन मन-वाणी-चक्षु जैसी इन्द्रियों में जा कर/प्रविष्ट होकर अनेक भावों का आकार ले लेने वाले भगवान विष्णु के गुण आपश्री ने निरूपित कर दिये ; अर्थात् जीव की इन्द्रियों में ही स्थित रहते हुए रूपतः फलतः अनेक भावों का रूप ले लेने वाले विष्णु-व्यापक भगवान के गुण-धर्म आपश्री ने विस्तार से कह दिये। इन सभी निरूपणों का मूल तात्पर्य यह समझाना है कि, भगवद्गुण तो केवल भगवान में ही रहते हैं अतः भगवद्रूप ही होते हैं परन्तु जब यही भगवद्गुण जिस-जिस प्रकार के आधार में प्रकट होते हैं, उन-उन आधारों के अनुसार उनका स्वरूप एवं फल बदलता चला जाता है। इस कारण भगवद्गुणों को केवल भगवद्गुणों की दृष्टि से न देखकर वे जिस आधार में प्रकट हो रहे हैं(अर्थात् भगवद्गुणों का जो और जैसे प्रकार के भाव वाला वक्ता वर्णन कर रह है)उस आधार को देख-परख कर ही भगवदीयों को उस जीव/वक्ता का सङ्ग करना चाहिए ताकि भगवद्गुणों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकें।

अत्रोपसंहारे गुणा निरूपिता इति कथनेन गुणनिरूपणमेव मुख्यम् । भावतदाधारनिरूपणं तु तदुपोद्घाततया प्रासङ्गिकमिति बोधितं ज्ञेयम् ॥२१॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानपीताम्बरात्मजपुरुषोत्तमविरचिता जलभेदविवृतिः सम्पूर्णा ॥

यहाँ सावधानीपूर्वक ये समझ लें कि, आचार्यचरणों ने ग्रन्थ के इस अंतिमश्लोक में "इस प्रकार से विष्णुगुणों का निरूपण कर दिया गया" इस वाक्य द्वारा भगवान के गुणों का निरूपण करने की बात कही है, जिससे ये बात समझ में आती है कि, आपश्री को इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से भगवद्गुणों का ही निरूपण करना अपेक्षित था; भगवद्गुणों का वर्णन करने वाले आधारभूतवक्ता एवं उनके भावों का निरूपण तो आपश्री ने इसलिये किया क्योंकि भगवद्गुणों को कोई मनचाहे वक्ता से या मनमाने ढंग से न सुन ले और सावधानीपूर्वक योग्य वक्ता से सुने ॥ २१ ॥

यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ पीताम्बरात्मज पुरुषोत्तमविरचित जलभेदविवृति सम्पूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीवल्लभकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीमदाचार्यचरणसरोजे शरणं सदा । तेनैव खलु तद्वाक्यभावार्थावगतिर्मम ॥१॥
नानामार्गेषु विविधभावैस्ते तेऽधिकारिणः । प्रवृत्तास्तत्तदेवात्र मन्यन्ते भजनं हरेः ॥२॥
अतस्तन्मार्गभावाधिकारिणां तत्स्वरूपतः । फलतश्च निजाचार्याः सन्देहविनिवृत्तये ॥३॥
वेदबोधितकूपादिजलदृष्टान्तभेदतः । विवेकं चक्रिरे तत्तद्भावार्थो हि प्रकाश्यते ॥४॥

श्रीमदाचार्यचरणकमलों की मैं सदा शरण लेता हूँ। उसी से मुझे आपश्री के वाक्यों का भावार्थ ज्ञात हुआ ॥ १ ॥
अनेक मार्गों में, अनेक प्रकार के अधिकारी, अनेक भावों से प्रवृत्त होते हैं और उसी को हरि का भजन मान लेते हैं ॥ २ ॥
अतः उन मार्गों एवं उन भावों के अधिकारियों के विषय में होने वाले सन्देहों का निवारण निजाचार्यचरण स्वरूपतः और फलतः, ॥ ३ ॥
वेद में बताये कूपादि जलभेदों के दृष्टान्तों द्वारा कर रहे हैं, और उन्हीं भावों को हम इस टीका में प्रकाशित कर रहे हैं ॥ ४ ॥

तत्र प्रथमं 'निवृत्ततर्षैरुपगीयमाना'दित्यत्र भगवद्गुणानुवादे 'आत्मघाती कर्मजडो निन्दितार्थरतः सदा । पशुस्त्री च' एतद् व्यतिरिक्तानां सर्वेषां प्रवृत्तिरुक्ता । ते च मुक्तमुमुक्षुविषयिणः । तत्र मुक्तानां 'आत्मारामाश्च मुनय' इत्युक्तप्रकारेण प्रवृत्तिः । मुमुक्षूणां विहितभक्तिज्ञानयोगतपः कर्मादिसाधनप्रकारेण बहुधा सा भवति । विषयिणां तु तत्र रागादिमाधुर्यतः प्रवृत्तिर्न तु धर्मतः । तथा च, 'वेदे रामायणे चैव भारते' इत्यत्र 'हरिः सर्वत्र गीयते' इत्युक्तत्वात् सर्वत्र सर्वेषु धर्मेषु भगवद्गुणप्रवेशस्यावश्यं वक्तव्यत्वात् तेषां सर्वेषां साधनफलयोरेकरूपत्वं वा नानात्वमिति सन्देहे तन्निर्णायकं ग्रन्थं निरूपयितुं श्रीमदाचार्याचरणाः प्रतिजानते –

सर्वप्रथम तो ये समझें कि भगवद्गुणानुवाद करने के लिये किस प्रकार का व्यक्ति प्रवृत्त होता है। श्रीभागवत में कहे "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्(१०-१-४)" इस श्लोक की सुबोधिनी की कारिका(३) में आचार्यचरणों ने बताया है कि, "आत्मघाती, कर्मजड़, निन्दित कार्यों में रत, पशु और स्त्री" इनके अतिरिक्त सभी की प्रवृत्ति भगवद्गुणगान में होती है। उक्त कारिका का विशेष अर्थ तत्तत् ग्रन्थों में देख लेना चाहिए। ऐसे लोग तीन प्रकार के होते हैं (१) मुक्तजीव (२) मोक्ष की इच्छा रखने वाले (३) सांसारिक विषयों में आसक्त। इनमें से मुक्तजीवों की भगवद्गुणानुवाद में प्रवृति तो "जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्या की गाँठें खुल गयी हैं और जो सदा आत्मा में ही रमण करने वाले हैं, वे भगवान की निःस्वार्थभक्ति किया करते हैं(श्री०भा० १-७-१०)" इस श्लोकानुसार होती है। मोक्ष की इच्छा रखने वालों की भगवद्गुणानुवाद में प्रवृति विहितभक्ति, ज्ञान, योग, तप, कर्म आदि साधनों के द्वारा अनेक प्रकार से होती है। विषयों में आसक्त जीवों की प्रवृत्ति यदि भगवद्गुणानुवाद में होती है, तो केवल राग आदि की मधुरता के कारण होती है, धर्म समझ कर नहीं। अब समझने वाली बात यह है कि, "वेदों में, रामायण में, महाभारत में आरंभ से लेकर अन्त में या मध्य में भी सर्वत्र हरि का ही गुणगान गाया गया है(हरिवंशपुराण- ३-३२३-३४)" इस श्लोक में यह कहा गया है कि "सर्वत्र हरि का ही गुणगान गाया गया है" अतः सर्वत्र समस्त धर्मों में भगवद्गुण रहे हुए होते हैं इसलिए सन्देह यह होता है कि, सभी भगवद्धर्मों के साधन और फल एक ही होते हैं अथवा अनेक प्रकार के होते हैं ? ऐसा सन्देह होने पर इस सन्देह के निर्णायक ग्रन्थ का निरूपण करने के लिये श्रीमदाचार्यचरण प्रथमश्लोक में नमस्कृत्य इत्यादि शब्दों से प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान्विंशतिधा भिन्नान्सर्वसन्देहवारकान् ॥१॥

हरिं नमस्कृत्य भावान् वक्ष्ये । भावास्तु 'इति जीवेन्द्रियगता' इत्यत्रोपसंहारे जीवगता एवोक्ता इत्युपक्रमेपि त एव ज्ञेयाः । तैरेव भगवद्गुणानामनेकरूत्वम्, अन्यथा भगवद्गुणाः सर्वे तत्तत्स्वरूपात्मका इत्येकरूपत्वमेव, गुणगुणिनोरभेदात् । आधारगुणसम्बन्धादेव तेषां भेद इति विशेषणमाहुः तद्गुणानां विभेदकानिति । भगवद्गुणानां स्वरूपतः पृथक्कारकान् भिन्नत्वेन ज्ञापकानित्यर्थः ।

श्लोक की पहली कड़ी का अर्थ है- हरि को नमस्कार करके भावों को कहेंगे।

---

१. श्रीवल्लभकृतेयं टीकेति विषये उपोद्घातो द्रष्टव्यः ।

आपश्री कौन से भावों के विषय में कह रहे हैं ?? तो समझिए कि इस ग्रन्थ के उपसंहार में आपश्री ने "इस प्रकार भूमि पर अनेक ढंग से जीव-इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के भावों का आकार ले लेने वाले विष्णुगुण रूपतः एवं फलतः निरूपित कर दिये गये" इस वाक्य द्वारा जीवों में प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुणों के ही विषय में कहा है, जो भगवद्गुण जीव-इन्द्रियों में प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न भावों का आकार ले लेते हैं अतः यहाँ प्रथमश्लोक में भी आपश्री उन्हीं भावों के विषय में कह रहे हैं- यह समझना चाहिए। जीव/वक्ता में रहने वाले इन्हीं भावों में प्रविष्ट होने के कारण भगवद्गुण भी अनेक रूप वाले बन जाते हैं। अन्यथा तो सभी भगवद्गुण अपने-अपने ढंग से भगवत्स्वरूपात्मक ही होते हैं अतः वे सभी एक ही रूप वाले होने चाहिए क्योंकि भगवद्गुण एवं गुणि-भगवान इन दोनों में तो कोई भी भेद नहीं है परन्तु आधार के गुणों के सङ्ग सम्बन्ध होने के कारण ही इनके स्वरूप और फल में भेद आ जाता है. इसीलिये आपश्री वक्ता के भावों का परिचय बताने में **तद्गुणानां विभेदकान्** (हरि के गुणों में भेद उत्पन्न करने वाले वक्ता के भावों को कहेंगे)यों आज्ञा कर रहे हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि, आपश्री भगवद्गुणों के स्वरूप को पृथक करने वाले और उन्हें भिन्नरूप से दिखाने वाले जीवों के भावों के विषय में कह रहे हैं।

अथवा स्वस्वभावानुसारेण फलसाधकान्, न तु तदनुसारेणेत्यर्थः । एतदेव भेदकत्वं भावानाम् । ते भेदाः कतीति प्रमाणमाहुः विंशतिधा भिन्नानिति । तत्रापि द्वैविध्यम् । एके जीवाधिकारानुसारिणः । एके पुनः कृपया भगवद्दानजन्याः स्वरूपनिष्ठाः स्वतन्त्रास्ते भिन्नाः , ते एवाग्रे अमृतोददृष्टान्तेन वाच्याः । एते सर्वेपि भेदा वेदे कथिताः 'कूप्याभ्यः स्वाहा' इत्यादिना । एतद्विवेचने सर्वेषां स्वरूपज्ञानेन सर्वे सन्देहा निवर्तन्त इत्याहुः सर्वसन्देहवारकानिति । एतदर्थमेव वेदेप्युक्ताः ॥१॥

अथवा, तो ये अर्थ कर लें कि, आपश्री जीव/वक्ता के अपने-अपने स्वभावानुसार फलसिद्ध कराने वाले भगवद्गुणों के विषय में कह रहे हैं, न कि भगवद्गुणों के अपने खुद के गुणों के आधार पर फलसिद्ध करने वाले भगवद्गुणों के विषय में। अर्थात् आपश्री यह कहना चाह रहे हैं कि, श्रोता को भगवद्गुणों के अपने खुद के माहात्म्य के अनुसार फल नहीं मिलता अपितु भगवद्गुणगान करने वाले श्रोता के हृदय में रहे हुए भावों के अनुसार भगवद्गुणों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। भावों के इन्हीं भेदों के विषय में आचार्यचरण इस ग्रन्थ में बता रहे हैं। जीव/वक्ता के भाव कितने प्रकार के होते हैं, इसका प्रमाण कहने के लिये आपश्री **विंशतिधा भिन्नान्** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। ये बीस प्रकार के भगवान के प्रति होने वाले भाव भी पुनः दो प्रकार के होते हैं- एक प्रकार के भाव वे हैं, जो जीव के अपने अधिकारानुसार उनमें स्वभावगत होते हैं ; और एक प्रकार के भाव वो हैं, जो भगवान जब कृपा करके दान करें तब प्राप्त होते हैं, केवल भगवत्स्वरूप में निष्ठ होते हैं और जो स्वतन्त्र होते है अर्थात् वे भाव खुद ही इतने सामर्थ्यशाली होते हैं कि जिनको अन्य किसी साधनों की आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह कि वे स्वतन्त्रतया स्वतः प्रभावी होते हैं , जिनके बारे में आगे आचार्यचरण अमृतसमुद्र के दृष्टान्त द्वारा कहेंगे। ये सभी प्रकार के भेद वेद में "कूप्याभ्यः स्वाहा" इत्यादि श्रुतियों द्वारा कहे गये हैं। इन भेदों का विवेचन करने पर जब इन सभी भावों के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा, तो सभी सन्देह दूर हो जायेंगे- यह कहने के लिये आचार्यचरणों ने इन भावों के लिये सर्वसन्देहवारकान् कहा है। वेद में भी इन्हीं सन्देहों का निवारण करने के लिये ही इन भावों का निरूपण किया गया है॥ १॥

ननु कूपादिदृष्टान्तेन भेदज्ञानं कथं भविष्यति तत्राहुः -

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥२॥

नह्यत्र कूपादिदृष्टान्तः, किन्तु तत्तत्स्थितगुणदोषसहितजलदृष्टान्तोभिप्रेतः । तेन यावन्तो जले भेदास्तावन्तो भेदा गुणानामपि भवन्तीति भावः । तत्र प्रथमं प्रथमाधिकारित्वाद्विषयिणां भावमाहुः गायका इति । गायका भगवद्गुणगायकाः । ते तु गन्धर्वा विश्रुताः प्रसिद्धाः । तेषामयमेव सहजो धर्मः यत्सङ्गीतशास्त्रोक्तं भगवद्यशः प्रबन्धरागतानाद्यालापकुशला रागादिमाधुर्यविषयत्वेन गायन्ति, न तु भगवद्धर्मस्वरूपं ज्ञात्वा, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्ति, तादृशास्ते कूपसङ्काशाः कूपतुल्याः प्रोक्ताः । सामान्यतः कूप उक्तो, न तु गुणदोषयुक्त इति । यथा कूपो महान् रमणीयः, जलमपि समीचीनमेव, परन्तु दूरे अधस्तलं, तेनेतरविषयप्रयत्नत्यागेन रज्ज्वादिसाधनपूर्वकं तदाहरणे तत्प्राप्तं भवेत्, तथा तेषां भगवद्यशोगानं तूत्तममेव, परन्तु तस्य परमफलमन्यविषयकप्रयत्नत्यागे तदेकनिष्ठगुणगानेन प्राप्तं भवेत्, नो चेद् दूर एवेति भावः सूचितः । वस्तुस्वभावात्तथा भवेदपीति सामान्यदृष्टान्त उक्तः ॥२॥

किन्तु कुए आदि के दृष्टान्तों द्वारा भगवद्गुणों के भेदों का ज्ञान कैसे हो जायेगा ? इसका उत्तर आपश्री पहले श्लोक में बताते हैं।

ध्यान से समझिए कि भगवद्गुणों या वक्ता के भावों को समझाने के लिये यहाँ कुए-नदी-तालाब-नहर इत्यादि दृष्टान्त के रूप नहीं कहे गये हैं अपितु उन कुओं या नदी या तालाबों में रहने वाले गुण-दोष सहित जल को दृष्टान्त के रूप में कहा जा रहा है। इसलिये यहाँ आपश्री को समझाना यह है कि, जितने प्रकार के जल के भेद होते हैं, उतने ही प्रकार के भेद भगवद्गुणों के भी होते हैं- यह भाव है। अब भावों को बताने की श्रंखला में सबसे पहलें आपश्री सामान्यतया टीका के आरंभ में जिन ३ प्रकार के जीवों की बात कही गयी थी, उनमें से तीसरे प्रकार वाले विषयी जीवों के भाव **गायकाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। **गायकाः** का अर्थ है- भगवद्गुण गाने वाले गायक। ये गन्धर्व नाम से प्रसिद्ध हैं। इन गन्धर्वों का यही सहजधर्म है कि, ये सङ्गीतशास्त्र में कहे गये भगवद्यश को राग-तान-आलाप-प्रबन्ध आदि में कुशल होने के कारण राग आदि की मधुरता के वशीभूत होकर गाते हैं, भगवद्गुणों को भगवत्स्वरूप समझ कर नहीं परन्तु कम से कम वृत्यर्थ अध्यापन की भाँति धन लेकर तो नहीं गाते हैं, ऐसे गन्धर्व/गायक **कूपसङ्काशाः** अर्थात् कुए के समान कहे जाते हैं। वैसे यहाँ आचार्यचरणों ने सामान्यतया कुए का ही दृष्टान्त दिया है, उसके गुणदोष नहीं बताए अतः इसे यों समझना चाहिए कि, जैसे कुआ बड़ा और रमणीय होता है, उसका जल भी अच्छा ही होता है, परन्तु होता है पहुँच से दूर, नीचे की तरफ। इसलिये कुए का जल लेना हो तो अन्य कोई दूसरा उपाय न करके रस्सी आदि साधनों के द्वारा खींच कर प्राप्त किया जाता है। ठीक इसी प्रकार गन्धर्वों द्वारा किया गया भगवद्यशोगान होता तो उत्तम ही है, परन्तु यदि उस भगवद्यशोगान का परमफल प्राप्त करना हो तो, अन्य सभी प्रयत्नों को छोड़ कर केवल भगवान में ही एकनिष्ठ होकर किया जा सकता है, अन्यथा तो परमफल दूर की कौड़ी है- यह भाव सूचित होता है। अब ऐसा भी हो सकता है कि, भगवद्गुणों के अपने माहात्म्य के कारण श्रोता/वक्ता को परमफल की प्राप्ति हो भी सकती है, अतः आपश्री ने यहाँ सामान्यतया कुए का ही दृष्टान्त दिया, कुए के जल का दृष्टान्त नहीं दिया॥ २॥

एतादृशा गन्धर्वा अपि बहुविधा इति तद्भेदानाहुः -

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि संमताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारंपर्ययुता भुवि ॥३॥

यथा कूपभेदा बहवस्तथा गायका अपि बहुविधा ज्ञेयाः । तानेवाग्रे 'वेश्यादिसहिता' इत्यनेन वक्ष्यन्ति । मध्ये पौराणिकान्निरूपयन्ति कुल्या इति । यद्यपि गायकप्रकरणमध्ये पौराणिकनिरूपणं न संभवति, तथापि यन्निरूपितं तत्तादृशपौराणिकानां गायकतुल्यत्वमेवेति ज्ञापनायोक्तम् । अत्रायं भावः । गानं द्विविधम् । एकं सङ्गीतशास्त्रोक्तं रागतालमूर्च्छनादिभेदेन । अपरं वक्तृश्रोतृसद्भावे पुराणकथनद्वारा गुणानुकीर्तनम् । उभयेपि तत्तदुपजीविनः, परन्तु भृतकाध्यापनवन्न गायन्तीति सामान्यदृष्टान्तेन ज्ञायते । वृत्युपजीविनामग्रे निन्दितत्वाच्च । एवं सति सामान्यत उभयेषां समानधर्मत्वाद्गायकानां मध्ये सामान्यतः पौराणिकानपि निरूपयन्ति कुल्या इति ।

अब ऐसे गन्धर्व भी अनेक प्रकार के होते हैं अतः आपश्री इन गन्धर्वों/गायकों के भेदों को अग्रिमश्लोक में बता रहे हैं।
आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जैसे कुए अनेक प्रकार के होते हैं, वैसे ही भगवद्गुणगान करने वाले गायक भी अनेक प्रकार के होते हैं। वैसे तो इन्हीं गायकों को आपश्री आगे "वेश्यादिसहिता" इत्यादि शब्दों से कहेंगे ही परन्तु आपश्री ने वह कहने से पहले इनके बीच में ही पौराणिकों की बात भी कह दी है, जो कि आपाततः असंगत लगती है, तथापि वो इसलिये कही क्योंकि आपश्री पौराणिकों को भी गायकों के समान ही बताना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि यदि पौराणिकवक्ता भी गायकों के समान ही गाकर भगवद्गुणानुवाद कर रहे हैं, तो वे भी गायकसमान ही हैं। इसका भावार्थ यह है कि, गान दो प्रकार का होता है। एक, सङ्गीतशास्त्र में कहे अनुसार राग-ताल-मूर्छना इत्यादि का ध्यान रखते हुए गाना। दूसरा प्रकार यह कि- वक्ता और श्रोता के उपस्थित होने पर पुराणकथा के द्वारा भगवद्गुणानुवाद गाना। ये दोनों प्रकार के गायक यद्यपि हैं तो गाकर अपनी उपजीविका चलाने वाले, परन्तु धन लेकर अध्यापन कराने वाले अध्यापक की भाँति नहीं होते इसलिये आचार्यचरणों ने पौराणिकवक्ताओं को कुल्या के सामान्यदृष्टान्त द्वारा बता दिया है। क्योंकि भगवद्गुणानुवाद को अपने जीवनयापन की वृत्ति बनाकर उस पर अपनी उपजीविका चलाने वालों की तो आपश्री ने आगे निन्दा की है। उक्त स्पष्टीकरण के प्रकाश में यह समझें कि, चूँकि सामान्यरूप से गायक एवं पौराणिक इन दोनों में समानधर्म होते हैं अतः गायकों के प्रसङ्ग में आपश्री सामान्यतया पौराणिकों का भी निरूपण कुल्या इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

तेषां पुराणादिकथन तु परपराप्राप्तम्, न तु कञ्चनोद्दिश्य ते कथयन्ति, तादृशास्ते कुल्याः अल्पाः कृत्रिमाः सरितः प्रवहणशीलास्तत्तुल्या इत्यर्थः । यद्यपि ता अपि पारंपर्ययुताः, यत आनीयन्ते तत्रागाधता, तथापि स्वयं त्वल्पाः कृत्रिमाः, न तु सहजाः, तेनोपरोधे रुद्धा अपि भवन्तीति सूचितम् । तथा तेऽपि यतः पुराणार्थोवगतः स गुरुर्महान्, परन्तु स्वयं त्वल्पपात्ररूपाः । साहजिकभगवद्धर्मप्रवृत्तिरहिताः । संसारस्थिताः । उपरोधे रुद्धाः अपि भवन्ति तादृशाः । परन्तु प्रवहणशीलत्वात् कुल्यानां तद् दृष्टान्तेन पुराणकथनद्वारा यथाधिकारं

धर्मोपदेशका इति गायकसकाशादेतावान् विशेषः । अत एव द्वितीयभावत्वेन निरूपणम् ॥३॥

इन पौराणिकों का पुराण आदि का कहना तो इन्हें परंपरा से प्राप्त है; ये किसी को कहने/सुनाने के लिये पुराणों का उपदेश नहीं करते। ऐसे पौराणिकवक्ता कुल्या(नहर) समान कहे जाते हैं। छोटी कृत्रिम नदी को "नहर" कहते हैं, जो प्रवाहशील होती है, ये पौराणिक उस नहर के समान होते हैं- यह अर्थ है। यद्यपि नहर भी अपनी परंपरा से जुड़ी हुई होती है अर्थात् जिस नदी या जिस जलाशय से वह लायी गयी होती है, वहाँ तो अगाधजल होता ही है, फिर भी स्वयं तो अल्प और कृत्रिम होती है, उसका प्रवाह भी सहज प्रवाह न होकर कृत्रिमरूप से लाया गया प्रवाह होता है। इसलिए नहर का जल यदि कहीं रोक दिया जाय तो रुक भी जाता है। ठीक इसी प्रकार इन पौराणिकों ने जिससे पुराणों का ज्ञान प्राप्त किया होता है, वह गुरु तो महान है परन्तु स्वयं पौराणिकवक्ता तो अल्पपात्ररूप होते हैं। इनमें भगवद्धर्म की प्रवृत्ति सहज नहीं होती। ये सांसारिक होते हैं। सांसारिक विषयों से बाधित भी हो जाते हैं। कुल्या(नहर) कम से कम कृत्रिमरूप से तो प्रवाहशील रहती ही है, अतः इन्हें कुल्या का दृष्टान्त दिया होने से यह समझ में आता है कि, ये भी यथाधिकार धर्मोपदेशक तो होते ही हैं अतः कम से कम धर्म का उपदेश करने के नाते ये गायकों की तुलना में तो विशेष ही होते हैं। क्योंकि गायकों के गाने से कोई धर्मोपदेश थोड़े ही होता है !!! इसी कारण गन्धर्वों की तुलना से ऊपर चढ़ते दूसरे भाव के रूप में पौराणिकों का निरूपण किया गया॥ ३॥

तादृशा अपि केवलं वृत्त्यर्थमेव पुराणपाठकाः, तदा ततोपि हीनत्वमाहुः-

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।

ते च पुनः क्षेत्रप्रविष्टाः 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयो'रिति स्त्रीपुत्रादिभरणपोषणार्थं पुराणादिपाठे प्रविष्टास्तदा संसारोत्पत्तिहेतवो भवन्ति। यथा कुल्यासम्बन्धिन्य आपः क्षेत्रेषु प्रविष्टा यदा तदा संसारोत्पत्तिहेतवो रजोगुणयुक्तत्वेन रतेः पोषकवस्तूत्पादकत्वादविद्याधर्माणामेवोत्पादिका भवन्ति, न तु प्रवहणदशावच्छोधकत्वमुपकारकत्वं वा तेषां, तथा तेपि सांसारिकस्त्रीपुत्रादिभरणपोषणमात्रोपयोगित्वेन पुनः पुनर्जन्ममरणादियुक्ता एव भवन्ति, न परोपकारकाः स्वात्मशोधका वा भवन्ति । तादृशश्रवणपाठात् शक्तिह्रासे पुराणार्थाः फलदा न भवन्तीति भावः । एतेन तेषां तृतीयमार्गप्रवेशो निरूपितः ॥३१/२॥

अब मान लो, ये पौराणिकवक्ता भी यदि अपनी आजीविका चलाने के लिये ही पुराणों का उपदेश करते हों, तो इन्हें ऊपर कही कोटि से भी हीन कोटि का बताने के लिये आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं।

"क्षेत्र" शब्द का अर्थ "क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः(नामलिङ्गानुशासनम् ३-३-१८०)" इस कोश अर्थ के अनुसार "पत्नी" एवं "शरीर" भी होता है। अतः ऊपर कहे पौराणिकवक्ता भी यदि क्षेत्रप्रविष्ट हो जाएँ अर्थात् अपने स्त्रीपुत्र आदि का भरणपोषण करने के लिये पुराणपाठ करते हों, तो इनका उपदेश श्रोताओं के संसार/लौकिक को ही बढ़ायेगा, भगवद्भाव को नहीं। जैसे कुल्या से सम्बन्धित जल यदि खेतों में चला जाय, तो वह संसार (अन्नादि) की उत्पत्ति करेगा ; खेतों में बहता हुआ रजोगुण से युक्त (अर्थात सिद्धि से युक्त) होकर विषयरति को पुष्ट करने वाली वस्तुओं का ही उत्पादन करता होने से जीव में अविद्याधर्मों को ही बढ़ायेगा; तब वो शोधक या लोगों के लिये उपयोगी नहीं रहता, जैसे कि जब वो बहती हुई अवस्था में था : ठीक वैसे ही आजीविका चलाने के लिये पुराणपाठ करने वाले भी केवल सांसारिक स्त्रीपुत्रादि का भरणपोषण करने में ही उपयोगी होते हैं अतः ये पुनः पुनः जन्ममरण के ही चक्र में फँसे रहते हैं, न परोपकारी बन पाते हैं और न स्वयं खुद को ही शुद्ध कर पाते हैं। इस प्रकार आजीविका या भरणपोषण की वृत्ति के हेतु से किये जाने वाले पुराणपाठ का श्रवण-पठन अलौकिकशक्ति का क्षय करता है और किसी के लिये भी फलदायी नहीं बनता- यह भाव है। इसलिये आचार्यचरणों ने ऐसों को तीसरी अर्थात् हीन कोटि में रखा है॥ ३ १/२॥

एवं भेदद्वयमुक्तमतः परं गायकभेदानाहुः-

वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिताः ॥४॥

पूर्वोक्ता गायकाः भृतकधर्मरहिताः । तेषामन्यधर्माधिकाराभावात् गाने भृतकधर्मराहित्यमात्रमेवोत्तमत्वम् । तादृशाः पुनर्वेश्यादिसहिताः, आदिपदेनान्येपि विधर्माः पानादयः सूचिताः । अत एव मत्ताः, स्वपरधर्मविवेकरहिताश्चेत्तदा गर्ततुल्याः । गर्तोत्र जलरहितान्धकूपः । स यथाधस्तलपर्यन्तगतः दुष्टजीवकङ्कालादिस्थानभूतोन्येषां पतनहेतुश्च भवति, तथैतेपि स्वयं त्वधोगताः एवान्येषामपि पातहेतवो भवन्तीति भावः ॥४॥

इस प्रकार से पौराणिकवक्ताओं के दो भेद कह कर अब आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में गायकों के भेद बता रहे हैं।

द्वितीयश्लोक में जिन गन्धर्वों/गायकों की बात कही गयी थी, वे धन लेकर भगवद्गुणानुवाद करने वाले नहीं थे। यद्यपि उनमें उत्तमता उत्पन्न कर सकें ऐसे अन्य किसी भगवद्धर्म में उनका अधिकार नहीं होता, इसलिये केवल भगवद्यशोगान में धनप्राप्ति का हेतु न रखने के अर्थ में ही उनकी उत्तमता मानी गयी थी। किन्तु वही गायक यदि वेश्याओं का सङ्ग करने वाले हों या फिर मद्यपान आदि अन्य दुष्ट व्यसन करने वाले हों, तो गर्त(गढ्ढे)समान कहे जाते हैं। मद्यपान आदि का व्यसन होने के कारण ही आपश्री उन्हें मत्ता कह रहे हैं, जिनको न अपने धर्म का विवेक है और न ही दूसरों के धर्म का ; यदि भगवद्गुणानुवाद करने वाले गायक में ऐसे दुर्गुण हों, तो वे गर्त(गढ्ढे)समान होते हैं। गर्त का अर्थ है- जलरहित अन्धा कुआ। अन्धा कुआ जैसे नीचे तल तक गहरा होता है एवं उसमें दुष्टजीवजन्तु और कंकाल पड़े रहते हैं और बेचारे राह चलते लोग उसमें जा गिरते हैं ; ठीक उसी प्रकार ऐसे वेश्यादि का सङ्ग करने वाले एवं मदमत्त गायक भी स्वयं खुद की तो अधोगति करते ही हैं , साथ-साथ दूसरों के भी पतन का कारण बनते हैं- यह भाव है॥ ४॥

एवं चतुर्थं भावमुक्त्वा पञ्चमं भावमाहुः-

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।

गर्ता अपि बहुविधा इति ये जलार्थं जलसङ्ग्रहार्थमेव क्रियन्ते, गानोपजीविनो भृतकाध्यापनवत् गन्धर्वास्तत्तुल्याः । यथा तज्जलस्य प्रयोजनमुपजीवनमेव, नान्यत्, कर्माद्युपयोगित्वाभावात्तीर्थरूपत्वाभावाच्च । तथा तेषामपि तेन गानेनोपजीवनमेव भवति, न तु कश्चन विशिष्टो धर्मो भवति, प्रत्युत पापमपि भवेन्निषिद्धत्वात्तस्येति भावः । एवं गन्धर्वाणां त्रयो भेदा उक्ताः ॥४१/२॥

इस प्रकार अब तक कुल चार प्रकार के वक्ताओं का भाव कह कर आचार्यचरण पाँचवें प्रकार के वक्ता का भाव अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं। गढ्ढे भी अनेक प्रकार होते हैं। उनमें से जो गढ्ढे जलार्थमेव अर्थात् जलसंग्रह करने के लिये ही बनाये जाते हैं, धन लेकर अध्यापन कराने वाले अध्यापकों की भाँति भगवद्गुणानुवाद से अपनी आजीविका चलाने वाले गन्धर्वों का भाव भी उसी गढ्ढे के जल समान होता है। जैसे गढ्ढे के जल का प्रयोजन तो केवल गंदगी बाहर न फैलने देने में ही है, वह न अन्य किसी कर्म में उपयोगी होता है और न उसमें तीर्थरूपता होती है अतः अन्य किसी भी काम नहीं आता ; ठीक उसी प्रकार आजीविका के लिये गाने वालों का भगवद्गुणानुवाद करना केवल उनकी उपजीविका चलाने के काम आता है, किसी विशिष्ट धर्म को उत्पन्न नहीं करता उल्टे पाप और होता है क्योंकि भगवान के नाम पर अपनी आजीविका चलाना पाप होने के कारण निषिद्ध है- यह भाव है। इस प्रकार यहाँ गन्धर्वों के तीन भेद कह दिये गये॥ ४ १/२॥

एवं विषयिणां भावानुक्त्वा मुमुक्षूणां भावान्निरूपयन्तः षष्ठं भावमाहुः -

ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥५॥

ह्रदास्त्विति । पूर्वे तु सन्मतित्वाभावादपण्डिताः, एते तु पण्डिताः धर्माधर्मविवेकिनः कर्ममार्गीया यद्यपि गृहादिसंसक्तास्तथापि निवृत्तिमुखाः । अत एव मोक्षेच्छया भगवच्छास्त्रे तत्परा जाताः । तादृशास्ते ह्रदा ह्रदतुल्या इत्यर्थः । अत्रापि सामान्यतो ह्रद उक्तो, न तु कश्चन विशेषः । तेन ह्रदो यथा प्रवाहधर्मरहितो निर्मलः, तथा तेपि प्रवाहधर्मान्निवृत्ता निर्मलप्रज्ञा इति सूचितम् । तत्परत्वकथनेन तद्धर्मजिज्ञासैवास्ति, न तु निःसन्दिग्धं धर्मा ज्ञाता इति ज्ञाप्यते । एतेन तेषां प्रथमप्रवृत्तिः सूचिता ॥५॥

इस प्रकार से विषयीजनों के भावों को कह कर अब आचार्यचरण छठे प्रकार के मोक्ष की इच्छा रखने वाले वक्ताओं के भाव अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं। अब हम ह्रदास्तु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। पूर्व के श्लोक में जिन वक्ताओं की बात कही गयी, उनमें सन्मति नहीं थी अतः वे पण्डित नहीं थे, किन्तु इस श्लोक में आपश्री जिन वक्ताओं की बारे में आज्ञा कर रहे हैं वे पण्डित होते हैं अर्थात् इन्हें धर्म-अधर्म का ज्ञान होता है, ये कर्ममार्गीय होते हैं और यद्यपि गृहादि में फँसे होते हैं तथापि इनकी प्रवृत्ति विरक्त होने की ओर लगी रहती है। इसी कारण इनकी इच्छा मोक्ष पाने की होती है अतः भगवच्छास्त्रों में इनकी तत्परता होती है। ऐसे पण्डित वक्ता ह्रद कहे जाते हैं अर्थात् ह्रद के समान कहे जाते हैं। यहाँ भी आपश्री ने ऐसे पण्डित वक्ताओं के भावों को बताने के लिये सामान्यतया इन्हें ह्रद के ही दृष्टान्त द्वारा बताया है, कोई विशेष बात नहीं कही। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जैसे ह्रद में जल का प्रवाह नहीं होता एवं वो निर्मल होता है ; ठीक उसी प्रकार ये पण्डितवक्ता भी प्रवाहीधर्मों से रहित एवं निर्मलबुद्धि वाले होते हैं। आपश्री ने इन्हें "भगवच्छास्त्रतत्पर" कहा है, जिसका अर्थ यह है कि, इनमें केवल धर्म को जानने की जिज्ञासा ही होती है बस। ऐसा नहीं है कि इन्होंने निःसन्दिग्धरूप से धर्म को जान लिया होता है- यह सूचित कराना चाह रहे हैं। हाँ, ये धर्मजिज्ञासा को लेकर आगे बढ़ रहे होते हैं, इससे पता चलता है कि, भगवद्धर्मों को जानने की इनकी यह शुरुआत है॥ ५॥

ततोग्रेतनभावविशिष्टं स्वरूपं निरूपयन्तः सप्तमं भावमाहुः -

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गम्भीरमानसाः ।
सरःकमलसंपूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥६॥

तत्र भगवच्छास्त्रेषु ये सन्देहवारकाः, बहूनां मतानां कथनात्तेषु सन्देहा उत्पद्यन्ते, तेषां ये निवारकास्ते सूदाः । सुष्ठु शोभनमुदकं येषां तादृशा ह्रदास्तद्रूपाः । शोभनत्वकथनेन गुणविशेष उक्तः । किञ्च, गम्भीरमानसा इति गंभीरं मानसं येषां, भगवद्धर्मज्ञानेनान्यथाभावनाविपरीतभावनादिना कलुषितं न भवतीति भावः । पूर्वेषु गंभीरत्वसूदत्वादिगुणाभावात्सामान्यत्वमुक्तम् । तत्र विशिष्टधर्मत्वात्ततो विशेष उक्तः, तथा दार्ष्टान्तिकेपि सन्देहवारकत्वविशेषः । परन्तु ज्ञानस्यैव विशेषो न क्रियाया इति दृष्टान्तेन सूचितं भवति ।

इसके पश्चात् अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण सातवें प्रकार के वक्ताओं का भाव बता रहे हैं, जिनका भाव पूर्वश्लोक में कहे पण्डित वक्ताओं से भी विशिष्ट है।

श्लोक का अर्थ है- जो वक्ता भगवच्छास्त्रों में आनेवाले सन्देहों का निवारण करते हैं, वे "सूद" कहे जाते हैं। शास्त्रों में अनेक प्रकार के मत कहे गये हैं अतः शास्त्रों में सन्देह उत्पन्न होता है, इसलिये जो वक्ता उन सन्देहों का निवारण कर पाते हैं/करते हैं, वे "सूद" कहे जाते हैं। सूद(सु+उद) में "सु" का अर्थ है- शोभायुक्त। और "उद" का अर्थ है- जल। अर्थात् सूद यानि शोभायुक्तजल। तात्पर्य यह कि, ऐसे सन्देहनिवारक वक्ता शोभायुक्त जलवाले ह्रद के समान होते हैं। इन्हें शोभायुक्तजल समान कहा गया है, जिससे पता चलता है कि अन्यों की तुलना में इनमें विशेष गुण है। और, **गंभीरमानसा** का अर्थ है- जो वक्ता गंभीरप्रकृति के होते हैं, वो। इसका तात्पर्य यह है कि, ऐसे वक्ता को भगवद्धर्मों का ज्ञान हो जाने पर भगवल्लीला में अन्यथाभावना और विपरीतभावना से इनका चित्त कलुषित नहीं होता। पूर्वश्लोक(५ वें) में कहे वक्ताओं में गंभीरता और सूदत्व इत्यादि गुण नहीं थे अतः उन्हें सामान्यतया ह्रदरूपी पण्डित कहा गया था किन्तु इस श्लोक में कहे जाने वाले वक्ता को आचार्यचरणों ने उनसे भी विशिष्ट कहा है अतः आपश्री ने इन्हें "ह्रद" कहने के संग-संग विशेषरूप से "सन्देहवारक" भी कहा है। किन्तु ह्रद का दृष्टान्त देने से इनके बारे में एक बात और पता चलती है कि, सन्देहनिवारण कर पाने के कारण इनमें विशेषरूप से केवल ज्ञान ही उत्पन्न हो पाया है, स्वयं इनकी क्रियाओं या आचरण में अभी तक वो बात नहीं आ पायी है। ह्रद का दृष्टान्त देने से ही पता चलता है कि, जैसे ह्रदजल प्रवाहरहित होता है, क्रियारहित होता है, वैसे ही ये भी क्रियारहित होते हैं।

अतः परं पूर्वतो विशिष्टमष्टमं भावमाहुः सरःकमलसंपूर्णा इति । पूर्वं तु शास्त्रज्ञानेन पूर्णा उक्ताः, गंभीरमानसत्वकथनेन ज्ञानस्थैर्यमप्युक्तम् । एते तु बुधाः ज्ञानिनः पुनः प्रेमयुक्ता भक्तियुक्ता इति सरःसंबन्धिन्यः कमलैश्च संपूर्णाः आच्छादिताः तादृश्य आपस्तद्रूपाः । सरस्तु विहितं भवति । तत्र कमलं भक्तिरूपं, तेन पूर्णा आपः रसरूपाः । तत्तुल्यत्वकथनेन विहितभक्तिसहितप्रेमयुक्ताः ज्ञानेन च वासितास्तादृशास्त इति सूचितम् । तेनात्र क्रियापि सूचिता । रसस्य विहितसरःसंबन्धित्वेन विहितभक्त्यनुसार्येव प्रेमापि तेष्विति सूचितम् । एवमेते त्रयोपि क्रमत उत्तरोत्तरविशिष्टधर्मसहिताः सामान्यतो विहितभक्तिमार्गीया उक्ताः ॥६॥

अब इसके पश्चात् पूर्वश्लोक में कहे वक्ताओं से विशिष्ट आठवें प्रकार के वक्ताओं का भाव आपश्री सरःकमलसम्पूर्णाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पूर्व में कहे प्रकार के वक्ता शास्त्रज्ञान से पूर्ण थे और उन्हें गंभीरप्रकृति के कहने से पता चलता था कि उनके ज्ञान में स्थिरता भी है किन्तु इस श्लोक में कहे जाने वाले वक्ता ज्ञानी तो होते हैं परन्तु साथ-साथ भगवत्प्रेमयुक्त भक्तियुक्त भी होते हैं। अतः ऐसे वक्ताओं को आचार्यचरण सरोवर से सम्बन्धित कमलों से पूर्णतया आच्छादित हुए जल के समान बता रहे हैं। सरोवर को विधिपूर्वक बनाया जाता है, वह अपने आप नहीं बन जाता। इस दृष्टान्त को देने का अभिप्राय यह है कि, सरोवर में खिले कमल तो भक्तिरूप हैं एवं उसका जल रसरूप है। भगवत्प्रेमयुक्त एवं ज्ञानी वक्ताओं की तुलना कमलयुक्त सरोवर के जल से करने का तात्पर्य यह है कि, इस प्रकार के वक्ता विहितभक्ति(विधिपूर्वक मर्यादाभक्ति)सहित भगवान से प्रेम करने वाले होते हैं एवं ज्ञान से पूर्ण होते हैं। इससे पता चलता है कि, इनमें भगवच्छास्त्रों का ज्ञान भी है और तदनुरूप क्रिया/आचरण भी। चूँकि आपश्री ने दृष्टान्त कृत्रिम सरोवर का दिया है अतः इसके द्वारा कहे जाने वक्ता में भी विहितभक्ति/मर्यादामार्गीयभक्ति के अनुसार ही भगवान से प्रेम होता है- यह सूचित किया है। इस प्रकार यहाँ तक आचार्यचरणों ने "ह्रद" , "सूद", "सरःकमलसम्पूर्ण" इन तीनों दृष्टान्तों द्वारा क्रमशः उत्तरोत्तर विशिष्टधर्म वाले सामान्यरूप से मर्यादामार्गीयभक्ति करने वाले वक्ता कह दिये॥ ६॥

अतः परमेतेष्वप्यवान्तरभेदान्निरूपयन्तो नवमं भावमाहुः-

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।

कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतभक्तयः ॥७॥

पूर्वोक्तेषु सरोदृष्टान्तीयेषु केचनाल्पं श्रुतमध्ययनं येषामेतादृशाः, परन्तु भगवद्गुणेषु प्रेमयुक्ताः, ते वेशन्ताः अल्पसरोरूपाः परिकीर्तिताः । प्रेमयुक्तत्वेपि विहितत्वेन प्रवृत्तत्वात् संपूर्णभगवद्धर्मज्ञानं विना भक्तिर्दृढा न भवतीत्यल्पसरोदृष्टान्त उक्तः । यथाल्पसरो नष्टमपि भवेत्तथैतेषां भावा अपीति भावः । एतेन पूर्वापेक्षया हीनभावत्वमुक्तम् एतदेवोक्तं तत्त्वार्थदीपे 'शास्त्रज्ञानाभावेपि प्रेम्णा भजते स मध्यम' इति । एवं सर्वमित्यत्र ।

अब इन मर्यादामार्गीयभक्ति करने वाले वक्ताओं के भी अवान्तरभेद को आचार्यचरण नौवें प्रकार के वक्ता के रूप में कह रहे हैं। आपश्री यहाँ यह आज्ञा कर रहे हैं कि, पूर्व में सरोवर के दृष्टान्त से जिन वक्ताओं की बात कही थी, उन्हीं में से कुछ ऐसे होते हैं जो अल्पश्रुत होते हैं अर्थात् जिनका शास्त्राध्ययन अल्प होता है परन्तु भगवद्गुणों से प्रेम करने वाले होते हैं- ऐसे वक्ता वेशन्त अर्थात् अल्प सरोवर जैसे कहे जाते हैं। भले ही इनमें भगवान से प्रेम करने का गुण हो तथापि भगवान की ओर इनकी प्रवृत्ति मर्यादामार्गीयभक्ति द्वारा हुई होती है (अर्थात् चूँकि शास्त्रों में भगवद्भक्ति करने को कहा गया है इसलिये भगवान की ओर प्रवृत्ति हुई है, स्वाभाविकरूप से या सहजरूप से नहीं) इसलिये जब तक इन्हें संपूर्णरूप से भगवद्धर्म का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक इनकी भक्ति दृढ़ नहीं होती अतः इन्हें अल्प सरोवर के दृष्टान्त द्वारा कहा गया। जैसे अल्प सरोवर तो नष्ट भी हो जाता है, वैसे ही इन वक्ताओं का भाव नष्ट भी हो सकता है- यह भाव है। इससे पता चलता है कि, पूर्व के छठे श्लोक में बताये गये वक्ताओं की तुलना में इनका भाव हीन है। यही बात आचार्यचरणों ने तत्त्वार्थदीप में भी "एवं सर्वं" इस कारिका के प्रकाश में "जिसको शास्त्रों का ज्ञान न हो तथापि भगवान से उत्कट प्रेम करके श्रवणादि नवविध भक्ति करके भगवत्सेवा करता हो, वह मध्यमाधिकारी है क्योंकि उसे भगवान का माहात्म्य जानने के बाद ही प्रेम हुआ, उसे भगवान से सहज प्रेम नहीं था अतः उसका प्रेम गौण है(शा०प्र०-१०१ ; प्रकाश टीका)" इस वाक्य द्वारा कही है।

अतोपि हीनत्वेन दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मणैव शुद्धाः निःकामकर्मादिना चित्तशुद्धियुक्ताः, नतूत्पन्नज्ञानभक्त्यादयः, ते तु पल्वलतुल्याः । यद्यपि वेशन्तपल्वलयोर्न भेदस्तथापि वेदे यथेन्द्रमहेन्द्रयोर्भेदः स्वीकृतस्तथा वेशन्तपल्वलयोरपि 'वेशन्तीभ्यः स्वाहा पल्वल्याभ्यः स्वाहे'त्यत्र भेदनिर्देशः कृत इति तथात्वेन दृष्टान्तः । परं तत्रैतावान् विशेषः । पल्वलमपि द्विविधम् । एकं कमलादिरहितम्, अपरं तत्सहितम् । पूर्वोक्तेषु भक्तित्वा(सत्वा)त् कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः, कर्मशुद्धेषु विहितैकनिष्ठेषु तद्रहितदृष्टान्त इति, यथा पल्वलं स्वल्पं सर्वदा स्थिरजलं न तिष्ठति, वर्षाकाले पुनः पूर्णं भवति, तदपि स्वरूपतः स्वल्पं, तथा कर्मपूर्तौ पूर्णता, तस्य क्षये शुष्कतेति जन्ममरणादिसहिता निरूपिताः।

अब आगे के श्लोक में आचार्यचरण ऊपर कहे वक्ता से भी हीन कोटि में आने वाले दसवें प्रकार के वक्ताओं का भाव कर्मशुद्धाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इन्हें आपश्री ने "कर्मशुद्धाः" कहा है, जिसका तात्पर्य है- ये कर्ममार्ग के माध्यम से ही शुद्ध बनते हैं अर्थात् निःकामकर्म करने से इनका चित्त शुद्ध बनता है, इनमें ज्ञान-भक्ति आदि उत्पन्न नहीं होती ; ऐसे वक्ता "पल्वल" समान कहे जाते हैं। यद्यपि "वेशन्त" और "पल्वल" में कोई भेद नहीं है परन्तु जैसे वेद में इन्द्र और महेन्द्र का भेद स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार वेशन्त और पल्वल के लिये भी श्रुति में "वेशन्तीभ्यः स्वाहा" , "पल्वल्याभ्यः स्वाहा" यों भेद करके निर्देश किया गया है अतः आपश्री ने भी इन दोनों को अलग-अलग दो दृष्टान्तों द्वारा बताया है। परन्तु हाँ, इतना विशेष अवश्य है कि, पल्वल भी दो प्रकार का होता है। एक कमल आदि से रहित जल वाला और दूसरा कमल आदि सहित जल वाला। टीकाकार कमलसहित पल्वल को "वेशन्त" मान रहे हैं एवं कमलरहित को "पल्वल"। पूर्व में बताये वक्ताओं में अल्पश्रुत-प्रेमयुक्त वाले वक्ता में) भक्ति थी इसलिये उन्हें कमलसहित वेशन्त के दृष्टान्त द्वारा बताया गया ; यद्यपि मूलपाठ में "भक्तित्वा(सत्व)त्" प्राप्त होता है। अतः इसका अर्थ "भक्तित्वात्" एवं "भक्तित्वासत्वात्" यों दोनों ढंग से होता है परन्तु "भक्तित्वात्" पाठ अधिक संगत लगता है अतः उसी अर्थ को लेकर अनुवाद किया गया है। यदि किसी महानुभाव को दूसरा अर्थ उचित लगता हो तो कृपया अवश्य अवगत कराएँ- अनुवादक। किन्तु यहाँ बताये जाने वाले कर्मशुद्धवक्ता विहित कर्ममार्ग में निष्ठ हैं अतः इन्हें कमलरहित पल्वल के जल के दृष्टान्त द्वारा बताया गया। जैसे पल्वल का जल अल्प होता है और सर्वदा स्थिर नहीं रहता, वर्षाकाल आने पर पुनः भर तो जाता है परन्तु फिर भी स्वरूपतः तो अल्प ही रहता है ; ठीक उसी प्रकार कर्मशुद्धों को कर्म पूर्ण कर लेने के पश्चात् ही पूर्णता का अनुभव होता है, यदि कर्म का क्षय हो जाय तो वे शुष्कता का अनुभव करते हैं इसलिये कर्मनिष्ठ लोग जन्ममरण के चक्र से छूट नहीं पाते।

पूर्वोक्तेषु कमलादिसहितवेशन्तदृष्टान्तेन भक्तिमत्त्वेन जन्ममरणाद्यभावोपि संभवति। यथा कमलादिसंपत्तिशोभादर्शनादिना कदाचित्तस्य महत्त्वं रक्षां च कश्चित्कारयति तथेत्यर्थः । एतेषु तदभावान्न तथेति भावः । कदाचिज्जन्मान्तरे तादृशो ज्ञानी

भवतीति निबन्धे निरूपितम् । किञ्च, यथा एतादृशाः पल्वलरूपाः प्रोक्तास्तथा वेशन्तदृष्टान्तीयानां पूर्वमल्पश्रुतत्वं प्रेमयुक्तत्वं च निरूपितम् । ते पुनरल्पश्रुतभक्तयो भवन्ति, तदा पल्वलतुल्या एवेति भावः । श्रुतं तु पूर्वमप्यल्पमेव केवलं प्रेमयुक्तत्वेन कमलसहितवेशन्तदृष्टान्त उक्तः । तदभावात्पल्वलतुल्यत्वं युक्तमेव ॥७॥

पूर्व में बताये वक्ताओं (अल्पश्रुत-प्रेमयुक्त वाले वक्ता)को कमल आदि सहित वेशन्त के जल के दृष्टान्त द्वारा भक्तियुक्त कहा गया था, जिससे पता चलता है कि, इनका भक्ति के अपने माहात्म्य के कारण जन्ममरण के चक्र से भी छूट जाना संभव भी बन सकता है। इस बात को यों समझें कि, जिस प्रकार कमलयुक्त संपत्ति से शोभित होने वाले तालाब को देखकर कदाचित् किसी को उसका महत्व भी पता चले और उस तालाब की सुरक्षा करने का भी कोई प्रयत्न करे ; ठीक उसी प्रकार वेशन्त के दृष्टान्त द्वारा कहे जाने वाले वक्ता भले ही अल्पश्रुत हों तथापि यदि उनमें भक्तिरूपी कमल खिला है, तो उसकी भक्ति को देखकर कदाचित् प्रभु उसे जीवनमरण के चक्र से छुड़वा भी दें- यह भाव है। किन्तु कर्मशुद्धों में भक्ति नहीं होती अतः ये जन्ममरण के चक्र से नहीं छूट पाते। वैसे, कदाचित् अगले जन्मों में ये ज्ञानी बनते हैं- यह बात आचार्यचरणों ने निबन्ध में कही है। इसलिये ये समझें कि, ऐसे कर्मशुद्ध पल्वलरूप कहे गये हैं और पूर्व में वेशन्त के दृष्टान्त द्वारा अल्पश्रुत और प्रेमयुक्त वक्ता कहे गये। यदि वेशन्त के दृष्टान्त द्वारा कहे गये वक्ता भी अल्पश्रुत और अल्पभक्ति वाले हो जाएँ, तो ये भी फिर पल्वल समान ही कहलायेंगे। यद्यपि अल्पश्रुत तो पहले भी थे परन्तु केवल भगवान से प्रेम/भक्ति करते होने के कारण इन्हें कमलसहित वेशन्त का दृष्टान्त दिया गया। परन्तु यदि इनमें भक्ति भी अल्प हो जाय, तब तो फिर इन्हें पल्वल के समान ही कहना उचित है ॥ ७ ॥

एवं कर्ममार्गीयानां स्वरूपमुक्त्वा योगादिभावानां स्वरूपं निरूपयन्तः एकादशं भावमाहुः ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥

योगोऽष्टाङ्गः । तत्र ध्यानादिः कल्पितमूर्तेस्तेन संयुक्ता ये गुणास्ते वर्ष्याः वर्षासम्बन्धिजलतुल्या इत्यर्थः । वर्षा यथा शून्यावलम्बिन्यः, न स्वरूपावलम्बिन्यस्तत्रापि फलस्याल्पत्वात् ता अपि प्रथमोद्भूता विरलाः पतनमात्रेण शुष्का भवन्ति, न तु क्वचिदार्द्रतां संपादयन्ति, तथा तादृशा अपि न भक्तिफलाधिकारिणः । किन्तु तत्साधनानुसारिफलाधिकारिण इति भावः ।

इस प्रकार से कर्ममार्गीयों का स्वरूप बता कर आगे के श्लोक में आचार्यचरण योग आदि भावों का स्वरूप बताने वाला ग्यारहवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं।

योग के आठ अंग होते हैं। इन आठ अंगों के अंतर्गत मन में कल्पित मूर्ति का ध्यान आदि करने से संयुक्त होकर किया जाने वाला भगवद्गुणगान वर्ष्य(वर्षाजल)समान कहा जाता है अर्थात् वर्षा सम्बन्धित जल के समान कहा जाता है। जैसे वर्षा शून्य आकाश का अवलम्बन लेकर बरसती है, किसी स्वरूप का अवलम्बन लेकर नहीं ; जैसे वर्षा की पहली बौछार अल्प होती है और भूमि पर गिरते ही सूख जाती है, किसी को गीला नहीं कर पाती ; वैसे ही योगध्यान करने वाले योगी भी भक्तिरूपी फल के अधिकारी नहीं होते, भक्तिरस से ओतप्रोत नहीं हो पाते परन्तु केवल शून्य में योग-ध्यान करने जैसे साधनों से मिलने वाले फल के ही अधिकारी होते हैं- यह भाव है।

अतः परं द्वादशं भावमाहुः तपोज्ञानादीति । केचन तप एव परं मत्वा कुर्वन्ति, केचन ज्ञानमेव केवलं परं मन्यन्त इति तेषां स्वरूपमाहुः - तपः पञ्चाग्निसाधनादीनि, ज्ञानं केवलं, तत्र प्रवृत्तानां भावाः, स्वेदजा स्वेदजलतुल्याः कथिता इत्यर्थः । यथा श्रमेण स्वेदजलं स्रवति । ऊष्मणा वा । अपवित्रमप्रयोजनकं च भवति, तथैवेते भावाः श्रमसाधकाः, न तूत्कृष्टफलदाः । अग्रेपि तापकारकाः संसारकरणादिति भावः । अत एव 'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा । न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोभिषेक'मित्युक्तम् ॥८॥

इसके पश्चात् बारहवें प्रकार के वक्ता का भाव आपश्री तपोज्ञानादिभावेन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो तप को ही श्रेष्ठ मान कर तप क्रिया करते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो अद्वैतज्ञान को ही श्रेष्ठ मानते हैं अतः अब इनका स्वरूप कहते हैं। तपः का अर्थ है- पञ्चाग्निरूप साधन करने। ज्ञान का अर्थ है- केवलज्ञान। तात्पर्य यह कि तप और ज्ञान में प्रवृत्त होने वाले वक्ता स्वेदज कहे जाते हैं अर्थात् पसीने के जल समान कहे जाते हैं। जिस प्रकार परिश्रम करने से पसीना निकलता है अथवा तो गर्मी के कारण पसीना निकलता है और वह अपवित्र एवं अनुपयोगी भी होता है ; ठीक उसी प्रकार तपज्ञान में निष्ठ वक्ताओं के भाव भी पञ्चाग्नितप इत्यादि से शरीर को श्रम ही करा सकते हैं, उत्कृष्ट फल नहीं दे सकते। ऐसा भाव आगे चल कर भविष्य में भी तापकारी ही सिद्ध होता है क्योंकि वह संसाररूपी फल

देता है- यह भाव है। इसी कारण श्रीभागवत में "हे रहूगण ! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने आप को नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादि के दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता(श्री०भा० ५-१२-१२)" यह कहा गया है॥ ८॥

अन्ये केचन वेदमाहात्म्यज्ञानैकनिष्ठास्तेषां स्वरूपं कथयन्तस्त्रयोदशं भावमाहुः-

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥

अलौकिकेन ज्ञानेन वेदोक्तार्षज्ञानेनेत्यर्थः । ब्राह्मणानां वेद एव परस्तदभ्यास एव तेषां धर्म इति तत्पाठकरणरूपा ये गुणाः प्रोक्ताः, तेपि कादाचित्काः, न सर्वदा स्थिराः, तेपि शब्देनैव गम्याः, शब्द एव गम्यो येषां, नत्वर्थ इति वा, तादृशास्ते पतन्तः उच्चतः पतन्तो ये जलौघास्तेषां शब्दा इव अथवा दूरात् कर्णे पतन्तः शब्दा इव प्रकीर्तिताः । यथा ते निरर्थकाः, दूरात् पतनजशब्देनैव ज्ञायन्ते, न तु ते प्राप्तुं शक्यन्ते, तथा वेदपाठका एव, न तु ते वेदार्थं जानन्ति, न मुख्यफलं प्राप्नुवन्तीति भावः । आपाततो ज्ञानेपि कादाचित्कत्वेन न मुख्यफलमिति भावः ॥९॥

अन्य कुछ वक्ता वेद के माहात्म्यज्ञान में ही एकनिष्ठ होते हैं, आपश्री अग्रिमश्लोक में उनका स्वरूप कहते हुए तेरहवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं।

अलौकिकेन ज्ञानेन इत्यादि शब्दों का अर्थ है- वेद में कहा आर्षज्ञान प्राप्त करके जो हरि का गुणगान करते हैं, वे वक्ता। ब्राह्मणों के लिये वेद ही परम वस्तु है, वेद का अभ्यास करना ही उनका धर्म होता है। आपश्री इन्हें कादाचित्काः कह रहे हैं क्योंकि वेदों का पाठ करने रूप भगवद्गुण भी उनमें कभी-कभी ही दिखाई पड़ते हैं, सर्वदा स्थिर नहीं रहते। वे जब वेदों का पाठ करते हैं तो उनके पाठ के शब्दों को सुनने से ही उनका परिचय मिल जाता है, इसलिये आपश्री इन्हें "शब्दगम्याः" भी कह रहे हैं।। या तो फिर "शब्दगम्याः" का ये अर्थ कर लीजिए कि उनकी पहुँच केवल वेद के शब्दों तक ही है, अर्थ तक नहीं। ऐसे वक्ता ऊपर से गिरने वाले जलप्रवाह के शब्द/ध्वनि समान होते हैं। अथवा, तो यों अर्थ कर लें कि, ऐसे वक्ता दूर से कानों में पड़ते शब्द की भाँति होते हैं। जिस प्रकार दूर से सुनायी पड़ते शब्द निरर्थक होते हैं क्योंकि दूर से गिरने वाले जल की तो केवल ध्वनि ही सुनायी पड़ सकती है किन्तु जल प्राप्त नहीं किया जा सकता ; वेदपाठक भी ठीक वैसे ही होते हैं, ये केवल पाठ करना जानते हैं किन्तु वेदों के वास्तविक अर्थ को नहीं जानते। इसी कारण ऐसे वक्ता मुख्यफल को प्राप्त नहीं कर सकते- यह भाव है। आपाततः चलो उन्हें वेदों का अर्थ ज्ञात भी हो जाय तथापि कभी-कभार ही होता है अतः मुख्यफल प्राप्त नहीं हो सकता॥ ९॥

ननु तेपि देवाद्युपासनां कुर्वन्ति, वेदार्थाज्ञाने तु साङ्गोपासना न भवेदित्याशङ्कानिरासाय चतुर्दशं भावमाहुः ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।

यद्यपि केचन देवादीनामुपासनां कुर्वन्ति । न होतावानेव वेदार्थ इति तावन्मात्रज्ञानेन क्रियमाणा सा न परमफलदायिनीति तादृशा गुणा भावाः भूमेरुद्गताः पृष्वा जलबिन्दवो बुद्बुदास्तद्रूपाः । यथा ते यत्रैवोत्पन्नास्तत्रैव लीना भवन्ति, तथा यस्य देवस्योपासना तत्रैव पर्यवस्यन्ति, न तु ब्रह्मपर्यवसाना इत्यर्थः ।

किन्तु शंका यह होती है कि, ऊपर कहे वक्ता भी देवों की उपासना तो करते ही हैं, यदि वे वेदों का अर्थ न जानते होते तो साङ्गोपाङ्ग उपासना करनी संभव न बन पाती; फिर उनके लिये ये कैसे कहा जा सकता है कि, वे वेदों के अर्थ को नहीं जानते ? इस शंका का निराकरण करने के लिये आचार्यचरण अग्रिमश्लोक में चौदहवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं।

बात ठीक है कि कुछ देवताओं की उपासना करते हैं परन्तु वेद का अर्थ केवल उपासना ही करना थोड़े ही है अतः अपने सीमित ज्ञान से की जाने वाली उनकी उपासना परमफलदायिनी नहीं होती। इसलिये इस प्रकार से उपासना करने वालों में प्रविष्ट होने वाले भगवद्गुण या उनके भाव भूमि से उत्पन्न होने "पृष्व" अर्थात् जलबिन्दु या जल के बुदबुदे समान होते हैं। जिस प्रकार से जल के बुदबुदे जहाँ से उत्पन्न होते हैं, वहीं लीन हो जाते हैं ; ठीक उसी प्रकार ये भी जिस देवता की उपासना करते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं, तात्पर्य यह कि ब्रह्म में लीन नहीं होते।

अतः परं वैष्णवधर्मनिष्ठस्य भावान्निरूपयितुं पञ्चदशं भावमाहुः साधनादीति । देशादिसाधनेषु भूतशुद्ध्यादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः

श्रवणकीर्तनादिद्वारा प्रेमपूर्त्या स्फुरन्तो धर्माः अश्रुपुलकादिरूपा येषां तादृशाः स्यन्दमाना भूमितः प्रस्रवणशीला आपस्तद्रूपाः । पूर्वापेक्षया प्रस्रवणशीलत्वात् किञ्चिदुपकारकत्वं सूच्यते । तेनोपासनायामपि तान्त्रिकरीत्या विष्णूपासना ज्ञेया। परन्तु वृद्धिक्षयसहिताः, श्रवणस्याल्पत्वाद्विभूतिपर्यवसानत्वाच्च ततोप्यागमनगमनादिकं संभवतीति सूचितम् । एतेन सकामतापि सूचिता ॥१०१/२॥

इसके पश्चात् वैष्णवधर्म में निष्ठ भावों का निरूपण करने के लिये आपश्री पंद्रहवें प्रकार के वक्ता का भाव साधनादि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका भावार्थ यह है कि, उचित स्थल का चयन करके भूतशुद्धि इत्यादि प्रकार से नवधारूपाभक्तिमार्ग के अनुसार श्रवणकीर्तन आदि द्वारा भगवत्प्रेम से पूरित होकर जिनमें अश्रुपुलकादि धर्म स्फुरित होते हैं, अश्रुपुलकादि का अर्थ है- प्रभुविरह में रुदन करना या प्रभुलीला से रोमांच का अनुभव करना। ऐसे वक्ता स्यन्दमान कहे गये हैं अर्थात् भूमि से निकलकर बहने वाले जल के समान कहे गये हैं। पूर्व में कहे पृष्वजल की तुलना में ये बहने वाला जल है अतः ज्ञात होता है कि यह उससे कुछ अधिक उपयोगी है। इससे पता चलता है कि इनके द्वारा की जाने वाली विष्णु की उपासना शास्त्रोक्त तान्त्रिकरीति से की गयी उपासना होती है, इसलिये वो कुछ विशिष्ट तो है परन्तु इनके धर्म वृद्धिक्षयसहित होते हैं, इनका श्रवण अल्प होता है, भगवान की विभूति तक ही इनकी गति होती है अतः इनका जन्ममरण का प्रवाह चलता रहता है। इससे ज्ञात होता है कि ये सकामभक्त होते हैं॥ १० १/२॥

एते तु वृद्धिक्षयसहिताः, ते एव पुनर्वृद्धिक्षयरहिता भवन्ति, तेषां भावमाहुः षोडशम् ।

यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिता : ।

यादृशाः पूर्वं प्रोक्तास्तादृशा वृद्धिक्षयविवर्जिताश्चेत्तदा स्थावराः स्थिरजलतुल्याः स्थिरजलाशयाः स्थिरप्रवाहा नदीरूपा वा, तत्सदृशाः । स्थिरत्वस्वरूपमाहुः **मर्यादैकप्रतिष्ठिता** इति । यावत्प्रमाणमर्यादया विहितास्तावन्मर्यादया सर्वदा स्थिराः । अत एव तावति धर्मे वृद्धिक्षयरहितत्वमुक्तम् । तेन निरन्तरपूजाप्रवाहसहिताः स्वमर्यादाधर्मयुक्तास्तादृशा भक्ताः जन्ममरणादिरहिता मोक्षपर्यवसायिनः स्वमर्यादयेति ज्ञापितम् । यथा तादृश्यो नद्योपि परंपरया नद्यन्तरसङ्गेन समुद्रगामिन्यस्तथेति भावः । जलाशयपक्षे वृद्धिक्षयराहित्यमेव जन्ममरणाभाव इति तथात्वम् ॥१११/२॥

ऊपर कहे वक्ता वृद्धिक्षयसहित थे। यही वक्ता यदि वृद्धिक्षयरहित हों, तो ये सोलहवें प्रकार के वक्ता की कोटि में आ जाते हैं, जिनका भाव आपश्री अग्रिमश्लोक में कह रहे हैं।

यादृशाः अर्थात् जिस प्रकार के वक्ता का वर्णन पूर्वश्लोक में किया गया था, वही प्रकार के वक्ता यदि वृद्धिक्षयविवर्जित हो जाएँ अर्थात् इनके भगवद्भावों में घटोतरी या बढ़ोतरी न होती हो, तो फिर ये स्थावर कहे जाते हैं। अर्थात् स्थिरजलाशय या स्थिरप्रवाह वाली नदी के जल समान कहे जाते हैं। इनकी स्थिरता क्या है, उसका तात्पर्य आपश्री मर्यादैकप्रतिष्ठिताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसका तात्पर्य है कि इनकी जितनी मर्यादा बँध चुकी है, ये उतनी ही मर्यादा की परिधि में सर्वदा स्थिर रहते हैं। अतएव इनमें जितना धर्म है, उतने ही धर्म में घटे-बढ़े बिना रहते हैं। इसलिये निरन्तर पूजाप्रवाह में रहते हुए अपने मर्यादाधर्म से जुड़े रहते हुए ऐसे भक्त जन्ममरण के चक्र से छूट कर अपनी मर्यादानुसार मोक्ष को प्राप्त होते हैं, यह ज्ञात होता है। जिस प्रकार स्थिर नदियों को भी यदि प्रवाही नदियों का सङ्ग मिल जाय, तो वे भी उनके सङ्ग से समुद्र में जा मिलती हैं, ठीक वैसे ही ये भी कालांतर में मोक्ष पाकर ब्रह्म से एकाकार हो जाते हैं- यह भाव है। यदि स्थिरनदी के स्थान पर स्थिरजलाशय के दृष्टान्त द्वारा समझना हो तो, यों समझें कि जैसे स्थिरजलाशय का जल घटता-बढ़ता नहीं, वैसे ही इन वक्ताओं का भाव भी घटता-बढ़ता नहीं और यही इनके जन्ममरण से छूट जाने का द्योतक हैं॥ ११ १/२॥

अथ भक्तिमार्गीयभेदान् वक्तुं सप्तदशं भावमाहुः ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

प्रथमजन्मारभ्यानेकजन्मसाधनैः सम्यक् सिद्धिं प्राप्ताः । सर्वदेति साधननैरन्तर्यमुक्तम् । तेन 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि'रित्युक्तसाधनसिद्धाः प्रावाहिकभक्तिमन्तो भक्ताः सामान्यतः प्रोक्ताः । ते प्रथमं साधनदशायां सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुक्ता भवन्ति, परन्तु निरन्तरमुद्गम उदयस्तेन युता भगवद्धर्मप्रयत्नवन्तः सङ्गदोषेण क्षयेपि तद्धर्मनिष्ठां न त्यजन्ति । तादृशा नद्यः नदीरूपा नदीजलतुल्या इत्यर्थः । यथा नद्यः वर्षाजलेन वर्धन्ते, ग्रीष्मसङ्गेन क्षीणा भवन्ति, परन्तु मूलतः प्रवाहस्य निरन्तरमुद्गमस्तिष्ठति, तेन परंपरया समुद्रगामिन्यो भवन्ति, तथा तादृशभावा अपि सत्सङ्गेन वर्धन्ते, असत्सङ्गेन क्षीयन्ते, तथापि

निरन्तरं भगवद्धर्मनिष्ठात्यागाभावात् कदाचिद्भगवत्समुद्रगामिनो भविष्यन्तीति भावः । पूर्वोक्तापेक्षया हीनाधिकार उक्तः ॥१३॥

अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण भक्तिमार्गीय वक्ताओं के भेदों को कहने के लिये सत्रहवें प्रकार के वक्ता का प्रकार कह रहे हैं। **अनेकजन्मसंसिद्धाः** का अर्थ है- ऐसे जिनको उनके प्रथमजन्म से लेकर अनेक जन्मों में किये गये साधनों के द्वारा भलीभाँति सिद्धि प्राप्त हो चुकी है। सर्वदा पद से ज्ञात होता है कि, ये निरन्तर साधन करते ही आए हैं। इसलिये आचार्यचरणों ने सामान्यतः इन्हें "जन्मान्तरसहस्रेषु" इस वाक्य में कहे साधनों से सिद्ध प्रावाहिकभक्ति वाले भक्त कहे हैं। पहले तो साधनदशा में सङ्गादि के गुणदोष के कारण इनके भाव में घटोतरी-बढ़ोतरी होती है परन्तु निरन्तर उद्गम होती हुई नदी की भाँति ये सतत भगवद्धर्म के लिये प्रयत्नशील रहते हैं और तब सङ्गदोष से आहत होने पर भी अपनी भगवद्धर्मनिष्ठा का त्याग नहीं करते। ऐसे वक्ता नदी समान या नदी के जल समान होते हैं- यह अर्थ है। तात्पर्य यह कि जैसे नदी का जल वर्षाजल से बढ़ता है और ग्रीष्मऋतु के कारण सूखता तो है, परन्तु मूलरूप से उसका प्रवाह तो निरन्तर चला ही करता है और कालांतर में समुद्र से भी मिल जाता है ; ठीक उसी प्रकार इस श्लोक में कहे वक्ता के भाव भी सत्सङ्ग से बढ़ते हैं और सत्सङ्ग न मिलने से घटते तो हैं, परन्तु निरन्तर भगवद्धर्मनिष्ठा न त्यागने के कारण कदाचित् आगे भविष्य में भगवानरूपी समुद्र में मिलेंगे- यह भाव है। इस श्लोक में कहे वक्ता का अधिकार पूर्व में कहे वक्ता की अपेक्षा हीन कहा समझना चाहिए॥ १३॥

अतः परं च शिष्टान् निरूपयन्तोष्टादशं भावमाहुः ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशा पूर्वोक्तधर्मवन्तः प्रवाहमार्गीयाः स्वतन्त्राश्चेत् न केनचिद्बुद्धिं क्षयं वा प्राप्नुवन्ति, ते समुद्रपर्यन्तं समुद्रगप्रवहणशीलाः सिन्धवः महानद्यो नदा वा तद्रूपा ज्ञेयाः । यथा तादृश्यो नद्यः स्वयमप्रतिबद्धाः सत्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथा तादृशा भक्ता अपि स्वमार्गानुसारेण भगवन्तं प्राप्स्यन्तीति भावः ।

अब इसके पश्चात् बाकी बचे वक्ताओं का निरूपण करने के लिये आपश्री अठारहवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं। **एतादृशाः** शब्द से आपश्री यह कहना चाहते हैं कि- पूर्व में कहे(अर्थात् सङ्गादि के गुणदोषों से प्रभावित होने वाले)धर्मों से युक्त वक्ता, जो कि प्रवाहमार्गीय थे, वे यदि स्वतन्त्र हो जाएँ अर्थात् उनका भाव किसी भी प्रकार से घटता या बढ़ता न होकर दृढ़ रहता हो, तो उन्हें समुद्रपर्यन्त या बहती हुई समुद्र में जा मिलने वाली महानदियों के समान समझना चाहिए। सिन्धवः का अर्थ महानदी होता है। जैसे इस प्रकार की महानदियाँ स्वयं रुके बिना समुद्र में जा मिलती हैं, उसी प्रकार ऐसे भक्त भी अपने मार्गानुसार भगवान को प्राप्त कर लेते हैं- यह भाव है।

अतः परं केवलं भगवद्धर्मैकपूर्णान् निरूपयन्त एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा इति । एते सर्वे भगवदीयाः भगवद्धर्मैकनिष्ठाः ज्ञातारो वक्तारश्च सर्वदा तदेकरसपूर्णाः, न तु कदाचिदपि न्यूनभावयुताः शेषादयः । तत्र शेषो गुणगानपरः सर्वदा भगवद्धर्मवक्ता । व्यासः सकलपुराणकर्ता, तद्द्वारा समस्तधर्मवक्ता । अग्निः स्वयमेव । अयं भावः । श्रीमदाचार्यस्वरूपे अंशद्वयमस्ति, मर्यादामार्गोपदेष्टृत्वं पुष्टिमार्गोपदेष्टृत्वं च । तेन स्वरूपमपि द्विविधम् । एवं सति मर्यादामार्गीयान् प्रति तादृग्रूपस्यैव प्राकट्यं भवति, न त्वलौकिकस्य वल्लभाष्टकसर्वोत्तमाद्युक्तस्येति तादृशस्य तन्मध्यपातित्वेन गणना कृता, अत एव 'व्यासोस्माकं गुरु'रित्युक्तम् । अन्यथा पुष्टिमार्गगुरवस्तु स्वामिन्य इति तद्भावात्मकभगवन्मुखारविन्दाधिष्ठात्रलौकिकाग्निरूपस्य स्वस्य व्यासगुरुत्वं न संभवतीति न तथोक्तं स्यात् । एवं सति शेषादिमध्यपातित्वेन भगवद्गुणनिरूपणसाम्याद्युक्तैव गणनेति सर्वमनवद्यम् ।

इसके पश्चात् आचार्यचरण **पूर्णा** शब्द से उन्नीसवें प्रकार के वक्ता का भाव बताने के लिये उनके विषय में बता रहे हैं, जो केवल एक भगवद्धर्मों से ही पूर्ण होते हैं। ये सभी भगवदीय केवल भगवद्धर्मों में निष्ठ होते हैं, भगवत्स्वरूप को जानने वाले होते हैं, भगवद्गुणों का वर्णन करने वाले वक्ता भी होते हैं, फलितार्थ यह कि सर्वदा केवल भगवद्धर्मों के ही रस से पूर्ण रहते हैं, इनका भाव कदापि न्यून नहीं होता, जैसे कि शेष आदि भगवदीय। इन भगवदीयों के अंतर्गत शेषजी सर्वदा भगवद्गुणगान में तत्पर रहते हैं, सर्वदा भगवद्धर्मों को कहने वाले हैं। व्यासजी ने समस्त पुराणों की रचना की है और पुराणों के द्वारा समस्त धर्मों का उपदेश दिया है। अग्नि का तात्पर्य तो स्वयं आचार्यचरण ही हैं। इसका भाव यह है कि, श्रीमदाचार्यचरणों के स्वरूप में दो अंश हैं। एक मर्यादामार्ग के उपदेशकर्ता के रूप में और दूसरा पुष्टिमार्ग के उपदेशकर्ता के रूप में। इसी कारण आचार्यचरणों का स्वरूप भी दो प्रकार का है। मर्यादामार्गीयों के

लिये आपश्री मर्यादामार्गीय ढंग से ही प्रकट होते हैं, अलौकिक प्रकार से नहीं जैसे कि वल्लभाष्टक-सर्वोत्तम आदि में कहा गया है अतः मर्यादामार्गीयरूप से ही आपश्री की गणना इन मर्यादामार्गीयभक्तों के संग कर दी गयी है। और इसी कारण आचार्यचरणों ने भी "व्यासजी हमारे गुरु हैं" यों कहा है। अन्यथा पुष्टिमार्ग की गुरु तो स्वामिनी/गोपिकाएं हैं इसलिये स्वयं गोपिकाओं के ही भावात्मक स्वरूप होने के नाते और भगवन्मुखारविन्द के अधिष्ठाता अलौकिक अग्निरूप होने के नाते आचार्यचरण व्यासजी को अपना गुरु कहें, ये कैसे संभव है !! अतः इससे समझ में आ जाता है कि आपश्री ने ये बात पुष्टिमार्गीय अलौकिकस्वरूप के अर्थ में नहीं कही है। इस परिस्थिति में समझें कि आचार्यचरणों ने अपनी गणना यदि शेष आदि मर्यादामार्गीय भगवदीयों के अंतर्गत कर भी दी है, तो वह भगवद्गुणगान करने वालों के नाम गिनाने के सीमित अर्थ में ही की है, अतः इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

केचित्त्वग्निः रुद्राग्निरिति वदन्ति । रुद्रस्य भक्तत्वात् । मारुतो हनूमान् परमभक्तः । जडो जडभरतः । नारदः पञ्चरात्रागमप्रवर्तकः । मैत्रो मैत्रेयो धर्मवक्ता । एते सर्वे मर्यादामार्गीया भक्ता गुणज्ञाः, न तु स्वरूपनिष्ठैकभावा इति समुद्ररूपाः प्रकीर्तिता । समुद्रो यथा स्वमर्यादायामेव तिष्ठति, तथैतेपीति भावः । अत्र समुद्रोपि शुद्धोदो ज्ञेयः । अन्यानग्रे वक्ष्यन्तीति । किञ्च, एतेषु सामान्यतः समुद्रदृष्टान्त उक्तो, न तु कश्चन गुणदोषविशिष्टो धर्मस्तस्योक्त इति प्रवाहमार्गाद्भिन्नत्वं पूर्णत्वागाधत्वादयो धर्माश्च सूचिताः । यथा समुद्रमध्ये रत्नानि सारभूतानि, तथैतेषां हृदयेषु भगवद्धर्मा इति भाव ॥१४½॥

कुछ लोग "अग्नि" शब्द का अर्थ अग्निस्वरूप रुद्र करते हैं, वह अर्थ भी ठीक है क्योंकि रुद्र भी तो भगवान के भक्त ही हैं। मारुत अर्थात् हनुमान, जो कि परमभक्त हैं। जड़ का अर्थ है- जड़भरतजी। नारद अर्थात् पञ्चरात्र नामक प्राचीन शास्त्र के प्रवर्तक। मैत्र अर्थात् मैत्रेयजी जो कि धर्मवक्ता हैं। ये सभी मर्यादामार्गीयभक्त हैं, जो भगवान के गुणों को ही जानते हैं, इनका भाव केवल भगवत्स्वरूप में निष्ठ नहीं है अतः आचार्यचरणों ने इन्हें समुद्ररूप कहा है। क्योंकि जो केवल और केवल एकमात्र भगवत्स्वरूप में ही निष्ठ हो, उसी को शुद्धपुष्टिमार्गीय कहा जाता है। जिस प्रकार से समुद्र अपनी मर्यादा में ही रहता है, उसी प्रकार ये सभी मर्यादामार्गीय भगवदीयों की भक्ति भी मर्यादित है- यह भाव है। समुद्र भी यहाँ मीठे जल का समुद्र समझना चाहिए। अन्य प्रकार के समुद्रों के विषय में तो आपश्री आगे कहेंगे ही। और यह भी है कि, आपश्री ने इन सभी भगवदीयों के लिये एक सामान्य समुद्र का दृष्टान्त दिया है ; समुद्र के किसी भी गुणदोषों के विषय में नहीं कहा अतः इन भगवदीयों को प्रवाहमार्ग से भिन्न और इन्हें पूर्ण कहने के कारण इनमें समुद्र जैसी भगवद्भाव की अगाधता इत्यादि धर्म सूचित किये हैं। जिस प्रकार समुद्र के मध्य में उसके साररूप रत्न होते हैं ; ठीक उसी प्रकार इन पूर्णभगवदीयों के हृदय में भी भगवद्धर्म होते हैं- यह भाव है॥ १४ १/२॥

अतः परं समुद्रा अप्यनेकविधा इति तद्भेदान्निरूपयन्तो विंशं भावमाहुः ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

अयं भावः । एके भगवतो गुणा लोकसमाना एव, लोको यथा प्राकृतस्तथा भगवद्गुणा अपि प्राकृता एव, भगवानपि नास्ति, कर्मणैव सर्वं भवतीति मन्यन्ते, ते क्षारोदतुल्याः, न काचन तैः पुरुषार्थसिद्धिरिति भावः । केचन वेदानुसारेण धर्मान् मन्यन्ते, ज्ञानेच्छादयो जगत्कर्तृत्वादयो धर्मा भगवति सन्तीति तादृशा दधिमण्डोदतुल्याः । उभयाशसत्त्वात्तत्तुल्यता । तेपि तावन्मात्रधर्मानेव मन्यन्ते, न तु स्वरूपमवतारादिकं चेति तादृशा भावा न पुरुषार्थसाधका इति भावः ।

अब चूँकि समुद्र भी अनेक प्रकार के होते हैं अतः आपश्री समुद्र के भेदों का निरूपण करते हुए बीसवें प्रकार का भाव कह रहे हैं। श्लोक का भाव है- एक प्रकार के वक्ता वो होते हैं, जो ये मानते हैं कि, भगवान के गुण लौकिकगुणों जैसे ही हैं। जिस प्रकार से लोक/संसार प्राकृत है, उसी प्रकार भगवद्गुण भी प्राकृत ही हैं। भगवान की भी कोई सत्ता नहीं है, सभी कुछ कर्म करने से ही होता/मिलता है। ऐसे वक्ता खारे जल के समुद्र समान होते हैं, इनको सुनने से किसी भी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी- यह भाव है। कुछ वेद में बताये गये भगवान के धर्मों को मानते हैं, वे मानते हैं कि, भगवान में ज्ञान-इच्छा-जगत का निर्माण करना इत्यादि धर्म होते हैं। ऐसा मानने वाले वक्ता दधिमण्डोद(छाछ के समुद्र) समान होते हैं। चूँकि ये लौकिक-वैदिक दोनों प्रकार के भोग करने का भाव रखते हैं अतः इनकी तुल्यता छाछसमुद्र से की गयी। तात्पर्य यह है कि, ये वेद में बताये गये भगवान के ज्ञान-इच्छा, जगत् का निर्माण करना आदि धर्मों को ही मानते हैं। वे ये नहीं मानते हैं कि, भगवान निजजीवों का उद्धार करने के लिये भूतल पर अवतार आदि भी लेते हैं या उनके सङ्ग रमण भी करते हैं, जैसा कि श्रीभागवत में भगवान का गोपबालकों एवं गोपिकाओं के सङ्ग रमण करना बताया गया है। यों ऐसे वक्ताओं को लौकिकवैदिक दोनों प्रकार के फल की कामना रहती है। अब इनकी छाछ से तुलना करने का तात्पर्य यह है कि, जैसे छाछ मक्खन निकल गया होने के

कारण वह साररहित होती है और शक्ति/बल प्राप्त नहीं करा सकती ; ठीक उसी प्रकार ये वक्ता चूँकि भगवान की स्वरूप/अवतार लेकर की गयी स्नेहयुक्त रसलीला को नहीं मानते अतः ये सारहीन, रसहीन होते हैं और इनको श्रवण करने से किसी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होगी- यह अर्थ है। वे भगवान में केवल ऊपर बताये गये धर्मों को ही मानते हैं, भगवान के स्वरूप एवं उनके अवतार आदि को नहीं मानते अतः ऐसा मानने वाले वक्ताओं के भाव मोक्ष आदि पुरुषार्थ के साधक नहीं होते- यह भाव है।

अपरे गुणैः प्रकृतिगुणैरविद्याधर्मैः कृत्वा धर्मा भासन्ते, वस्तुतो धर्मा एव न सन्तीति मन्यन्ते, ते सुरोदतुल्याः, स्पर्शमात्रेपि धर्मनाशका मिथ्यावादिनः पुरुषार्थनाशका इति सर्वथा त्याज्या एवेत्यर्थः । एते त्रयोप्यमिश्राः ।

गुणैः का अर्थ है- प्रकृतिगुणों के द्वारा अर्थात् अविद्या आदि धर्मों के द्वारा ; तात्पर्य यह कि, कुछ ऐसे होते हैं जिनका मानना यह है कि, भगवान में जो भी धर्म दिखाई पड़ते हैं, वे अविद्या आदि प्रकृतिगुणों के कारण भासित होते हैं। वास्तव में तो भगवान में कोई धर्म होते ही नहीं। ऐसा मानने वाले सुरा के समुद्र समान होते हैं। सुरा की भाँति ऐसों का तो स्पर्श भी हो जाय तो धर्मभ्रष्ट हो जाय और मिथ्यावादी एवं पुरुषार्थनाशक होने के कारण सर्वथा त्याज्य ही हैं- यह अर्थ है। ये तीनों लोकभाव से, वेदभाव से, गुणभाव से यों स्वतन्त्ररूप से अपनी-अपनी सोच के अनुसार या तो लोकभाव से या वेदभाव से या गुणभाव से हरिगुणों को कहते हैं।

अथ मिश्रानाहुः । केचित्तु ये धर्मा लौकिकभावसहितास्ते लौकिका एव , ये ब्रह्मधर्मास्तेऽलौकिकाः सर्वे सन्तीति मन्यन्ते, ते मिश्राः क्षीरोदतुल्याः । स यथा स्वरूपतो ह्युत्तमस्तथापि मथनानन्तरं निःसारो जातः, सकलरत्नानां निर्गमात्, तथा तेषां तावन्मात्रधर्मवत्त्वेपि परमपुरुषार्थो न सिध्यतीति, न ते ग्राह्या इति भावः । यतो भगवतो 'लोकवल्लीलापि कैवल्य'मित्युक्तत्वात् तत्रालौकिकबुद्धिनिष्ठाभावात् न सत्सम्मता इत्यर्थः । अन्ये वेदोक्तधर्मा जगत्कर्तृत्वादयो यद्यपि सन्ति, तथापि न वास्तवाः अविद्यासंवलिताः, ब्रह्म तु निर्विकारमेवेति मन्यन्ते, ते घृतोदतुल्याः, घृतं विकृतं भवति, क्षीरपरिणामो दधि तत्परिणामो घृतमतस्तेपि विकृतत्वाङ्गीकारान्न ग्राह्याः, पुरुषार्थासाधकत्वात् । एके पुनर्भगवति धर्माः सन्ति, परं त्ववतारादिधर्मास्तु प्राकृता इति मन्यन्ते, ते इक्षुरसोदतुल्याः, यथेक्षुरसः स्वरूपतो मधुरः, परन्तु परिणामविरसस्तथैते धर्मा अपि परिणामे विरसत्वाङ्गीकारान्न पुरुषार्थसाधका इति भावः । पूर्वापेक्षया षण्णामेतेषां हीनभावत्वमुक्तम् । एवं विंशतिधा जीवाधिकारानुसारिणो भावा निरूपिताः साधनसाध्या लोकवेदप्रसिद्धा इति ॥१५१/२॥

अब आपश्री उन वक्ताओं के लिये कह रहे हैं, जो इन तीनों भावों को मिश्रित करके हरिगुण कहते हैं। कुछ वक्ता ऐसा कहते हैं कि, भगवान के जो धर्म लौकिकभाव सहित होते हैं, वे तो लौकिक ही हैं और जो ब्रह्म के धर्म हैं, वो सभी अलौकिक होते हैं। इस प्रकार से भगवान के धर्मों को मिश्रित बताने वाले वक्ता दूध के समुद्र की भाँति होते हैं। जैसे कि दूध का समुद्र स्वरूपतः तो उत्तम होता है परन्तु मथने के पश्चात् साररहित हो जाता है क्योंकि उसमें से रत्न निकल जाते हैं ; उसी प्रकार भले ही वे भगवान में लौकिक और अलौकिक दोनों धर्म मान रहे हैं परन्तु भगवद्धर्मों को लौकिक भी मानने के दोष के कारण इन्हें परमपुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती, अतः इनका भाव ग्रहण करने योग्य नहीं होता- यह भाव है। क्योंकि भगवान के लिये तो "परब्रह्म परमेश्वर का विश्वरचनादि कार्यों में प्रवृत्त होना तो लौकिकपुरुषों की भाँति केवल लीला मात्र है(ब्र०सू० २-१-३३)" यह कहा ही गया है जिसका अर्थ ये न समझ पाने के कारण भगवान की कुछ लौकिकक्रियाओं को देखकर भगवान को लौकिक समझ लेते हैं अतः भगवत्कार्यों में अलौकिकबुद्धि रखने की निष्ठा इनमें नहीं होती अतः इनको योग्य नहीं माना गया है- यह अर्थ है। अन्य कुछ ऐसे होते हैं जिनका मानना ये है कि, भगवान में वेद में कहे जगत्कर्ता इत्यादि धर्म यद्यपि होते हैं परन्तु वे भगवान के वास्तविक धर्म नहीं हैं अपितु अविद्या से संवलित धर्म हैं। ब्रह्म तो निर्विकार ही है। ऐसा मानने वाले वक्ता घृत के समुद्र की भाँति होते हैं। क्योंकि घृत विकृत होता है अर्थात् दूध का विकार दही है और दही का विकार घृत होता है इसलिये इस प्रकार से मानने वालों की मान्यता भी विकृत मानी गयी होने के कारण इनका भाव ग्रहण करने योग्य नहीं होता क्योंकि इनसे किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। एक वो होते हैं जिनकी मान्यता ये होती है कि, भगवान में धर्म तो होते हैं परन्तु उनके अवतार आदि लेने जैसे धर्म प्राकृत होते हैं। अर्थात् वे ऐसा मानते हैं कि, अवतार लेना इत्यादि ब्रह्म के वास्तविक धर्म नहीं हैं। ऐसी मान्यता रखने वाले वक्ता गन्ने के रस के समुद्र समान कहे गये हैं। जिस प्रकार गन्ने का रस स्वरूपतः तो मधुर होता है परन्तु परिणाम में विरस हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ऐसी मान्यता रखने वालों के धर्म भी परिणाम में विरस हो जाने के कारण पुरुषार्थसाधक नहीं होते- यह भाव है। आचार्यचरणों ने पूर्व में कहे पूर्णभगवदीयों की तुलना में इन छह प्रकार के भावों को हीन बताया है। इस प्रकार आपश्री ने जीव के अधिकारानुसार बीस प्रकार के भावों का निरूपण किया। ये समस्त भाव साधनों से साध्य हैं एवं लोकवेद में प्रसिद्ध भी हैं॥ १५ १/२॥

अतः परं लोकवेदातातः साधनासाध्यो भगवद्ज्ञानेनैवोत्पद्यते, नान्यथेत्येतादृशोपि कश्चन भावो वर्तत इति स्वकीयानां ज्ञापनार्थं

कृपया तादृशभावस्य यथार्थस्वरूपं वदन्त एकविंशमपि भावं लक्षयन्ति ।

गुणातीततया शुद्धान्सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान्विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥

ये पुनर्विष्णोर्व्यापकस्य रसात्मकस्य च भगवतः सर्वे गुणाः, लोकानुसारिणो बालचरित्रादयो, वेदानुसारिणो माहात्म्यप्रतिपादकाः ब्रह्मधर्माः गुणानुसारिणः स्थित्युद्भवप्रलयरूपाः, रसात्मकलीलारूपाश्च, गुणातीता एव शुद्धा दोषरहिता निर्विकाराः सच्चिदानन्दरूपिणः सन्तीति मन्यन्ते, ते भक्ता अमृतोदतुल्याः, यथा अमृतस्य षड्सात्मत्वेपि मधुरत्वमेवैवं भगवद्धर्माणामपि तत्तद्रूपत्वेपि सच्चिदानन्दरूपत्वमेव, न त्वन्यथा । यथा स्वरूपमानन्दरूपं रसात्मकम्, तथा गुणा अपीति निरूपितम् । किञ्च, समुद्रस्यामृतरूपत्वेनान्येभ्यो विशेष आधिक्यं दूरत्वमगाधत्वं मरणादिदोषनिवर्तकत्वं देवोत्तमैरेव भोग्यत्वं चोक्तं यथा, तथैते धर्मा अप्येतावद्धर्मवन्त एतदधिकारिभिरेव भोग्या इति सूचितम् । अत एवाधिकारिविशेषणं विचक्षणा इत्युक्तम् ।

अब इसके पश्चात् कोई ऐसा भी भाव है, जो लोकवेदातीत है, जो लौकिकसाधनों से प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु जब भगवान कृपा करके दान करें, तब ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। उस भाव के विषय में अपने स्वीयजनों को बताने के लिये आपश्री कृपा करके उस भाव का यथार्थस्वरूप कहते हुए इक्कीसवें प्रकार का भाव भी कह रहे हैं।

इस भाव का लक्षण यह है कि, जो वक्ता व्यापक-विष्णु, रसात्मक भगवान के समस्त गुणों को फिर भले ही वे लोकानुसारी बालचरित्र आदि हों, या फिर वेदानुसारी माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाले ब्रह्म के धर्म हों, या फिर गुणानुसारी उत्पत्ति-स्थिति-लय रूप हों या फिर भगवान की रसात्मकलीलारूप गुण भी क्यों न हों, इन समस्त गुणों को जो गुणातीत, शुद्ध, दोषरहित, निर्विकारी और सच्चिदानन्दात्मकरूप ही मानते हैं, वे भक्त अमृतसमुद्र समान कहे जाते हैं। जिस प्रकार अमृत में छह प्रकार के स्वाद होने पर भी उसका स्वाद मधुर ही होता है ; ठीक उसी प्रकार भगवद्धर्म चाहे लोकानुसारी हों, या वेदानुसारी हों, या फिर गुणानुसारी हों, सभी गुण सच्चिदानन्दात्मकरूप ही होते हैं, अन्य कुछ भी नहीं। जिस प्रकार भगवान का स्वरूप आनन्दात्मक हैं, उसी प्रकार भगवान के गुण भी आनन्दात्मक ही कहे गये हैं। और, जिस प्रकार अमृतसमुद्र अन्य समुद्रों से विशेष होता है, उसमें अन्य समुद्रों की अपेक्षा अधिकता होती है, उसका परिमाण भी अधिक होता है, मरण आदि दोषों का निवारक होता है, केवल उत्तम देवता ही उसका भोग कर सकते हैं : ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे भगवान के धर्म भी ऐसे ही होते हैं और जो इनके अधिकारी होते हैं, वही इनका अनुभव कर सकते हैं। केवल अधिकारी ही भगवद्गुणों का वास्तविक स्वरूप जान सकते हैं, इसी कारण आचार्यचरणों ने इन्हें "विचक्षणाः" कहा है।

तथा चोक्तं 'मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः' इति । अत एव रसिकजनानुभवैकवेद्यत्वादेते भावाः सर्वोत्तमाः । तादृग्भाववन्तो भक्ता अपि सर्वोत्तमा इति सर्वोत्तमाद्युक्तस्वरूपाग्रेः कथनमेतेषु युक्तम्, न तु पूर्वोक्तेषु शेषादिषु, सर्वसाधारणत्वात् । अतस्तत्राग्निशब्दस्य तथा निरूपणं कृतम् । यद्यग्निशब्दस्य कश्चनान्योप्यर्थो भवेत्तदा स एवोत्तमः, नास्माकं तत्राग्रहः । यथा विरोधो न भवेत्तथा ग्रन्थार्थो व्याख्येय इति भावः । एवं स्वतन्त्रभक्तिभावस्वरूपनिर्देशमपि कृत्वा तस्य दुर्लभत्वमाहुः **तद्वाक्पानं सुदुर्लभमिति** । अत एव 'भक्तिः स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभे'त्युक्तत्वादत्रापि ते भावा नोच्यन्ते इति भावः । अत एव 'शुद्धा प्रेम्णातिदुर्लभा' इत्यप्युक्तम् ॥१७॥

यही बात "हे रसिकजनों ! भगवद्रस का निरन्तर पान करते रहो(श्री०भा० १-१-३)" इस श्लोक द्वारा कही गयी है, जहाँ बताया गया है कि जो रसिक और भावुक हैं, वही भागवतकथा का पान करें, सभी के लिये नहीं कहा गया। इसलिये केवल रसिकजन ही इन भगवद्भावों को जान सकते हैं अतः ये भाव सर्वोत्तम कहे गये हैं। और ऐसे भाव वाले भक्त भी सर्वोत्तम हैं, इसीलिये सर्वोत्तमस्तोत्र आदि में कहा गया आचार्यचरणों का अग्निस्वरूप हम इस श्लोक में कहे अमृततुल्य भाव के अंतर्गत तो कह सकते हैं, परन्तु पूर्व में कहे शेषव्यास आदि छह भगवदीयों के भावों के अंतर्गत नहीं कह सकते क्योंकि वे छह भगवदीय तो सर्वसाधारण भगवदीय की कोटि में आते हैं। इसीलिये हमने वहाँ पर भी अग्नि शब्द का अर्थ सामान्यरूप से ही किया था। हाँ, यदि वहाँ "अग्नि" शब्द का अर्थ कोई व्यक्ति और बढ़िया ढंग से करता हो तो वही उत्तम है और उसमें हमारा ऐसा कोई हठाग्रह भी नहीं है कि, हमने जो अर्थ किया वही सर्वश्रेष्ठ है। हमारा अभिगम तो ये है कि, जिस प्रकार से ग्रन्थ में कहीं भी आपस में विरोध न आये, उस प्रकार से ग्रन्थ के अर्थ की व्याख्या करनी चाहिए। तो इस प्रकार से आचार्यचरण स्वतन्त्रभक्ति के भाव का निरूपण करके अब ऐसे भाव की दुर्लभता तद्वाक्पानं सुदुर्लभं इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इसी कारण आपश्री ने "शुद्ध भक्ति का स्वरूप स्वतन्त्र है, ज्ञान-कर्म आदि से निरपेक्ष है एवं अत्यन्त दुर्लभ है अतः यहाँ उसे विस्तार से नहीं कह रहे हैं क्योंकि ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए जीव तो अनेकों मिल जायेंगे परन्तु ऐसी भक्ति वाले

तो करोड़ों में एक होते हैं(सर्व०- १९६)" यह निबन्ध में कह ही दिया है अतः यहाँ भी आपश्री उन शुद्धभावों को विस्तार से नहीं कह रहे हैं- यह भाव है। और इसी कारण आपश्री ने "शुद्धपुष्टिमार्गीयजीव भगवान से प्रेम करते हैं अतः ये मिलने बड़े दुर्लभ होते हैं(पु०प्र०म०भे०-१६)" ये भी कहा है ॥ १७ ॥

एवं दुर्लभत्वे को हेतुस्तत्राहुः ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्विन्दुपानं प्रकीर्त्तितम् ॥१८॥

तादृशानां वाक्यं क्वचिदेव भवति । उत्तमाधिकारिसंयोगे भवति, यथा शुकपरीक्षितयोः । यथा वा 'अक्षण्वता'मित्यादि । यथा वा भ्रमरगीते उद्धवं प्रति श्रीस्वामिनीवाक्यानि । पुनस्तत्तत्स्वरूपज्ञानेनोद्धववाक्यानि । तादृशं वाक्यं दूतानामिव वर्णितं भवति । दूतास्तु यथार्थवक्तारो यथानुभूतं कथयन्ति, तथा तेषां वाक्यं स्वानुभूतत्वेन तथ्यार्थमिति प्रमाणमित्यर्थः ।
किन्तु ऐसे भगवदीय इतने दुर्लभ क्यों है ? इसका कारण आपश्री अग्रिम श्लोक में कह रहे हैं।
आपश्री इसका कारण बताते हुए आज्ञा करते हैं- ऐसे भगवदीयों की वाणी कभी-कभी ही सुनने मिलती है क्योंकि उत्तमाधिकारी के मिलने पर ही ये अपना भगवद्भाव प्रकट करते हैं। जैसे शुकदेवजी को जब परीक्षित् मिले तब उन्होंने भागवतकथा कही। अथवा तो जैसा कि "अरी सखियों ! हमने तो आँख वालों के जीवन की और आँखों की इतनी ही सफलता समझी है कि, गाएँ हाँकते जा रहे श्यामसुन्दर की झाँकी कर सकें (श्री०भा० १०-२१-७)" इस श्लोक में बताया गया है कि, जब एक जैसी उत्तमाधिकारी गोपिकाएँ मिलीं, तब परस्पर ऐसा सुंदर भाव प्रकट हुआ। अथवा तो जैसा कि भ्रमरगीत में उद्धवजी के प्रति श्रीस्वामिनियों ने अपना उत्तमभाव प्रकट किया। उस उत्तमभाव को सुनकर पश्चात् उद्धजी ने भी जो कहा, वैसी वाणी। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ऐसे उत्तमभाव वाले भगवदीयों के वाक्य दूतों की तरह होते हैं। जिस प्रकार दूत यथार्थ कहने वाले होते हैं और जैसा अनुभव किया है, वैसा कहते हैं ; ठीक उसी प्रकार ऐसे भगवदीयों के वाक्य उनके अपने अनुभवजन्य होने के कारण यथार्थ होते हैं अतः प्रामाणिक होते हैं- यह अर्थ है।

ननु तादृशवाक्यस्यातिदुर्लभत्वेनाशक्योपदेशकथनं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्राहुः अजामिलेति । यथा अजामिले सर्वथानधिकारिण्यपि परमकृपया स्वनाममाहात्म्यं प्रकटितवान् प्रभुः, तथा तादृशे निःसाधनेपि कृपया परमानुग्रहेण तादृक् वाक्यं कदाचित्प्रकटीकरोति । अत एव क्वचिद्वाक्यं भवतीत्युक्तम् । अत एव तद्वाक्यममृतरूपबिन्दुपानं प्रकीर्तितम् । यथामृतस्य बिन्दुपानेप्यमरत्वं सिध्यति, तथा तावन्मात्रवाक्यश्रवणेपि तादृग्रूपत्वं समस्तभगवन्माहात्म्यस्वरूपज्ञानं च भवतीति भावः ॥१८॥
अब कोई यों शंका करे कि जब इनकी वाणी सुनना इतना दुर्लभ ही है, तो फिर आचार्यचरणों का ऐसा अशक्य उपदेश देना तो व्यर्थ ही है !! तो आपश्री इसका समाधान अजामिल इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का अजामिल का दृष्टान्त देने का अभिप्राय यह है कि, जिस प्रकार अजामिल जैसे सर्वथा अनधिकारी के लिये भी भगवान ने परमकृपा से अपने नाम-माहात्म्य को प्रकट किया, उसी प्रकार ऐसे किसी अनधिकारी निःसाधन जीव पर भी परम अनुग्रह करके भगवदीय अपनी भगवद्वाणी प्रकट करते हैं। इसलिये आपश्री आज्ञा करते हैं कि, ऐसे उत्तम भगवदीयों की वाणी कभी-कभी ही सुनने मिलती है। और इसी कारण इन भगवदीयों की वाणी को आपश्री ने अमृत के बिन्दुपान की भाँति कहा है। जिस प्रकार अमृत की एक बूँद से भी व्यक्ति अमर हो सकता है; ठीक इसी प्रकार ऐसे उत्तम भगवदीयों की वाणी के बिन्दुमात्र का भी श्रवण करने पर श्रोता में उनके जैसी भगवदीयता उत्पन्न हो जाती है एवं समस्त भगवन्माहात्म्य और भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाता है- यह भाव है ॥ १८ ॥

ननु माहात्म्यज्ञाने जातेप्यविद्याधर्माणां विद्यमानत्वात्कथं परमफलं सेत्स्यतीति तत्राहुः ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदालेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

तद्बिन्दुपानमात्रक्षणे स्त्रीपुत्रादिषु यो रागः स्नेहः, अज्ञानं भगवत्स्वरूपधर्मयोः, आदिपदेनासंभावनाविपरीतभावनादीनां च सर्वथा नाशनं नाशकारकं तद्वाक्यं भवति, एतद्यदा भवेत्तदालेहनं भगवत्स्वरूनिष्ठभावैस्तदास्वादनं जायते, तेन प्रतिबन्धनिवृत्तिः सूचिता । इष्टप्राप्तिमाहुः स्वानन्दोद्गमकारणमिति । तदास्वादे पूर्वं तिरोहितानन्दस्य प्राकट्यम्, पश्चात् प्रेमासक्तिसङ्कल्पव्यसनोत्पादनेनान्तर्भावत्स्वरूपानन्दाविर्भावो भवतीति भावः ॥१९॥
किन्तु शङ्का यह होती है कि, चलो भले ही भगवन्माहात्म्य का ज्ञान हो भी जाय, तथापि जब तक अविद्या के धर्म विद्यमान रहेंगे, तब तक परमफल कैसे प्राप्त होगा ?

श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- ऊपर कहे भगवदीयों की वाणी का मात्र बिन्दुपान करने से स्त्रीपुत्रादि में रहा हुआ राग/स्नेह, भगवत्स्वरूप एवं भगवद्धर्मों में रहा अज्ञान और आदि पद से भगवान की लीलाओं के प्रति होने वाली असंभावना और विपरीतभावना इत्यादि सभी का जब सर्वथा नाश हो जाता है, तब उस बिन्दुपान को लेहन(आस्वादन) करना कहा जाता है ; अर्थात् तब उसे भगवत्स्वरूप में निष्ठभाव के द्वारा इनकी वाणी का आस्वादन करना कहा जाता है ; और इसी से सभी प्रतिबन्धों की निवृत्ति हो जाती है। और जो इष्टप्राप्ति होती है, उसे आपश्री **स्वानन्दोद्गमकारणम्** शब्द से कह रहे हैं। लेहनं स्वानन्दोद्गमकारणम् का अर्थ है- भगवदीयों की वाणी का लेहन करना स्वानन्दोद्गम में कारण बनता है। स्व+आनन्द+उद्गम+कारण अर्थात् अपने भीतर रहे हुए भगवदानन्द के उद्भव होने में भगवदीयों की वाणी का लेहन करना कारण या हेतु बनता है। और वह इस प्रकार से कि- इनकी वाणी का आस्वादन करने पर पहले तो तिरोहित हुआ आनन्द पुनः प्रकट हो जाता है, तत्पश्चात् भगवान के प्रति प्रेम-आसक्ति-व्यसन इत्यादि उत्पन्न होते हैं, जिससे अन्तःकरण में भगवत्स्वरूप के आनन्द का आविर्भाव होता है- यह भाव है ॥ १९ ॥

ननु पूर्वोक्ता शेषादयः पूर्णा उक्ताः, तथाप्येतदपेक्षया न्यूनत्वात्तेषां धर्माणां कथं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं च तत्राहुः -

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयः तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवत्, यथा गङ्गात उद्धृत्य गृहे समानीतं जलमपि गङ्गाजलमेव, तथापि मर्यादामार्गविधिना स्नानपूजादिफलं प्रवाहस्थजल एव भवेन्नास्मिन्, तथा तेषां धर्माणामपि भगवद्धर्मरूपत्वं पूर्णत्वादिकं च तिष्ठत्येव, परन्तु पुष्टिफलप्रापकत्वं नेति भावः । पुष्टिफलं तु तादृक् बिन्दुपानजनितरसास्वादेनैव भवेन्नान्यथेति सूचितम् । एवं सति मर्यादामार्गीयभक्तिरसपूर्णत्वं पुरुषोत्तमसायुज्यफलकत्वं तेषां सम्पन्नमिति ज्ञापितम् ।

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, पूर्व के १४ वें श्लोक में तो आचार्यचरणों ने शेषव्यास इत्यादि भगवदीयों को पूर्णभगवदीय कहा था, किन्तु यदि यहाँ कहे भगवदीयों से उनकी तुलना करें तो शेषव्यास आदि भगवदीय इनसे न्यून सिद्ध होंगे ; तो फिर शेषव्यास आदि भगवदीयों के धर्मों को पूर्ण एवं फलसाधक कैसे कहा जा सकता है ? जबकि आचार्यचरण पूर्णफल की सिद्धि तो यहाँ कहे उत्तमभगवदीयों के बिन्दुपान से होनी बता रहे हैं ?? तो इसका समाधान अग्रिमश्लोक में कर रहे हैं।

आचार्यचरण आज्ञा करते हैं- उक्तातिरिक्ता अर्थात् अमृतसमुद्र के समान कहे जाने वाले उत्तमभगवदीयों के अतिरिक्त शेषव्यास आदि भगवदीयों के वाक्य उद्धृतोदकवत् अर्थात् कहीं से भर कर लाये गये जल के समान होते हैं। जिस प्रकार गङ्गा से भर के घर लाया गया जल भी गङ्गाजल ही होता है तथापि मर्यादामार्ग की विधि के अनुसार स्नान-पूजा आदि का फल तो प्रवाहित होते हुए गङ्गाजल में ही प्राप्त होता है, भर कर लाये गये जल से नहीं ; ठीक उसी प्रकार शेषव्यास जैसे भगवदीयों के धर्मों की भी भगवद्धर्मरूपता एवं पूर्णता तो रहती ही है, परन्तु वे धर्म पुष्टिफल प्राप्त नहीं करा सकते- यह भाव है। पुष्टिफल तो ऊपर कहे अनुसार उत्तमभगवदीयों की वाणी के बिन्दुपान का रसास्वादन करने से ही प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। इसलिये उपरोक्त विश्लेषण को ध्यान में रखते हुए समझें कि, पूर्व में कहे शेषव्यास आदि भगवदीयों में मर्यादामार्गीयभक्तिरस की पूर्णता एवं पुरुषोत्तम से सायुज्य प्राप्त कराने की फलता है।

किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । यथा वर्षाजलमाकाशात् पतितं यद्यपि शुद्धं निर्मलं, तथापि मध्ये गृहीतं चेत् कर्मादियोग्यं न भवति, भूमौ पतितं चेत्कर्मादियोग्यं भवति, तथा तानि वाक्यानि शुद्धानि निर्मलानि, तथाप्येतादृशभक्तिरसभावाशयसंवलितत्वाभावादेतत्फलरूपस्वरूपसम्बन्धकारकाणि न भवन्तीति भावः । एतदेवोक्तं फलं चापि तथा तत इति । यादृशो मार्गः यादृशं वाक्यं तादृशमेव फलं भवेदिति भावः ।

इसी बात को अधिक पुष्ट करने के लिये आपश्री शेषव्यास आदि भगवदीयों के विषय में पतितोदकवत् शब्द से दूसरे दृष्टान्त द्वारा भी कह रहे हैं। पतितोदकवत् का अर्थ है- गिरने वाले जल की भाँति। तात्पर्य यह कि जैसे वर्षाजल आकाश से गिरता हुआ यद्यपि शुद्ध, निर्मल होता है परन्तु यदि बीच में ग्रहण कर लिया जाय तो कर्म-आदि के लिये योग्य नहीं रहता ; किन्तु जब एक बार भूमि पर गिर जाता है तब ही नदी-तलाब या कुए इत्यादि किसी न किसी रूप में परिवर्तित हो जाने के पश्चात् ही कर्म-आदि के योग्य बन पाता है ; ठीक उसी प्रकार पूर्व में कहे पूर्णभगवदीयों की वाणी तो शुद्ध और निर्मल होती है, तथापि ऊपर कही पुष्टिभक्तिभाव से संवलित नहीं होती है अतः पुष्टिफलरूप और पुष्टिस्वरूप से सम्बन्ध कराने वाली नहीं बन सकती- यह भाव है। इसी बात को आपश्री ने फलं चापि तथा ततः इत्यादि शब्दों से कहा है। क्योंकि जैसा मार्ग और जैसी वाणी, वैसा ही फल प्राप्त होता है- यह भाव है।

अथवा, पूर्वं स्वतन्त्रतया प्रमेयबलमाश्रित्योक्तम्, अधुना शास्त्रक्रमानुसारेणोच्यते । तथाहि, उक्तातिरिक्ता अमृतोदतुल्यातिरिक्ताः शेषादयस्तेषां वाक्यानि उद्धृतोदकवदुपकारं कुर्वन्ति । यथा जलाशयादुद्धृतं गृहे समानीतं जलं गृहादिशोधकत्वेन स्नानाचमनादिनात्मशोधकत्वेन पाकादिकर्मकारकत्वेन तृषादिनिवर्तकत्वेन चोपकारकं भवति, तथा तेषां वाक्यानि वाक्योक्तधर्माचरणादिना अविद्यौपाधिककर्मनाशकत्वेन ज्ञानादिधर्मोत्पादकत्वेन सांसारिकतापनिवर्तकत्वेन मुक्तिफलकत्वेन च प्रतिक्षणमुपकुर्वन्तीति भावः ।

अथवा, इन दोनों भगवदीयों के बीच का अंतर एक और ढंग से भी समझ लें। अर्थात् अमृतसमुद्रतुल्य भगवदीय और शेषव्यासनारद इत्यादि पूर्णभगवदीयों के बीच का अंतर। यों समझें कि पूर्व के १९वें श्लोक में आचार्यचरणों ने स्वानन्दोद्रमकारणम् वाली बात प्रमेयबल के अनुरूप कही थी और अब शास्त्रीयक्रम से कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि पूर्व के १६ से लेकर १९वें तक के श्लोक में जो अमृतसमुद्र समान भगवदीयों की वाणी का पान करने की दुर्लभता एवं उनकी वाणी का बिन्दुपान एवं आस्वादन करने की बात कही गयी थी, उन सभी में मुख्यरूप से भगवत्कृपा बतायी गयी थी अर्थात् प्रमेयबल की बात कही गयी थी। फलितार्थ वहाँ यह बताना था कि, जीव योग्य हो या अयोग्य, पात्र हो या अपात्र परन्तु यदि भगवत्कृपा हो यानि स्वयं भगवान को ही कृपा करनी हो तो वो भगवत्प्राप्ति करने के साधन न भी करे, तब भी किञ्चित् मात्र से भी उसका उद्धार हो सकता है। किन्तु शास्त्रीय प्रकार यह है कि जीव साधन इत्यादि करे और तब विधि-मर्यादा के अनुसार उसका उद्धार होता है। टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, पूर्व के श्लोकों में भगवान से प्रमेयबल से उद्धार होने की बात कही गयी थी और अब शास्त्रीयमर्यादा से होना बता रहे हैं। वह ऐसे कि, ऊपर कहे अमृतसमुद्र समान भगवदीयों से अतिरिक्त शेषव्यास आदि पूर्णभगवदीयों की वाणी उद्धृतोदकजल की भाँति उपकार करती है। वह यों कि, जैसे जलाशय से भरकर घर लाया गया जल घर की साफ-सफाई, स्नान-आचमन के द्वारा शुद्धि करता होने के कारण एवं रसोई आदि कार्यों में उपयोगी होता होने के कारण एवं प्यास मिटाता होने के कारण उपकारी होता है; ठीक उसी प्रकार इन पूर्णभगवदीयों के वाक्यों में बताये गये धर्माचरण द्वारा अविद्या जैसे उपाधिरूप कर्म का नाश होता होने से, वे वाक्य ज्ञान आदि धर्म उत्पन्न करते होने के कारण, सांसारिकताप दूर करते होने के कारण एवं मुक्तिफल प्राप्त कराते होने से श्रोता का प्रतिक्षण उपकार करते हैं- यह भाव है।

तादृशस्थितौ विशेषानुग्रहश्चेत्तदा पुष्टौ प्रवेशः, नो चेत्तदुपकार एवेत्यर्थः । एतदेवोक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यती'ति । अतएव पुष्टिमार्गाधिकारो मुक्तानामेवेति 'मुक्तोपसृप्य' इत्याद्युक्तम् । किञ्च, एतत्पोषकत्वेन द्वितीयं दृष्टान्तमाहुः पतितोदकवदिति । वर्षाजलं पतितमुपकरोति, परन्तु मर्यादया पतितं चेत् । नो चेत्सर्वस्यादिनाशकं भवेत् । एवं मर्यादया धर्माचरणे फलं भवेत्, नो चेदौद्धत्येन सर्वधर्मनाशो भवेदिति तेषां वाक्यानामुपकारकत्वं पूर्णत्वं फलसाधकत्वं चोक्तम् । अत एव फलं चापि तथा तत इत्युक्तम् । ततस्तादृशवाक्यात् फलं च तथा तदनुसार्येव सायुज्यं भवेदिति भावः ॥२०॥

और ऐसे ही भगवदीयों पर जब भगवान का विशेष अनुग्रह होता है, तब उनका पुष्टि में प्रवेश होता है, और यदि विशेष अनुग्रह नहीं होता तो फिर जैसा कि ऊपर बताया गया, वैसे ही उपकार करते हैं। यही बात आपश्री ने सिद्धान्तमुक्तावली में "मुक्त एवं भक्त दोनों को क्रमपूर्वक भगवान का अनुग्रह होने पर मानसी फलित होगी(सि०मु०- १९)" इस वाक्य द्वारा कही है। अतएव पुष्टिमार्ग में अधिकार मुक्तजीवों को ही है, इसीलिये "उस सर्वाधार परमात्मा को मुक्तपुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं(ब्र०सू० १-३-२)" ये वाक्य कहा गया है। और, इसी बात को और अधिक पुष्ट करने के लिये पतितोदकवत् शब्द से आपश्री ने दूसरा दृष्टान्त दिया गया है। इस दृष्टान्त का भावार्थ यह है कि, वर्षाजल बरस कर उपकार करता है, परन्तु अपनी मर्यादा में बहे तब। यदि मर्यादा तोड़ कर बरसने लगे, तो सर्वस्व नाश कर देता है। ठीक इसी प्रकार मर्यादामार्ग द्वारा धर्माचरण करने पर फल प्राप्त होता है, परन्तु उसकी मर्यादा ठीक ढंग से न निभाई जाय और आवश्यकता से अधिक करने जायेंगे तो सर्वधर्मनाश हो जाता है ; इसलिये इसी अर्थ में पूर्व में कहे भगवदीयों के वाक्यों को उपकारी, पूर्ण और फलसाधक बताया गया। अत एव आपश्री ने फलं चापि तथा ततः यों कहा है। ततः अर्थात् उन मर्यादामार्गीय भगवदीयों की वाणी से प्राप्त होने वाला फल भी उसी के अनुसार अर्थात् सायुज्य प्राप्त होता है- यह भाव है।

अतः परमुपसंहरन्ति ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥२१॥

इति प्रकारका जीवेन्द्रियगताः, जीवगता आत्मगामिनः, इन्द्रियगता विषयगामिनः । अत एव भुवि स्वाधारे नानाभावं गतास्तादृशा

विष्णोः व्यापकस्य रसात्मकस्य च गुणाः भावाः रूपतः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिताः । एतेन सन्देहनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्मार्गप्रवृतौ फलं भविष्यतीति ज्ञापितम् ॥२१॥

यथामति मया भावा रूपतः फलतोपि हि ।
निरूपितास्तत्र किञ्चिद् बुद्धिदोषेण यद्भवेत् ।
अन्यथा तत्सकरुणा क्षमन्तां प्रभवो मम ॥१॥

इति श्रीवल्लभकृतं श्रीजलभेदविवरणं संपूर्णम् ॥

अब आचार्यचरण ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।
इति का अर्थ है- इस प्रकार से। फलितार्थ यह है कि, उपरोक्त प्रकार से जीव/आत्मा में प्रविष्ट होने वाले एवं इन्द्रियों में प्रविष्ट होने वाले भगवान विष्णु के गुण आपश्री ने कह दिये। अतएव भुवि अर्थात् आधाररूपी स्वयं वक्ता में अनेक भावों के द्वारा प्रविष्ट होने वाले व्यापक एवं रसात्मक विष्णु के गुण या भगवद्भावों को आचार्यचरणों ने स्वरूपतः और फलतः निरूपित कर दिया। इस ग्रन्थ से सन्देहों की निवृत्ति होगी और भगवन्मार्ग में प्रवृत्ति होकर फल प्राप्त होगा- यह बताया गया॥ २१॥

मैंने यथामति वक्ता के भावों का स्वरूपतः और फलतः निरूपण किया है,
बुद्धिदोष के करण कुछ अन्यथा अर्थ हो गया हो तो,
उसे मेरे करुणासागर प्रभु क्षमा करें॥ १॥

यह श्रीवल्लभकृत श्रीजलभेद का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

जलभेदः ।

श्रीबालकृष्णकृतविवृतिसमेतः ।

श्रीराधिकावदनपद्ममरन्दपानघूर्णायमाननयनः [1]स्फुटलाञ्छनश्रीः ।
मन्दस्मितो रतिविलासजयोदिताङ्गकान्तिः सदा स्फुरतु मद्धृदि गोपिकेशः ॥१॥

भावाब्धिमथनाचार्यचरणान् नौमि संततम् ।
गोपीशभावभावाप्तिर्यत्कृपातो न दुर्लभा ॥२॥

श्रीराधिकाजी के मुखकमल के मकरन्द का पान करने से जिनके नेत्रों में लालिमा आ गयी है, जिनमें शोभा के चिन्ह प्रकट हो गये हैं, मन्दहास करने वाले, रतिविलास में विजय प्राप्त करने से उत्पन्न हुई अङ्गकांति से सुशोभित गोपिकेश मेरे हृदय में सदा स्फुरित रहें ॥ १ ॥

भावों के सागर का मन्थन करने वाले आचार्यचरणों को मैं सतत नमस्कार करता हूँ,
जिनकी कृपा से गोपीशभाव रखनेवाले भगवदीयों के भाव की प्राप्ति दुर्लभ नहीं ॥ २ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां भावज्ञानेन पूर्णप्रेमभावोत्पत्त्यर्थं भावनिरूपणं प्रतिजानते । यथा निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं मङ्गलाचरणस्य शिष्टाचारत्वं, तथात्र स्वीयेषु निर्विघ्नभावोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं भगवन्नमस्करणात्मकं मङ्गलमाचरन्ति **नमस्कृत्येति** ।

नमस्कृत्य हरिं वक्ष्ये तद्गुणानां विभेदकान् ।
भावान् विंशतिधा भिन्नान् सर्वसन्देहवारकान् ॥१॥

हरिमकारणसर्वदुःखहर्तारं नमस्कृत्य तद्गुणानां तदीयभक्तगुणानां विभेदकान् विशेषेण भेदबोधकान् भावान् वक्ष्ये इति सम्बन्धः । विंशतिप्रकारेण भिन्नान् तान् वक्ष्य इत्यर्थः । ननु एतत्कथनं किं प्रयोजनकमित्याकाङ्क्षायामाहुः **सर्वसन्देहवारकानिति** । यच्छ्रवणात् सर्वेषां सन्देहाभावः स्यादित्यर्थः । यद्वा, सर्वे भगवति प्राप्तिसन्देहवारका इति भावः ॥१॥

अब श्रीमदाचार्यचरण स्वीयजनों को भावों के ज्ञान द्वारा प्रभु के प्रति पूर्णप्रेमभाव उत्पन्न हो जाए, इसके लिये भाव का निरूपण कर रहे हैं। जिस प्रकार किसी कार्य को निर्विघ्नरूप से संपन्न करने के लिये मङ्गलाचरण करने का शिष्टाचार है, उसी प्रकार निजजनों को निर्विघ्नरूप से प्रभु के प्रति भाव उत्पन्न हो जाए एतदर्थ आपश्री **नमस्कृत्य** इत्यादि शब्दों से भगवान का नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण कर रहे हैं। हरिं नमस्कृत्य का अर्थ है- अनायास ही समस्त दुखों को हरने वाले हरि को नमस्कार करके। **तद्गुणानां** का अर्थ है- तदीयभक्तों के गुणों का विशेषरूप से भेद कर देने वाले भावों को कहेंगे। तात्पर्य यह कि, बीस प्रकार के **भिन्नान्** भिन्न-भिन्न भावों को कहेंगे। किन्तु यों बीस प्रकार से भिन्न-भिन्न भावों को कहने का प्रयोजन क्या है ? तो आपश्री आज्ञा करते हैं- **सर्वसन्देहवारकान्** अर्थात् कारण कि ये भिन्न-भिन्न भाव समस्त सन्देहों के निवारक हैं ; तात्पर्य यह कि इनको सुनने से भगवद्भावों के प्रति रहे हुए समस्त सन्देह मिट जायेंगे, इसलिए कह रहे हैं। अथवा, यों समझें कि सर्व शब्द का अर्थ है- भगवान। अतः **सर्वसन्देहवारकान्** [सर्व(भगवान)+सन्देह+वारकान्] का अर्थ हुआ- भगवान को प्राप्त करने में जो सन्देह हैं, उनका निवारण करने वाले ये बीस प्रकार के भाव हैं, जिनका निरूपण आचार्यचरण कर रहे हैं- यह अर्थ है ॥ १ ॥

एवं प्रतिज्ञाय भेदानेवाहुः **गुणभेदा** इति ।

गुणभेदास्तु तावन्तो यावन्तो हि जले मताः ।
गायकाः कूपसङ्काशा गन्धर्वा इति विश्रुताः ॥२॥

यावन्तो जले भेदा वेदोक्तास्तावन्तो गुणभेदा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र 'कूप्याभ्यः स्वाहे'त्यारभ्य 'सर्वाभ्यः स्वाहे'त्यन्ता श्रुतिरनुसन्धेया । गुणानां जलसाम्योक्त्या स्वतः शुद्धत्वं बोध्यते । 'आपः स्वभावतो मेध्या' इत्यादिवाक्येभ्यो जलानां स्वतःशुद्धत्वं, तथैव भगवत्सम्बन्धित्वाद्गुणानामिति भावः । यथा जलमन्यमेलने तदात्मकतां भजते, तत्र च स्वस्वरूपात्मकतां च करोति, तथा भगवानपि भक्तभावमेलने स्वगुणान् तद्भावसाम्यान् करोति, तं च स्वीयं स्वसमं करोति ।

---

१. स्फुटालङ्कृतश्रीरिति मूले पाठः ।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके अब अग्रिमश्लोक में आचार्यचरण उन्हीं भावों के भेदों को (अलग अलग प्रकार के भावों को) **गुणभेदाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- वेद में जल के जितने भेद कहे गये हैं, उतने ही भगवद्गुणों के भेद भी जान लेने चाहिए- यह अर्थ है। इन गुणभेदों को समझने में "कूप्याभ्यः स्वाहा" से लेकर "सर्वाभ्यः स्वाहा" यहाँ तक की श्रुतियाँ ध्यान में रखनी चाहिए। आपश्री भक्तों में रहने वाले भगवद्गुणों की तुलना जल से कर रहे हैं, जिसमें समझने वाली बात यह है कि, भगवद्गुण स्वतः तो शुद्ध ही होते हैं। जिस प्रकार से "जल तो स्वभावतः पवित्र होता है" इस वाक्य द्वारा जल को स्वतः शुद्ध बताया गया है, ठीक उसी प्रकार भगवत्सम्बन्धित होने के कारण भगवद्गुण भी स्वतः शुद्ध ही होते हैं। जिस प्रकार जल को अन्य किसी में भी मिलाया जाय, तो वह उसके जैसा हो जाता है, और साथ ही साथ उसे भी अपने ही जैसा प्रवाही बना देता है, ठीक उसी प्रकार भगवान भी जब अपने गुणों को भक्त के भाव से मिलाते हैं, तब (यानि कि जब भगवद्गुण जीवगत भाव में प्रविष्ट होते हैं, तब) अपने गुणों को उस भक्त के भावानुसार बना देते हैं और साथ ही साथ भक्त को भी अपने गुणों जैसा बना देते हैं, उसे अपने समान बना देते हैं।

ननु भक्तस्य प्रभुसाम्यता कथमिति चेदुच्यते । तदसाम्यत्वे भक्तत्वमेव न स्यात् । अत एवोक्तं 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्', 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः', इत्यादि च । तस्माद्भक्तत्वेपि न हानिर्यतो तद्भजनस्यैव स धर्मो, न त्वन्यधर्म इति त्वदुक्ताशङ्कागन्धलेशोपि नेत्यलम् । तत्र प्रथमं भगवतो रसरूपत्वाद्रमणैकस्वभावत्वात् तत्र च गानमुख्यता श्रुत्योच्यते 'यदा खलु वै पुरुषो श्रियमश्नुते तदा वीणास्मै वाद्यते' इत्यादि । तस्माद्गानप्रियो भगवानिति गायकानां भावमाहुः **गायका इति । विश्रुताः प्रसिद्धाः गानरसज्ञा ये गायकास्ते कूपसङ्काशास्तेषां भावः कूपजलतुल्य इत्यर्थः । यथा कूपोदकं शीतकाले अन्तरुष्णं, घर्मकाले बाह्यतः शीतं, तथैतेषामपि भावोपि श्रवणानन्दत्वेनोपरि शीतलस्तदनन्तरं रसबोधे भगवत्प्राप्त्यर्थं मनस्तापकः । तथा सति अतिप्रचुरबाह्यतापे सति भगवच्छ्रवणसुखदत्वेनान्तःशीतल इति भावः ।**

परन्तु किसी को एक शङ्का यह है कि, भक्त की प्रभु से समानता कैसे हो सकती है ? तो इसका समाधान कह रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि, भक्त भगवान के समान न हो तो उसमें भक्तत्व आ ही नहीं सकता। इसीलिये कहा गया है "देवरूप होकर देवों का यजन करना चाहिए(बृ०उप० ४-१-२ ; सुबालोपनिषद् २-२)" , "जो भगवान में जिस गुण वाली श्रद्धा रखता है, वह स्वयं भी वैसे ही गुणों वाला होता है(भ०गी० १७-३)" इत्यादि। इसलिये यदि भक्त भगवान के समान हो जाता है तो उसके भक्तत्व में कोई हानि नहीं होती क्योंकि भगवान के समान हो जाना तो भगवद्भजन करने का ही एक धर्म है, कोई अन्य धर्म नहीं अतः आपकी कही शङ्का की लेशमात्र भी गन्ध नहीं है। अब सर्वप्रथम, चूँकि भगवान रसरूपात्मक हैं एवं केवल रमणस्वभाव वाले हैं और रमण में तो गान की मुख्यता स्वयं श्रुति "यदा खलु वै" इत्यादि शब्दों से कह रही है अतः भगवान गानप्रिय हैं, यह सिद्ध होता है, इसलिये आचार्यचरण गायकों का भाव **गायकाः** इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। **विश्रुताः** का अर्थ है- गायकरूप से प्रसिद्ध गानरस के जानकार ; ऐसे गायक **कूपसङ्काशाः** अर्थात् कुए के समान कहे गये हैं, इनका भाव कुए के जल के समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार कुए का जल शीतकाल में अन्दर से उष्ण होता है और ग्रीष्मकाल में बाहर से शीतल होता है : ठीक उसी प्रकार इन गायकों का भाव भी श्रोताओं को श्रवणानन्द देता होने के कारण ऊपर से शीतल होता है और तदनन्तर श्रोता को भगवद्रस का बोध हो जाने पर भगवत्प्राप्ति के लिये उसके मन को तापकारी बनाता है। और जब श्रोताओं को अतिप्रचुर बाह्यताप उत्पन्न होता है, तो भगवच्छ्रवणसुख देता होने के कारण उनके लिये अन्तःकरण में शीतल होता है।

ननु एतेषां भगवद्गुणसम्बन्धत्वेन गानाभावात् कथं भगवद्भाव इति चेत् ? उच्यते । भगवत्स्वरूपस्य नादब्रह्मात्मकत्वाद्यथास्थितनादस्वरूपज्ञाने भगवत्प्राप्तिरिति भावः । अत एव सङ्गीतशास्त्रे निरूपितं 'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः । तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं लभेत हि' इति । यथा कौपं जलं गुणेनैव ग्राह्यं, तथैतेषां भावो भगवत्त्वगुणत्वेनैव गृह्यत इति भावः ॥२॥

किन्तु इन गायकों के लिये शङ्का यह होती है कि, इनके गायन में भगवद्गुणगान का सम्बन्ध तो होता ही नहीं, फिर ये श्रोता में भगवद्भाव कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? तो इस शङ्का का समाधान कह रहे हैं। भगवत्स्वरूप नादब्रह्मात्मक होता है अतः व्यवस्थित नादस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भगवत्प्राप्ति हो जाती है- यह भाव है। अतएव सङ्गीतशास्त्र में "वीणावादनतत्वज्ञ" इस प्रकार से निरूपण किया गया

है। फलितार्थ यह हुआ कि, जिस प्रकार कुए का जल रस्सी से ही ग्रहण किया जा सकता है ; ठीक उसी प्रकार इन गायकों का भाव भी इनमें रहे हुए भगवत्त्वगुण से ही ग्रहण किया जाता है॥ २॥

ननु गायकानामनेकभेदवत्त्वात् कथं सर्वेषां तुल्यतेत्याशङ्क्याहुः कूपभेदास्त्विति ।

कूपभेदास्तु यावन्तस्तावन्तस्तेपि सम्मताः ।
कुल्याः पौराणिकाः प्रोक्ताः पारम्पर्ययुता भुवि ॥३॥

यावन्तः कूपभेदाः सन्ति तावन्त एव गायकभेदाः सम्मता इत्यर्थः । यथा केचित् कूपा मिष्टान्नपरिपाचकत्वे सुरतरुपक्षस्थाः, केचिद्रुरुत्वादन्नपरिपाककारिणः, केचित् क्षाराः शुद्ध्यादिहेतवः, एवमनेकभेदास्तथा तेपि भगवद्गुणनिबन्धार्थज्ञानयुक्ताः, केचिच्च नादब्रह्मात्मकस्वरूपज्ञाः, केचिद्गानमाधुर्यपराः बहुभेदाः सन्ति इति यावन्तस्ते तावन्तस्तेषामपि भेदा ज्ञेयाः इति भावः ।

किन्तु प्रश्न यह है कि, गायक भी अनेक प्रकार के होते हैं, फिर सभी गायकों को एक समान कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर आपश्री **कूपभेदास्तु** इत्यादि शब्दों से दे रहे हैं।

आपश्री श्लोक में आज्ञा करते हैं- कुए के जितने भेद होते हैं, उतने ही गायकों के भी भेद माने गये हैं। जैसे कुछ कुए मिष्टान्न का परिपाचन करते होने के कारण कल्पवृक्ष समान होते हैं, कुछ कुओं का जल भारी होने के कारण अन्न का परिपाचन करता है, कुछ कुओं का जल खारा होने के कारण शुद्धि आदि करता है, यों कुओं के भी अनेक भेद होते हैं ; ठीक उसी प्रकार कुछ गायक भगवद्गुण के व्यवस्थितज्ञान से युक्त होते हैं, कुछ नादब्रह्मात्मकस्वरूप के ज्ञाता होते हैं, कुछ गान के माधुर्य में तल्लीन रहते हैं , यों गायकों के भी अनेक भेद होते हैं अतः जितने भेद कुओं के होते हैं, उतने ही भेद गायकों के भी समझ लेने चाहिए- यह भाव है।

प्रथमभावं निरूप्य द्वितीयमाहुः कुल्याः पौराणिका इति । पौराणिकाः पुराणज्ञाः कुल्याः प्रोक्ताः । कृत्रिमसरित्तुल्या उक्ता इत्यर्थः । यतो भुवि पारम्पर्ययुताः, धरण्यां यथा परम्परया पुराणं श्रुत्वा वर्णयन्ति, न तु स्वतो विचारयन्ति, तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तथा कृत्रिमा नदी प्रत्यहं खननादियानैरेव प्रवहति, प्रमादादप्यप्रयत्नतो वालुकादिभिः सुनिहता भवति, तथा तेषामपि नित्यं पुराणादिदर्शन एव भावो भवति, नान्यथा । यथा तस्याः पारम्पर्यता भुव्येव तडागादिषु, न तु स्वतः प्रवहन्नदीजलवत् सादित्वं समुद्रगत्वं च, तथैतेषामपि पुराणदर्शनकाल एवोत्पत्तिस्तत्रैव च समाप्तिर्न तु दयासमुद्रभगवद्गामित्वम् ॥३॥

इस प्रकार प्रथमभाव का निरूपण करके आपश्री द्वितीयभाव को कुल्याः पौराणिकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। पौराणिक अर्थात् पुराण के ज्ञाता "कुल्या" कहे जाते हैं ; तात्पर्य यह कि "कुल्या" यानि कृत्रिमनदी के समान कहे जाते हैं- यह अर्थ है। क्योंकि ये भूतल पर परम्परा से पुराणोपदेश कर रहे होते हैं, भूतल पर परम्परा से पुराणों को सुनकर उनका वैसा ही वर्णन करते हैं, स्वयं उनका विचार/चिंतन नहीं करते ; ऐसे पौराणिकवक्ताओं का भाव कुल्या (कृत्रिमनदी) के जल समान कहा जाता है। क्योंकि जैसे कृत्रिमनदी प्रतिदिन खोद कर ले जाने से ही प्रवाहित होती है, और यदि प्रमादवश खोदने का प्रयत्न न करें तो बालू इत्यादि से रुक भी जाती है : ठीक इसी प्रकार इन पौराणिकवक्ताओं का भाव भी पुराणादि का नित्य पठनपाठन करने से ही टिका रहता है, अन्यथा प्रमादवश यदि पुराणों का अवगाहन छूट जाय, तो भाव बाधित भी हो जाता है। जैसे कृत्रिमनदी परम्परागतरूप से भूमि पर किसी तड़ाग के रूप में रहती है, नदी की भाँति न तो उसका कोई उद्गमस्थल होता है और न वो स्वयं प्रवाहित होती है और न ही स्वयं समुद्र से मिलती है ; ठीक उसी प्रकार इनका भाव भी पुराणों का पठनपाठन करते समय ही जाग्रत होता है और पाठ संपूर्ण हो जाने के पश्चात् भाव भी लुप्त हो जाता है, कृपासागरभगवान की ओर नहीं बढ़ता॥ ३॥

तृतीयमाहुः क्षेत्रप्रविष्टा इति ।

क्षेत्रप्रविष्टास्ते चापि संसारोत्पत्तिहेतवः ।
वेश्यादिसहिता मत्ता गायका गर्तसंज्ञिकाः ॥४॥

ते च पौराणिकाः । गायकनिरूपणानन्तरं पौराणिकनिरूपणेन पुनश्च गायकनिरूपणेन पुराणोक्तभगवल्लीलानिरूपका गायका इवेत्यर्थः । गानस्य यथा चित्तहारकत्वम्, तथा पुराणानामपीति तन्मध्यनिरूपणमिति भावः । क्षेत्रप्रविष्टाः स्वकुटुम्बपोषणाजीविकार्थं पुराणनिरूपकाः ये ते संसारोत्पत्तिकुटुम्बपोषणसाधनोत्पत्तिहेतवो भवन्ति इत्यर्थः ।

अब आचार्यचरण तीसरे प्रकार के भाव को क्षेत्रप्रविष्टा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

यहाँ "ते" शब्द का अर्थ तीसरे श्लोक में कहे पौराणिकवक्ता हैं। दूसरे श्लोक में आचार्यचरणों ने गायकों का निरूपण किया, इसके पश्चात् तीसरे श्लोक में पौराणिकों का निरूपण किया और उसके पश्चात् अब इस श्लोक में फिर से गायकों का निरूपण किया है, जिससे ज्ञात

होता है कि, पुराणोक्त भगवल्लीला का निरूपण करने वाले पौराणिक भी गायकों के जैसे ही होते हैं। गीत जिस प्रकार से चित्त को हर लेता है, उसी प्रकार पुराण में कही भगवल्लीलाएँ भी चित्त को हर लेती हैं अतः गायकों की चर्चा के बीच में ही आचार्यचरणों ने पौराणिकों का भी उल्लेख कर दिया है। **क्षेत्रप्रविष्टाः** कहने का अर्थ यह है कि, अपने कुटुंब का पोषण करने के लिये आजीविका चलाने के लिये जो पुराणों का उपदेश करते हैं, वे श्रोता के लिये/अपने लिये संसार एवं कुटुंबपोषण के साधन उत्पन्न करने के ही कारण बनते हैं, भगवद्भाव उत्पन्न नहीं कर सकते- यह अर्थ है।

चकारेण भगवद्गुणवर्णकानामनुचितः संसारः, तथापि तदर्थमेव कृतत्वात् तथेति भावो बोध्यते । अपिशब्देन संसारोत्पत्तिरपि भगवद्गुणविक्रेतुर्न भवेत्, परं भगवन्माहात्म्यवत्येवेति बोध्यते। यथाल्पसरिदपि क्षेत्रे प्रविष्टा सती संसारोत्पत्तिहेतुरन्नाद्युत्पादिका भवति, न तु स्नानपानयोग्या। तथैतेषां भावोपि पुराणदर्शनेन स्वात्मशोधको न भवति, किन्तु जीविकाहेतुरेव भवतीत्यर्थः। अत एव पुराणोपजीवका नीचा उक्ताः। 'नीचा पौराणिकाः स्मृता' इति ।

यद्यपि भगवद्गुणवर्णन करने वालों को सांसारिकफल मिलने की बात कहनी अनुचित है, उनके लिये तो संसाररूपी फल भी नहीं अपितु नरकप्राप्ति होनी कहनी चाहिए थी किन्तु परन्तु "च" शब्द से यह ज्ञात होता है कि, ऐसे क्षेत्रप्रविष्टवक्ता अपना भरणपोषण करने के लिये ही भगवद्गुणगान कर रहे होते हैं अतः आपश्री इन्हें सांसारिकफल मिलने की बात कह रहे हैं- यह अर्थ है। वैसे "अपि" शब्द से यह ज्ञात होता है कि, भगवद्गुणों का विक्रय करने वाले को तो संसारोत्पत्ति भी नहीं होगी अर्थात् उसे तो संसाररूपी फल भी नहीं मिलेगा अपितु नरक ही प्राप्त होना है परन्तु जो भगवन्माहात्म्य को जानता है, उसे कम से कम नरक तो नहीं, हाँ संसारोत्पत्तिरूपी फल मिलेगा। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि, भगवद्गुणगान या भगवद्गुणवर्णन करने का फल कभी भी संसार मिलना या लौकिकफल मिलना नहीं हो सकता अपितु उससे तो मुक्ति या अलौकिकता ही प्राप्त होती है। किन्तु यहाँ बात उनकी चल रही है, जो आजीविका के लिये भगवद्गुणगान कर रहे हैं। उनके लिये टीकाकार कहते हैं कि, यदि आजीविका के लिये भगवद्गुणगान कर रहे हैं तो ऐसों को तो सीधे-सीधे नरक ही प्राप्त होना है, परन्तु उनके लिये इस ग्रन्थ में यह कहा गया है कि उन्हें संसाररूपी फल प्राप्त होता है, ऐसा क्यों कहा गया इसका धैर्यपूर्वक विचार करें। टीकाकार सावधानीपूर्वक यह कह रहे हैं, कि यद्यपि आजीविका के लिये भगवद्गुणगान करने वालों को नरक ही प्राप्त होना/होता है परन्तु नरकप्राप्ति न होकर उससे कुछ ऊपर चढ़ कर संसाररूपी फल भी उन्हें प्राप्त होगा, उन्हें जो कम से कम भगवान के माहात्म्य को तो जानते ही हैं अर्थात् उन्हें भगवत्स्वरूप का यत्किञ्चित् ज्ञान तो है ही। दूसरी तरफ जिन्हें भगवन्माहात्म्य या भगवत्स्वरूप तक का भी ज्ञान नहीं है और भगवान के नाम का विक्रय कर रहे हैं, उन्हें तो संसाररूपी तुच्छ लौकिकफल भी नहीं मिलेगा, ऐसों को तो नरक ही मिलना है। तात्पर्य यह कि भगवन्माहात्म्य का ज्ञान कम से कम नरकप्राप्ति से बचा लेगा और संसाररूपी तुच्छफल दे देगा । जिस प्रकार से छोटी नदी भी यदि खेत में प्रविष्ट हो जाय, तो संसारोत्पत्ति का ही हेतु बनेगी अर्थात् अन्न-आदि का ही उत्पादन करती है, स्नान-पान के योग्य नहीं रहती ; ठीक उसी प्रकार इन क्षेत्रप्रविष्ट पौराणिकों का भाव भी पुराणों का पठन-पाठन करने पर भी उनकी अपनी आत्मा का शोधक नहीं बन पाता किन्तु उनकी जीविका का ही साधन बन पाता है। इसी कारण पुराणों से अपनी आजीविका चलाने वाले निम्नस्तर के कहे गये हैं। जैसा कि "नीचा पौराणिकाः" इस श्रुति में कहा भी गया है।

चतुर्थं भावमाहुः **वेश्यादिसहिता इति । वेश्यादिसहिता मत्ता ये गायकास्ते गर्ततुल्या इत्यर्थः । यदि गानस्वरूपज्ञानेन विषयरहिताः स्युस्ते नादं ज्ञात्वा मुक्त्यधिकारिणो भवेयुः, परं मत्तत्वाद्विषयाभिनिष्टास्तेन तेषां भावो गर्तजलतुल्य इत्यर्थः । यथा गृहमध्यकृतगर्तसञ्चितजलस्य तद्गृह एव व्यवहारयोग्यत्वम्, न तु कूपादिवत् सर्वोपयोगित्वं शुद्धिकरत्वं वा; तथैतेषां भावो गानमाधुर्यादिना तद्धृदयानन्दकर एव, न तु पुरुषार्थसाधकोपि, तदर्थमपि नादस्य ब्रह्मात्मकत्वाद्भगवतो गानप्रियत्वात् तद्रसज्ञत्वात्तेष्वपि आनन्दोद्भवो भगवता दीयत इति भावः । मत्तत्वादिदोषरहिताः पूर्वोक्तसहिता गायकाः कूपादितुल्या इति भावः । यथा कूपोदकं गुणैकग्राह्यं भवति, जलग्रहणपर्यन्तमेव गुणकार्यं, न तु तदनन्तरमपि, तथा स्त्रीगानस्य मधुरत्वात् तद्द्वारा नादब्रह्मानन्दानुभवार्थमेतत्साहित्यमिति भावः ॥४॥**

अब चौथे प्रकार के वक्ता का भाव आचार्यचरण वेश्यादिसहिता इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- वेश्या आदि के सहित मत्त होकर गाने वाले जो गायक हैं, वे गढ्ढे के समान होते हैं- यह अर्थ है। यदि वे गान के वास्तविक स्वरूप को जानते होते और ऊपर कहे विषयों से रहित होते, तो नादब्रह्म का स्वरूप जान कर मुक्ति के अधिकारी हो गये होते, परन्तु मत्त होने के कारण और सांसारिक विषयों में अभिनिविष्ट होने के कारण उनका भाव गढ्ढे के जल समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार घर के मध्य में बनाये गये गढ्ढे में भरा हुआ जल केवल ङ्कर के ही उपयोगी होता है, कुए के जल की भाँति सभी के लिये उपयोगी एवं शुद्धिकारक

नहीं होता; ठीक उसी प्रकार इन वेश्यादि के सङ्ग मदमत्त गायकों का भाव भी गानमाधुर्य के कारण केवल उनके हृदय को ही आनन्दित कर पाता है, किसी और के पुरुषार्थ का साधक नहीं बन सकता ; किन्तु नाद ब्रह्मात्मक है, भगवान को भी गान प्रिय है और भगवान गान के रस को जानते हैं अतः ऐसे गायक को भी भगवान आनन्द का दान करते हैं। परन्तु यदि मत्त आदि दोष गायक में न हों और केवल पूर्व में कहे वेश्याओं का ही सङ्ग करते हों, तो उन्हें पूर्व में कहे कुओं के भेद के अंतर्गत गिन लेने चाहिए, गढ्ढे के समान नहीं। क्योंकि जिस प्रकार कुए का जल रस्सी से ही ग्रहण किया जाता है और रस्सी की आवश्यकता जल ग्रहण करने तक ही रहती है, उसके पश्चात् नहीं; ठीक उसी प्रकार चूँकि स्त्री का गान मधुर होता है और उससे नादब्रह्म का अनुभव हो जायेगा इस हेतु से वे वेश्यादि का सङ्ग करते हैं, उसके पश्चात् नहीं अतः इस अर्थ में वे गढ्ढे के समान नहीं कहे जायेंगे- यह भाव है॥ ४॥

पञ्चमं भावमाहुः जलार्थमेव गर्तास्त्विति ।

जलार्थमेव गर्तास्तु नीचा गानोपजीविनः ।
ह्रदास्तु पण्डिताः प्रोक्ता भगवच्छास्त्रतत्पराः ॥५॥

तुशब्दः पूर्वगतसाम्यत्वं निराकरोति । प्रक्षालनोच्छिष्टजलनिःसरणार्थं ये गर्ताः तत्तुल्या गानोपजीविन इत्यर्थः । यथा गर्तजलं नीचादिस्पर्शयोग्यमेव, न तु शुद्ध्यादिकरं, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । नीचत्वादेतेषां गानश्रवणमपि भगवद्भक्तैर्न कार्यमिति भावः, तद्गानस्यानन्दराहित्यादित्यर्थः ।

अब आचार्यचरण जलार्थमेव गर्तास्तु इत्यादि शब्दों से पाँचवें प्रकार के वक्ता का भाव कह रहे हैं।

श्लोक में "तु" शब्द से ज्ञात होता है कि, इस श्लोक में अब पूर्वकोटि के भावों की चर्चा नहीं है। श्लोक का अर्थ यह है कि, प्रक्षालन करने से उच्छिष्ठ हुए जल को घर से बाहर निकालने के लिये जो गढ्ढे बनाये जाते हैं, भगवद्गुणगान द्वारा अपनी आजीविका चलाने वालों के भाव भी उसी गन्दे गढ्ढे के समान होते हैं। जिस प्रकार ऐसे गन्दे गढ्ढों को नीच जाति के व्यक्ति ही स्पर्श करते हैं, वे किसी प्रकार की शुद्धि नहीं कर सकते; ठीक वैसे ही भगवद्गुणगान से अपनी आजीविका चलाने वालों के भाव भी ऐसे ही होते हैं एवं किसी की शुद्धि नहीं कर सकते। इनके भाव ऐसे नीच जाति के होने के कारण भगवद्भक्तों को इनके गान का श्रवण नहीं करना चाहिए- यह अर्थ है। क्योंकि इनके गान में भगवदानन्द नहीं होता।

षष्ठं भावमाहु ह्रदास्त्विति । भगवच्छास्त्रगीतापञ्चरात्रश्रीभागवतादिषु तत्परास्तदेकनिष्ठाः पण्डिताः ह्रदाः प्रोक्तास्तेषां भावो ह्रदजलतुल्य इत्यर्थः । तुशब्देन भगवच्छास्त्राभ्यासरतो न त्वन्य इत्यर्थो ज्ञाप्यते । यथा ह्रदजलं तरङ्गावर्तादिरहितं अन्तःशीतलं जलक्रीडादियोग्यं भवति, तथैतेषां भावोपि पण्डितत्वात् चाञ्चल्यरहितमनोविवर्तनाद्यनुपहतो भगवच्छास्त्रतत्परत्वात् अनिरूपितभगवत्क्रीडानिरूपणयोग्य इति भावः ॥५॥

अब छठे प्रकार का भाव आचार्यचरण ह्रदास्तु इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। भगवच्छास्त्र-गीता-नारदपञ्चरात्र-श्रीभागवत इत्यादि शास्त्रों में तत्पर रहने वाले एवं इनमें ही एकनिष्ठ पण्डित ह्रद कहे जाते हैं। इन पण्डितों का भाव ह्रदजल के समान होता है- यह अर्थ है। ह्रदास्तु (ह्रदाः+तु)में "तु" शब्द से ज्ञात होता है कि, ये केवल भगवच्छास्त्रों के अभ्यास में रत रहते हैं, अन्य किसी में नहीं। जिस प्रकार ह्रदजल तरंगों से रहित होता है, अन्तःशीतल होता है, जलक्रीड़ा आदि के योग्य होता है, वैसे ही इन पण्डितों का भाव भी पण्डित होने के कारण चंचलरहित होता है, मन की डाँवाडोल स्थिति से आहत नहीं होता और भगवच्छास्त्र में तत्पर होने के कारण अनिरूपित भगवत्क्रीड़ा को भी निरूपण करने योग्य बना देता है- यह भाव है॥ ५॥

सप्तमं भावमाहु सन्देहवारका इति ।

सन्देहवारकास्तत्र सूदा गंभीरमानसाः ।
सरःकमलसम्पूर्णाः प्रेमयुक्तास्तथा बुधाः ॥६॥

तत्र भगवच्छास्त्रसन्देहवारकाः सर्वमतनिराकरणपूर्वकभगवन्मार्गस्थापका गम्भीरं मनो येषां ते सूदाः सुष्ठु उदकं येषामेतादृशा ह्रदविशेषतुल्याः । तेषां भावस्तद्ध्रदोदतुल्य इत्यर्थः । जले शुक्तिशैवालाद्यावरणरहिताः गम्भीरमानसोक्त्या अन्तः कालुष्यान्याश्रयादिदोषरहिता इति भावः । यथा ह्रदजलं गम्भीरत्वे घर्मकालेऽन्तःशीतलं उपरि तप्तञ्च भवति; तथैतेषां भावोप्यन्तर्भगवत्सम्बन्धाच्छीतलो बहिर्लौकिकनिवृत्त्यर्थं सन्तप्त इति भावः ।

अब सातवें प्रकार का भाव सन्देहवारकाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवच्छास्त्रों में उत्पन्न होने वाले सन्देहों का निराकरण करने वाले, अन्य मतों का निराकरण करके भगवन्मार्ग का स्थापन करने वाले और जिनका चित्त गंभीर/गहरा है, ऐसे वक्ता सूद कहे जाते हैं अर्थात् जिनका जल सुंदर है, ऐसे एक विशेष ह्रद के समान कहे जाते हैं। उनका भाव उस ह्रदजल के समान होता है- यह अर्थ है। ह्रदजल सीप-काई इत्यादि के आवरण से रहित होता है और गंभीर/गहरा होता है, इससे ज्ञात होता है कि, ह्रदजल से तुलना किये जाने वाले वक्ताओं का मन भी इतना गंभीर/गहरा होने के कारण उनके भावों में ऐसी स्थिरता होती है कि उनके अन्तःकरण में कलुषता नहीं आती और अन्याश्रय आदि दोष उनमें नहीं पनपते। जिस प्रकार ह्रदजल गंभीर/गहरा होने के कारण ग्रीष्मकाल में तो अंदर से शीतल होता है और ऊपर से तप्त होता है ; ठीक इसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी भगवत्सम्बन्ध के कारण अन्दर से शीतल होता है किन्तु लौकिकता की निवृत्ति करने के लिये बाहरी तौर पर ये सन्तप्त दिखाई पड़ते हैं- यह भाव है। टीकाकार यह कहना चाहते हैं कि, ऐसे गंभीर प्रकृति के पण्डितों का भाव अन्दर से तो शीतल ही होता है परन्तु बाहरी लौकिक व्यक्तियों से दूर रहने के लिये या लौकिक लोगों से अपना भाव छुपाने के लिये वे उनको तप्त दिखाई पड़ते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे ह्रदजल ऊपर से तो गर्म प्रतीत होता है परन्तु डुबकी लगाने पर ठंढा लगता है। इस अर्थ में इन पण्डितों की तुलना ह्रदजल से की गयी है।

अष्टमं भावमाहुः सरःकमलसम्पूर्णा इति । यथा पूर्वोक्तप्रकारकसन्देहवारकाः बुधाः प्रेमयुक्ताः सन्तः सरःसम्बन्धिकमलपरिपूर्णाः, परन्तु नादगायकतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं सुरभिशीतलकमलयुक्तत्वात् लक्ष्मीनिवासयुक्तभगवत्सेवोपयोग्यं, तथैतेषां भावोपि । सौरभवत् प्रसररूपः परतः पावनो हृतकमले व्रजसीमन्तिनीभावस्थितिसहितभगवत्सेवोपभोग्यो भगवच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तमधुपायितचित्रकुन्तलालिश्चेति भावः ॥६॥

अब आठवें प्रकार का भाव आपश्री सरःकमलसम्पूर्णाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जिस प्रकार पूर्व में कहे सन्देहवारकवक्ता जब ज्ञानी एवं भगवत्प्रेमयुक्त हो जाते हैं, तो सरोवर में रहने वाले कमल के समान कहलाते हैं ; परन्तु नादगायक के तुल्य होते हैं, इनका भाव उस कमलयुक्तसरोवर के जल समान होता है- यह अर्थ है। जैसे कमलयुक्तसरोवर का जल सुगंध-शीतलयुक्त होने के कारण एवं चूँकि कमल में लक्ष्मी का निवास होता है अतः भगवत्सेवोपयोगी होता है, ठीक उसी प्रकार ऐसे कमलयुक्तसरोवर से तुलना किये जाने वाले वक्ताओं का भाव भी भगवत्सेवा में उपयोगी बनता है। ऐसा भाव सुगंध की भाँति चहुँ ओर प्रसरित होने वाला होता है और दूर से भी पावन करने वाला होता है, ऐसा भाव रखने वालों के हृदयकमल में व्रजसीमन्तीनियों के भाव होते हैं अतः इनका भाव भगवत्सेवोपभोग्य होता है, और भगवच्चरणकमलरूपी मकरन्द का पान करने से मत्त हुए भौंरे के समान अर्थात् भगवान के उत्तम घुँघराले केशरूपी भौंरे के समान होता है- यह भाव है॥ ६ ॥

नवमं भावमाहुः अल्पश्रुता इति ।

अल्पश्रुताः प्रेमयुक्ता वेशन्ताः परिकीर्तिताः ।
कर्मशुद्धाः पल्वलानि तथाल्पश्रुतिभक्तयः ॥७॥

अल्पं श्रुतमध्ययनं येषां ते प्रेमयुक्ताः सन्तो वेशन्ताः सरस्तद्वत् परिकीर्तिताः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वर्षाशरत्काले निर्मलं घर्मकाले पश्चात्प्रसङ्गाच्च पङ्किलं भवति, तथैतेषां भावोपि भगवत्सेवादिषु प्रेमयुक्तत्वान्निर्मलो भवति, परमल्पाध्ययनत्वात् असकृल्लौकिकतापादिना कालुष्यादिकमाप्नोति इत्यर्थः ।

अब नौवां भाव आपश्री अल्पश्रुताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक का भावार्थ यह है कि, जिनका शास्त्राध्ययन अल्प है, वे भगवत्प्रेम से युक्त हों तो वेशन्ताः अर्थात् छोटे सरोवर के समान कहे गये हैं। उनका भाव वेशन्त के जल के समान होता है। जिस प्रकार वेशन्त का जल वर्षा या शरदृतु में निर्मल होता है एवं ग्रीष्मऋतु में और उसके पश्चात् भी कई कारणों से कीचड़युक्त हो जाता है ; ठीक उसी प्रकार इनका भाव भी भगवत्सेवा इत्यादि करते समय तो भगवत्प्रेम से भरे होने के कारण निर्मल होता है परन्तु अध्ययन अल्प होने के कारण वारंवार लौकिकताप आदि के कारण कलुषित हो जाता है- यह अर्थ है।

दशमं भावमाहुः कर्मशुद्धा इति । कर्मत्वेन ये भगवत्परिचर्यां कुर्वन्ति ते कर्मशुद्धाः, अत एव भगवतोक्तं 'मत्कर्मपरमो भवे'त्यादि । अन्यथा कर्मणा न शुद्धत्वकारणं स्यात् । अत एव 'यस्य स्मृत्या'दि स्मर्यते । तस्मात् सर्वोत्कृष्टत्वयज्ञकर्मात्मकत्वमेव सेवायज्ञत्वात् सेवन्ते, ते कर्मशुद्धास्तेषां भावः पल्वलमल्पसरोविशेषस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथाल्पसरोजलं पानयोग्यं भवति, न तु स्नानावगाहनयोग्यं, तथैतेषां भावोपि भगवत्पूजाकर्मत्वाद्यत्किञ्चित् फलदो, न तु भगवदवगाहनयोग्य इति भावः । तथैवाल्पश्रुतिभक्तयः अल्पं श्रुतिः

श्रवणं भागवतादिषु भगवन्माहात्म्यस्य, तया भक्तिर्येषां तेपि तत्तुल्या एवेत्यर्थः । अल्पश्रुत्युत्पन्नभक्तित्वेनादृढत्वात् तथेत्यर्थः ॥७॥
अब दसवां भाव आपश्री **कर्मशुद्धाः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- जो कर्म समझ कर भगवत्परिचर्या करते हैं, वे कर्मशुद्धा कहे जाते हैं। भगवान ने "यदि तुम भक्तियोग नहीं कर सकते तो, मेरे लिये कर्म करने के लिये ही परायण हो जाओ(भ०गी० १२-१०)" इत्यादि वाक्य कहे हैं, अन्यथा तो यों न कहा गया होता कि कर्म से शुद्धि होती है। अतएव "जिनका स्मरण करने एवं नाम लेने से तप-यज्ञ आदि क्रियाओं में रही न्यूनता तत्क्षण दूर होकर सम्पूर्णता को प्राप्त होती है, उन अच्युत-भगवान को नमस्कार है(बृहन्नारदीय-पूर्वखण्ड १७-१०८)" इत्यादि वाक्य भी प्राप्त होते हैं। यज्ञकर्म को ही सर्वोत्कृष्टकर्म कहा जाता है और ये भगवत्सेवा को भी यज्ञ समझ कर ही कर रहे होते हैं अतः इन्हें कर्मशुद्ध कहा गया है- यह अर्थ है। उनका भाव "पल्वल" अर्थात् एक विशेष प्रकार के छोटे सरोवर के समान कहा जाता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार अल्प सरोवर का जल केवल पीने योग्य होता है परन्तु स्नान या डुबकी लगाने योग्य नहीं होता ; ठीक उसी प्रकार इनका भाव भी भगवत्पूजारूप कर्म करते होने के कारण श्रोताओं के लिये कुछ फलदायी तो बनता है परन्तु उन्हें भगवद्रस में डुबो देने की योग्यता वाला नहीं होता- यह भाव है। अल्पश्रुतभक्तियुक्त भी ऐसे ही होते हैं। "अल्पश्रुतिभक्त" नाम उनको दिया गया है, जिन्होंने भागवत आदि शास्त्रों में भगवन्माहात्म्य का श्रवण अल्प मात्रा में किया है और अल्प मात्रा में ही श्रवण करने से जिनमें भक्ति उत्पन्न हो गयी है। इनका भाव भी उसी पल्वल के जल समान होता है- यह अर्थ है। क्योंकि अल्पश्रवण से उत्पन्न हुई भक्ति के कारण इनका भाव दृढ़ नहीं होता अतः आचार्यचरणों ने इन्हें पल्वलजल के समान कहा है ॥ ७ ॥

एकादशं भावमाहुः योगध्यानादिना संयुक्ता इति ।

योगध्यानादिसंयुक्ता गुणा वर्ष्याः प्रकीर्तिताः ।
तपोज्ञानादिभावेन स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः ॥८॥

योगोऽष्टाङ्गः, ध्यानं प्रादेशाङ्गुष्ठमात्रादेः । तत्संयुक्ताः गुणाः भावाः वर्ष्याः तज्जलतुल्याः प्रकीर्तितास्तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभं परमचिरस्थायि तथैतेषामपि योगादिसमय एव भगवद्भावो, न सर्वदेति भावः ।
अब ग्यारहवें प्रकार का भाव **योगध्यानादिसंयुताः** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।
योग के आठ अंग होते हैं। आचार्यचरणों का "योग" शब्द से तात्पर्य है- जैसा कि ज्ञानी अपने हृदय में भगवान की प्रादेशमात्र की कल्पितमूर्ति का ध्यान इत्यादि करते हैं। योग के "ध्यान" आदि इन सभी लक्षणों से युक्त गुण या भाव वाले वक्ता वर्ष्य अर्थात् वर्षाजल के समान कहे जाते हैं, इनका भाव वर्षाजल के समान होता है- यह अर्थ है। तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार वर्षाकाल में तो वर्षा का जल सर्वत्र सुलभ होता है परन्तु हमेशा सुलभ नहीं रहता ; ठीक इसी प्रकार इन वक्ताओं का भगवद्भाव भी इन्हें योग आदि के समय ही स्फुरित होता है, सर्वदा नहीं- यह भाव है।

द्वादशं भावमाहुः **तपोज्ञानादिभावेनेति । तपः कृच्छ्रादि, ज्ञानं जीवात्मनः । आदिपदेन विद्याविद्याबन्धमोक्षज्ञानं षोडशपदार्थज्ञानं लौकिकैः (कर्म)भिर्यो भावस्तेन संयुक्ताः स्वेदजास्तु प्रकीर्तिताः स्वेदजतुल्याः कथिताः इत्यर्थः । तेषां भावः स्वेदजतुल्य इत्यर्थः । केचित् तपसैव भगवान् प्राप्यत इति ज्ञात्वा तप एव कुर्वन्ति, केचित् ज्ञानेन जीवात्मज्ञानेन मोक्षो भवति, 'ज्ञानादेव हि कैवल्य'मिति ज्ञात्वा ज्ञानार्थमेव यतन्ते । केचित् षोडशपदार्थज्ञानेनैव मोक्ष इति तज्ज्ञानार्थं न्यायादिकं पठन्ति, ते सर्व एवाज्ञाः । यतो भगवत्प्राप्तिस्तु भक्त्यैव, न तैः, अत एव भगवतोक्तं 'नाहं वेदैर्न तपसे'त्यारभ्य 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य' इत्यन्तम् । 'रहूगणैतत्तपसे'ति च । तस्मात् तेषां भावस्तत्तुल्य इत्यर्थः । यथा स्वेदजं जलं स्नानाद्ययोग्यं, अस्वादु, तापकरम् । तथैतेषां भावोपि नात्मशोधकः, नापि भगवत्प्राप्तिकरः, तापक्लेशादिकर एवेत्यर्थः । जलसाम्यत्वेन हेयार्थश्च वर्णित इत्यर्थः ॥८॥**
अब बारहवें प्रकार का भाव आपश्री **तपोज्ञानादिभावेन** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तप का अर्थ है- कृच्छ आदि प्रायश्चित्त ; अर्थात् शरीर को कष्ट देकर प्रायश्चित्त करना। ज्ञान का अर्थ है- जीवात्मा का ज्ञान हो जाना। आदि पद का अर्थ है= विद्या-अविद्या-बन्धन और मोक्ष का ज्ञान हो जाना और षोडश पदार्थों का ज्ञान हो जाना इत्यादि लौकिककर्मियों का जो भाव होता है, ऐसे भाव से संयुक्त वक्ता स्वेदज कहे जाते हैं। अर्थात् पसीने के जल के समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। इनका भाव पसीने के जल समान कहा गया है। कुछ लोग तप से ही भगवान प्राप्त किये जाते हैं, ऐसा मान कर तप ही किया करते हैं। कुछ लोग जीवात्मा के ज्ञान से मोक्ष मिलता है, और "ज्ञानादेव हि कैवल्यम्" इस प्रकार से जान कर ज्ञानप्राप्ति के लिये ही यत्न करते हैं। कुछ लोग षोडशपदार्थों के ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है- यह जान कर षोडशपदार्थों के ज्ञान के लिये न्यायशास्त्र इत्यादि पढ़ते हैं- ये सभी अज्ञ होते हैं। क्योंकि भगवत्प्राप्ति तो केवल भक्ति से ही होती है, इन सभी से नहीं। इसी कारण भगवान ने "हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तू अपने नेत्रों से देख रहा है, उसे

न वेदों से, न तप से, न दान से और न पूजा से जाना जा सकता है। इन साधनों के द्वारा मेरा साक्षात्कार नहीं हो सकता(भ०गी० ११-५३)" यहाँ से लेकर "केवल अनन्यभक्ति द्वारा ही मुझे तत्त्व से जाना जा सकता है(भ०गी० ११-५४)" यहाँ तक कहा है। और "हे रहूगण ! महापुरुषों के चरणरज की धूलि से अपने आप को नहलाये बिना केवल तप, वैदिककर्म, दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्यन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता(श्री०भा० ५-१२-१२)" ये भी कहा है। इसलिये इन लोगों का भाव पसीने के जल के समान कहा गया है। जिस प्रकार पसीने का जल स्नान आदि के लिये योग्य नहीं होता, स्वाद में अच्छा नहीं लगता, तापकारी होता है; ठीक इसी प्रकार इनका भाव भी आत्मशोधक नहीं होता, न भगवत्प्राप्ति करा सकता है अपितु सांसारिक तापक्लेश ही कराता है- यह अर्थ है। इन वक्ताओं की तुलना आपश्री ने पसीने के जल से की है, जिससे ज्ञात होता है कि आपश्री ने इन्हें हेय कहा है॥ ८॥

त्रयोदशं भावमाहुः **अलौकिकेन ज्ञानेनेति** ।

अलौकिकेन ज्ञानेन ये तु प्रोक्ता हरेर्गुणाः ।
कादाचित्काः शब्दगम्याः पतच्छब्दाः प्रकीर्तिताः ॥९॥

अलौकिकेन भगवद्दत्तेन महत्तमचरणरजोभिषेकजेन वा ज्ञानेन हरेरकारणसर्वदुःखहर्तुः कादाचित्काः कदाचिदेव स्वीयानां दर्शनतापनिवृत्त्यर्थं प्रकटीकृताः प्रतीयमाना गुणाः शब्दगम्याः वेदादिगम्याः श्रुतिरूपव्रजवरवधूरूपैकगम्याः ये वर्णयन्ति ते पतच्छब्दाः पर्वतशिखराद्धारापतने ये शब्दाः तत्सदृशाः प्रकीर्तिताः निरूपिताः इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा धाराजलशब्दाः तत्र जलस्थितिज्ञापकास्तथा तद्वर्णनमपि तद्धृदि भगवत्स्थितिं बोधयतीत्यर्थः । धारा अपि शब्दगम्या भवन्ति, भावा अपि तथैवेत्यर्थः ॥९॥

अब तेरहवां भाव अलौकिकज्ञानेन इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में अलौकिकज्ञानेन का अर्थ है- भगवान द्वारा दिये गये ज्ञान द्वारा अथवा महापुरुषों की चरणरज में स्नान करने से उत्पन्न हुए ज्ञान के द्वारा। ऐसे ज्ञान के द्वारा जो हरि अर्थात् अनायास ही दुःख का हरण करने वाले प्रभु का गुणगान करते हैं,-वे वक्ता पतच्छब्द कहे गये हैं। कादाचित्काः का अर्थ है- स्वीयजनों के दर्शनताप की निवृत्ति के लिये भगवानहरि द्वारा वक्ता में कदाचित् यानि कभी-कभी ही प्रकट होने वाले गुण। ये भगवद्गुण शब्दगम्य हैं अर्थात् वेद की श्रुतियों के शब्दों द्वारा जाने जा सकने वाले अर्थात् श्रुतिरूपा व्रजवरवधुओं के भाव द्वारा ही जाने जा सकने वाले भगवद्गुण हैं ; ऐसे भगवद्गुणों का जो वक्ता वर्णन करते हैं, वे पतच्छब्द कहे गये हैं अर्थात् पर्वतशिखर से धारा के रूप में गिरने पर जल का जो शब्द/ध्वनि होती है, उस शब्द के समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। तात्पर्य यह कि इनका भाव पर्वतशिखर से गिरने वाले जल के समान होता है। जिस प्रकार धारारूप से गिरने वाले जल के शब्द/ध्वनि से पता चल जाता है कि, जल कितनी ऊँचाई से गिर रहा है : ठीक उसी प्रकार ये जब भगवल्लीला का वर्णन करते हैं, तो इनके वर्णन के शब्दों से श्रोता को पता चल जाता है कि, इनके हृदय में भगवत्स्थिति कितनी मात्रा में है- यह अर्थ है। जिस प्रकार जल की धारा का अनुमान उसके गिरने के शब्द/ध्वनि से लगाया जाता है, वैसे ही इनके भाव की गहराई का अनुमान इनके मुख से निकलने वाले शब्दों से लगाया जाता है। ॥ ९॥

चतुर्दशं भावमाहुः **देवाद्युपासनोद्भूता इति** ।

देवाद्युपासनोद्भूताः पृष्वा भूमेरिवोद्गताः ।
साधनादिप्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः ॥१०॥
प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्यन्दमानाः प्रकीर्तिताः ।
यादृशास्तादृशाः प्रोक्ता वृद्धिक्षयविवर्जिताः ॥११॥
स्थावरास्ते समाख्याता मर्यादैकप्रतिष्ठिताः ।

देवाः शिवादयः, आदिपदादुमादुर्गाभैरवादयः, तेषां उपासने प्रोद्भूताः तत्र भगवत्त्वेन सर्वेश्वरत्वेन मोक्षसाधकत्वेन ये भावास्ते भूमेः सकाशादुत्पन्नाः तुषारजलकणा इवेत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । तेषां तद्भजने न किञ्चित्फलं, किन्तु भगवतोऽन्यथा चिन्तितत्वान्नरकः । अत एव 'योन्यथा सन्त'मित्युक्तम् । यथा तज्जलं न स्नानादियोग्यं किन्तु स्वाधारमपि पंकिलं करोति, तथैतेषां भावोपि न शुद्ध्यादिकमुत्पादयति, मोक्षसाधको वा भवति, परं देवानां भक्तत्वात् स्वाधिसाम्यतया भजंस्तमनुकारयति इत्यर्थः ।

चौदहवें प्रकार का भाव आपश्री देवाद्युपासनोद्भूताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में देवाः का अर्थ है- शिव आदि देवता। आदि पद का अर्थ है- उमा, दुर्गा, भैरव, आदि देवता। आपश्री आज्ञा करते हैं कि- इन देवताओं की उपासना करने में जो तत्पर हैं और इन देवताओं को ही भगवान सर्वेश्वर और मोक्षसाधक के रूप में मानने वाले जो भाव होते

हैं, वे भाव भूमि में उत्पन्न हुए ओस की बूँदों के समान होते हैं। ऐसे भाव रखने वाले वक्ताओं का भाव ओस की बूँदों के समान होता है। इन्हें इन देवताओं का भजन करने से किञ्चित् फल तो प्राप्त होगा, किन्तु जो धर्म वास्तव में भगवान के धर्म हैं, उन धर्मों को इन देवताओं का धर्म मानते होने के कारण इन्हें नरक प्राप्त होगा। जैसा "जो परमात्मा को वास्तविक स्वरूप से नहीं जानता, आत्मा का अपहरण करने वाले उस चोर ने कौन सा पाप नहीं किया ?(महाभारत/उद्योगपर्व/सनत्सुजातपर्व/४२-३७)" इस श्रुति में कहा गया है। जिस प्रकार ओस के जल से स्नान आदि नहीं किये जा सकते किन्तु जिस स्थान पर ओस का जल गिरता है, उस स्थान में भी कीचड़ उत्पन्न कर देता है ; ठीक उसी प्रकार ऐसे वक्ताओं का भाव भी श्रोताओं के हृदय को, वातावरण आदि को शुद्ध नहीं बना सकता अथवा तो मोक्ष का साधन नहीं बनता, परन्तु देवता भी चूँकि भगवद्भक्त हैं अतः देवता उन्हें अपने समान भक्त बनाते हैं और ऐसा भाव देवताओं का भजन करने वालों को उन देवताओं का अनुकरण कराता है- यह अर्थ है। इस पङ्क्ति को स्पष्टतया समझने के लिये पहले यह समझना चाहिए कि, देवता या भगवान का भजन करने वाला भी तद्रूप ही होना चाहिए अर्थात् भजन करने वाले का रूप-गुण इत्यादि भी वैसे होने चाहिए जिसका भजन वह कर रहा है। कदाचित् इसी अर्थ में हमारे संप्रदाय में प्रभु की भाँति शङ्ख-चक्र आदि धारण करने का विधान है। और इसी कारण हमारे यहाँ भगवदीयों के लिये "तादृशी" शब्द का भी प्रयोग होता है क्योंकि वह ठीक भगवान जैसा ही बन चुका होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए समझें कि, टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, देवता भी चूँकि भगवान के भक्त होते हैं अतः देवताओं का जो भजन कर रहा है, उसमें भी तद्रूपता आयेगी अर्थात् देवताओं के समान उनमें भी भक्तता आयेगी परन्तु उनकी भक्ति केवल देवताओं का ही भजन करने, उन्हें सर्वेश्वर मानने, मोक्षसाधक मानने तक सीमित रहेगी- यह अर्थ है।

पञ्चदशं भावमाहुः । साधनादिप्रकारेणाग्निहोत्रनित्यकर्मादिसहितश्रवणादिनवधाभक्तिरूपो मार्गस्तेनैव प्रेमपूर्त्या ये स्फुरद्धर्मास्ते स्यन्दमानास्ते प्रस्रवणतुल्याः प्रकीर्तिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं पर्वतादिवृष्टिबाहुल्यात् वर्धते, आतपादिषु च हीयते, तथैतेषां भावोपि साधनसत्सङ्गैर्वर्धते, दुःसङ्गादिभिश्च गौणतां प्राप्नोतीत्यर्थः । अत एव कपिलदेवैः साधनत्वेन देवहूतिं प्रति सत्सङ्ग उक्तः 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य'इति । यद्वा, नवधाश्रवणादिरूपभक्तिमर्यादामार्गीयसाधनादिप्रकारेण स्फुरद्रूपा धर्माः दानव्रततपोहोमेत्यादिरूपाः येषु तेषां भावः स्यन्दमानजलतुल्य इत्यर्थः । यथा तज्जलं वृष्ट्यादिसापेक्षं तथैतेषां भावोपि धर्मसापेक्षः इति भावः ।

अब आचार्यचरण साधनादिप्रकारेण इत्यादि शब्दों से पंद्रहवें प्रकार का भाव कह रहे हैं। साधनादिप्रकारेण इत्यादि शब्दों का अर्थ है- अग्निहोत्र, नित्यकर्मादि के सहित श्रवणादि नवधाभक्तिरूप से भगवद्भजन करने का मार्ग ; इस पद्धति से भगवद्भजन करने पर हृदय में भगवत्प्रेम उत्पन्न होने पर वक्ता में जो धर्म स्फुरित होते हैं, वे धर्म स्यन्दमान(पर्वत से बहने वाला जल)समान कहे जाते हैं। ऐसे वक्ताओं का भाव पर्वत से बहने वाले जल समान कहा गया है। जिस प्रकार पर्वत से बहने वाला जल पर्वत पर वर्षा अधिक होने से बढ़ता है और धूप आदि के कारण कम होता जाता है ; ठीक उसी प्रकार इन वक्ताओं का भगवद्भाव भी ऊपर कहे साधनों एवं सत्सङ्ग से बढ़ता है एवं दुसङ्ग आदि से क्षीण होता है- यह अर्थ है। अतएव कपिलदेवजी ने देवहूति को "ऐसे परित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हीं के सङ्ग की प्रार्थना करनी चाहिए। सत्पुरुषों के समागम से मेरा यथार्थ ज्ञान कराने वाली कथाओं द्वारा शीघ्र ही श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होगा(श्री०भा० ३-२५-२४-२५)" इस वाक्य द्वारा सत्सङ्ग को भगवद्भक्ति का साधन बताया है। अथवा, तो मूलश्लोक का अर्थ यों करें कि मर्यादामार्गीय प्रकार से श्रवणादिरूप नवधाभक्ति के साधन करने के द्वारा दान-व्रत-तप-होम इत्यादि धर्म जिनमें स्फुरित हुए हैं, उनके भाव स्यन्दमानजल के समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। जिस प्रकार पर्वत से बहने वाला जल वर्षा की अपेक्षा रखता है, यानि कि वर्षा से ही बढ़ता या घटता है ; ठीक उसी प्रकार इनका भाव भी मर्यादामार्गीयधर्म की अपेक्षा रखता है यानि जब वे मर्यादामार्गीयधर्म का अनुष्ठान करेंगे, तब उनमें ये भाव स्फुरित होंगे- यह भाव है।

षोडशं भावमाहुः यादृशाः पूर्वमुक्तास्तादृशाः सङ्गादिना वृद्धिक्षयविवर्जिताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा नवधाभक्तिमार्गमर्यादायामेव मुख्यतया प्रतिष्ठिताश्चेत् तदा ते स्थावराः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण प्रसिद्धा इत्यर्थः । निरूपिता वा । यथा तज्जलं नातपादिभिर्ह्रासं प्राप्नोति, न वा वृष्ट्यादिभिर्वर्धितं, न तरङ्गफेनावर्तादिभिः क्षुब्धं भवति तथैतेषां भावोपि दुःसङ्गादिभिर्न क्षीणतां भजति, न वा भक्तसङ्गेन वर्धते, तद्दर्शनेन न क्षुब्धो भवतीत्यर्थः ॥११½॥

अब आचार्यचरण सोलहवां भाव यादृशाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। यादृशाः का अर्थ है- जिस प्रकार के वक्ता स्यन्दमान के दृष्टान्त द्वारा कहे गये, वे। आपश्री आज्ञा करते हैं, ऐसे वक्ता के भाव न सङ्गादि से बढ़ते हैं और न ही घटते हैं- इस ढंग से प्रसिद्ध हैं अर्थात्

यदि नवधाभक्तिमार्गरूपी मर्यादामार्ग में ही मुख्यरूप से एकनिष्ठ हो जाएँ, तो वे स्थावर कहे जाते हैं। जिस प्रकार से स्थावरों का जल न तो धूप से सूखता है और न वर्षा आदि से बढ़ता ही है, न तरङ्ग-फेन इत्यादि से उफनता है ; ठीक उसी प्रकार इन मर्यादामार्ग में प्रतिष्ठित वक्ताओं का भाव भी न दुःसङ्ग आदि से क्षीण होता है और न ही भक्त के सङ्ग से बढ़ता ही है। अर्थात् भक्त को देखने पर भी उसके मन में प्रभुविरह नहीं जागता।॥ ११ १/२ ॥

सप्तदशं भावमाहुः अनेकजन्मसंसिद्धा इति ।

अनेकजन्मसंसिद्धा जन्मप्रभृति सर्वदा ॥१२॥
सङ्गादिगुणदोषाभ्यां वृद्धिक्षययुता भुवि ।
निरन्तरोद्गमयुता नद्यस्ते परिकीर्तिताः ॥१३॥

अनेकजन्मभिः कृत्वा सम्यक्प्रकारेण सत्सङ्गादिभिः भगवत्कृपया वा सिद्धाः साक्षात् सेवायोग्यं जन्म प्राप्तवन्तः जन्मप्रभृति आजन्मतो भगवद्भजनतत्पराः सर्वदा सर्वजन्मसु एतादृशाः भगवद्भक्ताः समुद्रगामिनदीतुल्याः परिकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा तेषां जलानां वर्षादिजलवृद्धिसापेक्षत्वं, स्वतश्च समुद्रगामित्वं, तथैतेषां भावोपि सापेक्षो भगवद्गामी चेत्यर्थः ॥१३॥

अब सत्रहवें प्रकार का भाव आपश्री अनेकजन्मसंसिद्धाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

"अनेकजन्मसंसिद्धाः" से आपश्री उनके बारे में कह रहे हैं, जिन्होंने अनेक जन्म लेकर भलीभाँतिरूप से सत्सङ्ग आदि या भगवत्कृपा से साक्षात् भगवत्सेवायोग्य जन्म प्राप्त किया है। **जन्मप्रभृति** से आपश्री का तात्पर्य है- ये जन्म से लेकर अन्त तक भगवद्भजन में तत्पर रहते हैं ; सर्वदा रहते हैं अर्थात् सभी जन्मों में भगवद्भजन में तत्पर रहने वाले होते हैं। ऐसे भगवद्भक्त समुद्र में जा मिलने वाली नदी समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। इनका भाव उसी समुद्रगामिनी नदी के जल समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार से समुद्र में मिलने वाली नदी को बढ़ने के लिये वर्षाजल की अपेक्षा रहती है, और तब वह स्वयं समुद्र से जा मिलती है ; उसी प्रकार इन भगवद्भक्तों का भाव भी बढ़ने के लिये सत्सङ्ग आदि की अपेक्षा रखता है और तब भगवान की ओर मुड़ता है- यह अर्थ है॥ १३ ॥

अष्टादशं भावमाहुः एतादृशा इति ।

एतादृशाः स्वतन्त्राश्चेत्सिन्धवः परिकीर्तिताः ।
पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः ॥१४॥
जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः ।

एतादृशाः पूर्वोक्ताः स्वतन्त्राः श्रवणसङ्गाद्यपेक्षारहिता निरुपाधिकाः । स्वतन्त्रा एव भगवद्भजनपराः सिन्धवः समुद्रगामिनदीतुल्या इत्यर्थः । तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथैतज्जलं न वृष्ट्यादिजलसापेक्षं स्वतः समुद्रगामि, तथैतेषां भावोपि नान्यसापेक्षो दयासमुद्रं भगवन्तं प्रविशतीति भावः ।

अठारहवें प्रकार का भाव आचार्यचरण एतादृशाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

एतादृशाः का अर्थ है- पूर्व के १२ वें श्लोक में एवं १३ वें श्लोक में बताये गये वक्ता। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, यदि ये ही वक्ता स्वतन्त्र हो जाएँ अर्थात् ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लें, जहाँ इन्हें श्रवणसत्सङ्ग इत्यादि के लिये किसी की भी अपेक्षा न रहे और बिना किसी की उपाधि के स्वतन्त्ररूप से अकेले ही भगवद्भजन में तत्पर रह सकते हों, तो ऐसे सिद्धकोटि में पहुँचे हुए वक्ता "सिन्धवः" कहे जाते हैं ; सिन्धवः का अर्थ है, वे महानदियाँ जो अन्त में स्वयं समुद्र से जा मिलती हैं। इनका भाव उन सिन्धव/महानदियों के जल समान होता है। जिस प्रकार इन महानदियों का जल वर्षा के जल से बढ़ने की अपेक्षा न रख कर स्वतः ही समुद्र से जा मिलता है ; ठीक इसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी अन्य किसी के सत्सङ्ग की अपेक्षा न रखते हुए स्वयं अपने आप ही भगवदानन्द से परिपूर्ण होकर स्वयं दयासागर भगवान में प्रविष्ट हो जाता है- यह भाव है।

एकोनविंशं भावमाहुः पूर्णा भगवदीया इति । ये पूर्णा भगवदीया भगवत्तोषं विना नान्यं जानन्ति, येषां सेवयैव तापापगमः, भगवदाज्ञाकारिणस्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां भावो रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः । तानेव वर्णयन्ति शेषव्यासाग्निमारुताः इति । शेषो भगवत्सेवापरः स्वसुखादिकमविचार्य शय्यादिभावेन भगवन्तं सेवते, तेनैव चात्मसुखं मन्यते । व्यासः कलावतारः सर्वोद्धारार्थं भगवद्गुणनिरूपणपरः, यस्य साक्षात् समाधिलब्धभगवद्दर्शनानन्तरं भक्तिशास्त्रनिरूपणेनात्मप्रसादः ।

अब आचार्यचरण उन्नीसवें प्रकार के वक्ता का भाव पूर्णा भगवदीयाः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जो पूर्णभगवदीय होते हैं, वे भगवान की प्रसन्नता के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रखते। जिनका ताप भगवत्सेवा से ही मिटता है, और जो भगवद्-आज्ञाकारी होते हैं, वे समुद्र कहे गये हैं- यह अर्थ है। इनका भाव रत्नाकर/समुद्र के समान होता है। इन्हीं पूर्णभगवदीयों को आपश्री शेषव्यासाग्निमारुताः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इनमें से सर्वप्रथम शेषजी भगवत्सेवा में तत्पर रहते हैं, अपने सुख का विचार न करते हुए भगवान की शैया बनकर उनकी सेवा करते हैं और उसी में अपना सुख मानते हैं। व्यासजी भगवान के कलावतार हैं, समस्त जीवों का उद्धार करने के लिये भगवद्गुणों का निरूपण करने में तत्पर रहते हैं और जिनको समाधि लगाने के पश्चात् साक्षात् भगवान के दर्शन होने के बाद भक्तिशास्त्र का निरूपण करने से ही हृदय में संतोष हुआ।

अग्निर्महादेवो यः सर्वविरुद्धमोहशास्त्रमपि सृष्ट्याद्यर्थं भगवदाज्ञया स्वस्य तदीयत्वेन कृतवान् । अत एव 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' इति श्रीभागवते । अत्र महादेवस्य नाम विहायाष्टमूर्तिस्थाग्नित्वकथनेन मोहशास्त्रकरणे जयापदहकत्वमुक्तम् । मारुतो हनुमान् श्रीकोशलेन्द्रचरणसेवनपरः । जडो जडभरतः भगवल्लग्नमानसत्वाज्जडवत् तिष्ठति । नारदः सदा भगवद्गुणगानेन भगवतोप्यानन्दजनकः । अत एव श्रुतिः 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते तदा वीणाऽस्मै वाद्यत' इति । मैत्रो मैत्रेयः पराशरशिष्यो भगवद्धर्मवक्ता । आद्यपदात् प्रह्लादादयः । तेषां भावो समुद्रतुल्यः रत्नाकरतुल्य इत्यर्थः । यथा समुद्रोन्तः रत्नमयस्तथा चैतेप्यन्तर्भावयुक्ताः, अत एव कपिलैरुक्तं 'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते' इति ।

अग्नि का अर्थ है- महादेव शङ्करजी, जिन्होंने सर्वविरुद्ध मोहशास्त्र(मायावाद)भी भगवदाज्ञानुसार सृष्टिक्रम को आगे बढ़ाने के लिये स्वयं भगवदीय होने के नाते किया। इसी कारण श्रीभागवत में शङ्करजी के लिये "जैसे नदियों में गङ्गा, वैसे वैष्णवों में शङ्करजी श्रेष्ठ हैं(श्री०भा० १२-१३-१६)" यह कहा गया है। आचार्यचरणों ने यहाँ महादेवजी को महादेव न कहकर महादेवजी की स्थापित आठ मूर्तियों के अंतर्गत आनेवाली अग्नि के रूप में स्थापित महादेवजी की मूर्ति का अनुसंधान रख कर उन्हें "अग्नि" नाम से संबोधित किया है, इसका तात्पर्य यह है कि, चूँकि महादेवजी ने भगवान से विमुख करने वाले मोहशास्त्र-मायावाद की रचना की थी अतः "जया" नामक उनकी सृजन की हुई मातृका द्वारा उनकी अवगणना हुई थी, यह बताया चाह रहे हैं। मत्स्यपुराण में उल्लेख आता है कि, अंधक नाम के राक्षस का वध करने के लिये शिवजी ने मातृकाएँ उत्पन्न कीं। अंधक राक्षस के लिये कहा गया है कि उसके रक्त की प्रत्येक बूँद भूमि पर गिरने से उतने ही अंधक राक्षस और पैदा हो जाते थे। वे रक्तबिन्दु भूमि पर न गिर पाएँ तदर्थ शिवजी ने उस रक्त का पान करने के लिये अनेकों मातृकाएँ उत्पन्न कीं, जिनमें से एक "जया" नामक मातृका थी, जिसका उल्लेख टीकाकार कर रहे हैं(देखें १७९-१३)। अब टीकाकार द्वारा "जया" का उल्लेख करने का अभिप्राय क्या है, यह समझें। टीकाकार का भाव यह है कि, भले शिवजी ने भगवदाज्ञा के अनुसार ही मोहशास्त्र की रचना की थी परन्तु अंततोगत्वा कार्य किया था भगवदीयता के विरुद्ध। अतः भगवान या भगवदीयता के विरुद्ध कार्य करने का मूल्य इन्हें यह चुकाना पड़ा कि, उनकी अपनी निर्मित की हुई मातृकाएँ ही उनके नियन्त्रण में न रहीं एवं उनका ही भक्षण करने को उद्यत हो गयीं (देखें १७९-६१,६२)। जिसके लिये फिर बाद में उन्होंने भगवान नृसिंह की शरण ली। टीकाकार का तात्पर्य यह है कि, यहाँ प्रसङ्ग तो भगवदीयों के विषय में और उनका स्वरूप बताने का चल रहा है, तो इसके अंतर्गत भगवान से विमुख करने वाले मोहशास्त्र की रचना करने वाले शिवजी को कैसे समाविष्ट किया जा सकेगा क्योंकि शिवजी ने मोहशास्त्र की रचना करके भगवदीयता से विरुद्ध कार्य किया है ! अतः इस शङ्का का निराकरण करने एवं इसका औचित्य बताने के लिये उन्होंने "जया" का संदर्भ दिया है, जिसके द्वारा वे यह बता रहे हैं कि शिवजी को भी भगवच्छास्त्र से विरुद्ध कार्य करने का मूल्य चुकाना पड़ा है। मारुत का अर्थ है- हनुमानजी, जो श्रीरामचन्द्र के चरणों की सेवा में तत्पर रहते हैं। जड का अर्थ है- जड़भरतजी, जिनका मन भगवान में निरन्तर संलग्न रहने के कारण वे दूसरों को जड़ के समान प्रतीत होते थे। नारदजी तो सदा भगवद्गुणगान करते रहने के कारण स्वयं भगवान को आनन्दित करने वाले भक्त हैं। इसी कारण श्रुति में भी "यदा खलु वै" यह कहा गया है। मैत्रः का अर्थ है- मैत्रेयजी, जो पराशर ऋषि के शिष्य हैं और भगवद्धर्मों के वक्ता हैं। आद्यः शब्द से प्रह्लाद जैसे भक्तों को भी गिन लेना चाहिए। इन सभी पूर्णभगवदीयों का भाव समुद्रतुल्य, रत्नाकरतुल्य है- यह अर्थ है। जिस प्रकार समुद्र के गर्भ में रत्न होते हैं, उसी प्रकार ये भगवदीय भी अन्दर से भगवद्भावयुक्त होते हैं। इसी कारण कपिलदेवजी ने "साधकों के भावों के अनुसार भक्तियोग का अनेक प्रकार से प्रकाश होता है(श्री०भा० ३-२९-७)" यह कहा है।

पूर्णभावान् मार्गस्वरूपज्ञानभेदेन विशेषतो वर्णयन्ति लोकवेदगुणैरिति ।

लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके हरेर्गुणान् ॥१५॥
वर्णयन्ति समुद्रास्ते क्षाराद्याः षट् प्रकीर्तिताः ।

एके लोकमिश्रभावेन एके वेदमिश्रभावेन हरेर्गुणान् वर्णयन्ति । ते यथाक्रमं क्षाराद्याः क्षार आदिर्येषां ते षट्संख्याकाः प्रकर्षेण कीर्तिताः कथिता इत्यर्थः । तेषां तेषां भावो भिन्नभिन्नतया तत्तत्समुद्रजलतुल्य इत्यर्थः । रामकृष्णौ मनुष्यावेव परं बलतेजोधिकाविति देवौ वेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपराः क्षारसमुद्रतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षारजलं न तृषानिवर्तकं, नापि स्नानादिसुखकारि, किन्तु गम्भीरं मलादिनिवर्तकं तथैतेषां भावोपि न संसारतापनिवर्तको, नापि श्रवणेऽन्येषां भक्तिसम्पादकः, किन्तु देवादिज्ञानेन तत्स्वरूपशोधकः । बलाधिक्यादिगुणश्रवणेनान्येषां मर्यादाभक्तानां यत्किञ्चिदानन्दकारीति भावः ।

अब आचार्यचरण पूर्णभाव से युक्त वक्ताओं को भगवन्मार्ग का स्वरूप और भगवन्मार्ग का ज्ञान उन्हें किस प्रकार भिन्न-भिन्न ढंग से समझ में आया है, उसका विशेषरूप से वर्णन कर रहे हैं और इसे आपश्री लोकवेदगुणैः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

एक वक्ता वे होते हैं, जो लोकमिश्रभाव से हरिगुणों का वर्णन करते हैं और एक वक्ता वो होते हैं जो वेदमिश्रभाव से हरिगुणों का वर्णन करते हैं। ऐसे वक्ता क्रमशः खारे समुद्र इत्यादि छह समुद्र के जल समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। इन-इन वक्ताओं का भाव भिन्न-भिन्न रूप से उन-उन छह समुद्रों के जल समान होता है- यह अर्थ है। अब उनमें से जो वक्ता "रामकृष्ण तो मनुष्य ही थे परन्तु अन्य मनुष्यों की अपेक्षा इनमें बल-तेज अधिक था अथवा तो रामकृष्ण आदि भी देवता थे" ऐसा मानते हुए जो इनका गुणगान करते हैं, वे वक्ता खारे समुद्र के समान होते हैं ; इनका भाव खारे समुद्रजल के समान कहा जाता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार खारे समुद्र का जल प्यास नहीं बुझा सकता और न ही स्नान इत्यादि में सुखकारी लगता है परन्तु गंभीर/गहरा होता है और मल का निवारण तो करता ही है ; ठीक इसी प्रकार ऊपर कही विचारधारा रखने वाले वक्ताओं का भाव भी संसारताप का निवारण नहीं करता और न ही श्रोताओं के लिये भक्ति का संपादन ही कर सकता है, परन्तु हाँ, कम से कम भगवान को वो देव तो मान ही रहे हैं इसलिये इनका भाव श्रोताओं के स्वरूप को शुद्ध तो बना ही देगा। तात्पर्य यह है कि, "रामकृष्ण में बल अधिक था" इत्यादि गुणश्रवण करने के द्वारा अन्य दूसरे मर्यादाभक्तों को इनका भाव यत्किञ्चित् आनन्दकारी लग सकता है- यह भाव है।

ये तु वेदरक्षार्थं भगवदवतारः, नतु भगवानानन्दमयः श्रीकृष्ण एवेति ज्ञात्वा गुणवर्णनपरास्ते दधिमण्डोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इति भावः । यथा दधिमण्डस्यासारत्वात् न प्राणपोषकत्वं न वा चित्ततापनिवर्तकत्वं तथैतेषां भावस्यापि सच्चिदानन्दमयज्ञानाभावान्न मोक्षौपयिकत्वं न वा संसारनिवर्तकत्वमिति भावः ।

जो वक्ता "भगवान वेदरक्षा के लिये अवतार लेते हैं" , "भगवान तो आनन्दमय श्रीकृष्ण ही हैं" - यह जानकर भगवद्गुणवर्णन नहीं करते हैं, वे वक्ता छाछ के समुद्र के समान कहे जाते हैं, उनका भाव छाछ के समुद्र समान होता है- यह भाव है। जिस प्रकार छाछ साररहित होती है अतः न तो प्राणपोषक होती है और न चित्त के ताप का निवारण करती है ; ठीक इसी प्रकार इनका भाव भी भगवान के सच्चिदानन्दमय स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण न मोक्ष प्राप्त करा सकता है और न ही संसार का निवर्तक बन सकता है- यह भाव है।

मायया सत्त्वादिगुणैर्गुणमयं देहमाश्रित्य भगवान् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वत इति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावः सुरोदतुल्य इत्यर्थः । यथा सुरा स्वरूपविस्मारिका पानकर्तुरिन्द्रियदोषजनिका, तथैतेषां भावोपि भगवद्गुणानां सम्बन्धित्वेपि मायामोहेन स्वरूपविस्मारणं कारयति, स्वसम्बन्धेनान्यस्यापि तथात्वं सम्पादयतीति भावः ।

जो वक्ता "माया के सत्त्व-रज-तम गुणों को लेकर गुणमयदेह से भगवान सृष्टि की रचना करने जैसे कार्य करते हैं, स्वयं स्वतन्त्ररूप से नहीं कर सकते" ऐसा मानते हुए हरि का गुणगान करते हैं, उनका भाव सुरोद(मदिरासमुद्र)समान कहा गया है- यह अर्थ है। जिस प्रकार मदिरा स्वरूप का विस्मरण करा देती है और पीने वाले की इन्द्रियों में दोष उत्पन्न कर देती है ; ठीक इसी प्रकार ऊपर कही मान्यता रखने वालों का भाव भगवद्गुणों से सम्बन्धित होने पर भी मायामोहन द्वारा स्वरूपविस्मरण करा देता है। वे खुद भी व्यामोहित हैं अतः दूसरों को भी व्यामोहित कर देते हैं- यह भाव है।

हरिः सर्वदुःखहर्ता 'स सर्वज्ञः सर्वशक्ति'रित्यादिश्रुतिगोचरात् कारणभूतः सर्वं स्वेच्छयैव करोतीति ये गुणान् वर्णयन्ति ते क्षीरोदतुल्यास्तेषां भावस्तज्जलतुल्य इत्यर्थः । यथा क्षीरे स्वादुत्वं वीर्यजनकत्वमग्नितप्तत्वे माधुर्याधिक्यं, तथैतेषां भावस्यापि मनोहरत्वमधिकगुणगानार्थं शुद्ध्याधिक्यं तापानन्तरं च रसात्मकलीलाकर्तृत्वज्ञानानन्तरं तन्निरूपणेन माधुर्यत्वमिति भावः ।

जो वक्ता "हरि सर्वदुःखहर्ता हैं" और "जो सर्वज्ञ एवं सबको जाननेवाला है, सभी उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं(मुण्ड०उप० १-१-९ ; २-२-७;)" इस श्रुति के अनुसार सभी के कारणभूत हैं, सभी कुछ स्वयं अपनी इच्छा से ही करते हैं" ऐसा जानकर हरिगुणगान करते हैं, वे क्षीरोद(दूध के समुद्र)समान कहे गये हैं ; उनका भाव क्षीरोद के समान होता है। जिस प्रकार दूध में स्वाद होता है, वह शक्तिदायक होता है और अग्नि से तपाया जाय तो उसकी मधुरता बढ़ती जाती है ; ठीक इसी प्रकार ऊपर कही मान्यता रखने वालों का भाव भी

मनोहर होता है, अधिक भगवद्गुणगान के लिये प्रेरित करने वाला, शुद्धि की अधिकता करने वाला और सुनने से ताप उत्पन्न करने के पश्चात् जब श्रोता भगवान द्वारा की गयी रसात्मकलीला का रहस्य जान लेता है और तब वे भगवान की रसरूपलीला का निरूपण करते हैं तो श्रोताओं में अधिक मधुरता उत्पन्न करने वाला होता है।

भगवानलौकिकवीर्यवान् स्वीयान् साधनरहितान् अपि स्ववीर्येणैव मोचयतीति ये गुणान् वर्णयन्ति तेषां भावो घृतोदतुल्यः इत्यर्थः । यथा घृतं अन्यसम्बन्धं विनापि स्वपानेन बलवन्तं रोगमुक्तं च करोति, तथैतेषां भावोपि संसारसागरतरणाय योग्यदेहं करोतीति भावः ।

जो वक्ता "भगवान अलौकिकशक्तिमान हैं और अपने साधनरहित स्वीयजनों का भी अपनी शक्ति से ही उद्धार करते हैं" ऐसा जानकर भगवद्गुणगान करते हैं, उन वक्ताओं का भाव घृतोद(घी समुद्र)समान होता है। जिस प्रकार घृत बिना किसी की सहायता से खुद ही सेवन करने वाले को बलवान एवं रोगमुक्त कर देता है ; ठीक इसी प्रकार इनका भाव भी संसारसागर से तर जाने के लिये श्रोताओं को योग्य देह प्रदान करता है- यह भाव है।

भगवान् हरिः शिवदुर्गाप्रभृतिभिः प्राप्तस्थानलक्षणस्तैर्मुहुरभिप्रार्थ्यचरणरेणुरिति चतुर्वर्गार्थं स एव सेव्य इति ये गुणगानपरास्तेषां भाव इक्षुरसतुल्य इत्यर्थः । यथेक्षुरसो मधुरोन्तस्तापनोदी, तथैतेषां भावोपि सर्वसेव्यत्वज्ञानेन मधुरः सेवनप्रवृत्तौ च त्रिविधतापनिवारकश्चेति भावः ।

जो वक्ता "अपने-अपने स्थान को प्राप्त अपने-अपने लक्षण वाले शिव-दुर्गा इत्यादि देवता भी वारंवार भगवान हरि की चरणरेणु की प्रार्थना करते हैं अतः चारों पुरुषार्थों के लिये भगवान की ही सेवा करनी चाहिए" ऐसा मानकर भगवद्गुणानुवाद करते हैं , उनका भाव गन्ने के रस के समुद्र समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार गन्ने का रस मधुर होता है एवं अन्दर के ताप को दूर करता है ; ठीक उसी प्रकार इनका भाव भी "सभी की अपेक्षा भगवान ही सेव्य हैं" यह ज्ञान रखने के कारण मधुर होता है, एवं इनके भाव का सेवन करने पर त्रिविधताप को दूर करने वाला होता है- यह भाव है।

'अन्ये चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'इत्यादिवाक्येभ्यः पुराणपुरुषोत्तमो भगवान् एवाल्पाश्रयरहितः सायुज्यार्थं सेव्य इति ये गुणवर्णनपरास्ते शुद्धोदतुल्यास्तेषां भावः शुद्धोदतुल्य इत्यर्थः । यथा शुद्धोदं तृषादिनिवर्तकं स्नानादिना मलनिवर्तकं तापापहारी च, तथैतेषां भावोपि तृष्णादिनिवारकः पापनिवर्तकस्तापनिवर्तक इति भावः ॥१५½॥

एवं जो वक्ता "ये सभी तो भगवान के अंशावतार अथवा कलावतार हैं। श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान हैं(श्री०भा० १-३-२८)" इत्यादि वाक्यों के अनुसार यह मानते हैं कि पुराणपुरुषोत्तम तो भगवान ही हैं, इनका आश्रय अल्प नहीं पूर्ण है अतः सायुज्य के लिये इनकी सेवा करनी चाहिए- ये जानकर भगवद्गुणवर्णन करते हैं, वे शुद्धोद(मीठे जल के समुद्र)समान कहे जाते हैं, इनका भाव मीठे समुद्र के जल के समान होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार मीठे जल का समुद्र प्यास भी मिटाता है, स्नान आदि के द्वारा मल का भी निवारण करता है एवं ताप को भी दूर करता है ; ठीक इसी प्रकार इनका भाव भी भगवान के प्रति होने वाली तृष्णा का निवारण करता है, पाप का निवारण करता है एवं ताप का भी निवारण करता है- यह भाव है॥ १५ १/२॥

पूर्णभगवदीयेषु मुख्यान्निरूपयन्ति गुणातीततयेति ।

गुणातीतया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः ॥१६॥
सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः ।
तेऽमृतोदाः समाख्याताः तद्वाक्पानं सुदुर्लभम् ॥१७॥

ये गुणातीतभावनाशुद्धाः केवलं सच्चिदानन्दरूपिणो भगवद्रूपाः गुणा इति ये सर्वानेव गुणान् न तु न्यूनाधिक्यभावेन सर्वान् एव, श्रीयशोदायामाविर्भावमारभ्य रासोत्सवप्रभृत्यानृतपर्यन्तं विष्णोर्व्यापकस्य सर्वत्र तत्तद्रूपस्य ये वर्णयन्ति विचक्षणाः भगवल्लीलादिकरणरसज्ञातारः ते अमृतोदाः समाख्याताः सम्यक् प्रकारेण कथिताः । तेषां भावः सुधासम इति भावः । यथा सुधायाः अमृतसम्पादकत्वं देवभोग्यत्वं तथा एतेषां भावस्यापि भगवत्सेवायोग्यदेहसम्पादकत्वं भगवद्भोग्यत्वं तदितराभोग्यत्वं चेति भावः । एतादृशानां तद्वाक्पानं तेषां वचनामृतस्य पानं श्रवणं सादरं मनसा ग्रहणं अन्तर्निवेशनं सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्राप्यं, सुदुर्लभत्वोक्त्या तत्सङ्गस्य भगवत्प्राप्यकत्वमुक्तमिति भावः । अत एव भगवतोक्तं 'सत्सङ्गेनैवे'त्यारभ्य 'सिद्धा मामीयुरञ्जसे'त्यन्तेन, 'अधीते' इत्यारभ्य 'सत्सङ्गान्मामुपागत' इत्यन्तं च ।

अब पूर्णभगवदीयों के अंतर्गत जो मुख्य भगवदीय हैं, उनका निरूपण आपश्री गुणातीतता इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

जो गुणातीतभगवान की निरंतर भावना करने के कारण शुद्ध हो गये हैं, और जो भगवान के गुण भी सच्चिदानन्दरूपी भगवद्रूप ही हैं यों जान कर और भगवान के सभी गुणों को, उनमें न्यूनाधिक्यभाव न रखते हुए, अर्थात् श्रीयशोदाजी के यहाँ आविर्भूत होकर रासोत्सव के नृत्यपर्यन्त सर्वव्यापिविष्णु के इन-इन रूपों का वर्णन करते हैं, ऐसे विचक्षण और भगवल्लीला के रस को जानने वाले जो वक्ता होते हैं, वे अमृतसमुद्र समान कहे गये हैं- यह अर्थ है। इनका भाव अमृत के समान होता है, यह भाव है। जिस प्रकार सुधा अमृत का संपादन करती है, देवताओं के भोग करने योग्य होती है ; उसी प्रकार इनका भाव भी भगवत्सेवायोग्य देह का संपादन करता है, श्रोताओं को भगवद्भोग्य बनाकर अन्यों से दूर रखता है- यह भाव है। ऐसे मुख्यभगवदीयों की वाणी का पान अर्थात् इनके वचनामृत का पान करना और वह भी आदरसहित मन में उतारना, अन्तःकरण में उतारना तो बड़ा ही दुर्लभ है। इसे सुदुर्लभ कहा होने से ज्ञात हो जाता है कि, इनका सङ्ग भगवान ने प्राप्त करवाया है, इसीलिये दुर्लभ है। इसी कारण भगवान ने "हे उद्धव ! सत्सङ्ग से ही दैत्य-राक्षस, गन्धव-अप्सरा, नाग-सिद्ध, चारण-गुह्यक और विद्याधरों को मेरी प्राप्ति हुई है(श्री०भा० ११-१२-३)" यहाँ से आरंभ करके "गोपियाँ, गाएँ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, व्रज के हरिण, कालियनाग इत्यादि ने केवल भाव के कारण मेरी प्राप्ति कर ली(श्री०भा० ११-१२-८) यहाँ तक, और "उन लोगों ने न वेदों का अध्ययन किया था और न महापुरुषों की सेवा की थी। उन्होंने व्रत और कोई तपस्या भी नहीं की थी। बस केवल सत्सङ्ग के प्रभाव से वे मुझे प्राप्त हो गये(श्री०भा० ११-१२-७)" यहाँ तक के वाक्य कहे हैं।

तद्वाक्यमाहात्म्यमाहुः तादृशानामिति ।

तादृशानां क्वचिद्वाक्यं दूतानामिव वर्णितम् ।
अजामिलाकर्णनवद्बिन्दुपानं प्रकीर्तितम् ॥१८॥

पूर्णभगवद्भक्तानां वचनामृतपानं दुर्लभम् , ते क्वचित् कृपया वाक्यं वदन्ति, तद्वाक्यं दूतानामिव सन्देशहाराणामिव वर्णितं कथितमित्यर्थः । यथा दूतवाक्यं तत्प्रभुवाक्यमेव, तथा तादृशानामपि वाक्यं भगवद्वाक्यमेव । भगवान् उद्दिधीर्षुः स्वीयमुखेन स्वधर्मान् न ज्ञापयतीति भावः । अत एव कपिलदेवेनोक्तं 'सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्य' इति तत्सङ्गस्य भगवति प्रार्थनमुक्तं, न तु स्वकरणत्वं, तद्भगवानेव फलं दास्यन् करोतीत्याशयेनान्यथा कार्य इत्येवोक्तम् । तस्मात्तु तादृशानां वाक्यश्रवणं सादरं मनसोपदेशवत् ग्रहणं बिन्दुपानममृतबिन्दुपानं प्रकर्षेण कीर्तितमित्यर्थः ।

अब आचार्यचरण इन मुख्यभगवदीयों की वाणी का माहात्म्य **तादृशानां** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- पूर्णभगवद्भक्तों के वचनामृत का पान करना दुर्लभ होता है, वे कभी-कभार ही कृपा करके अपनी वाणी प्रकट करते हैं ; परन्तु जब करते हैं, तो उनकी वाणी सन्देश लाने वाले दूत की भाँति कही गयी है- यह अर्थ है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार दूत के वाक्य उसके स्वामी के ही वाक्य होते हैं, उसी प्रकार मुख्यभगवदीयों के वाक्य भी भगवद्वाक्य ही होते हैं। अर्थात् भगवान जब उद्धार करना चाहते हैं, तब स्वयं अपने मुख से अपने धर्मों का ज्ञापन नहीं कराते अपितु ऐसे मुख्यभगवदीयों के द्वारा अपना सन्देश देते हैं- यह भाव है। अतएव कपिलदेवजी ने "ऐसे परित्यागी महापुरुष ही साधु होते हैं, तुम्हें उन्हीं के सङ्ग की प्रार्थना करनी चाहिए। सत्पुरुषों के समागम से मेरा यथार्थ ज्ञान कराने वाली कथाओं द्वारा शीघ्र ही श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास होगा(श्री०भा० ३-२५-२४-२५)" इस श्लोक द्वारा यही कहा है कि, सत्सङ्ग प्राप्त करने के लिये भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए, उन्होंने यह नहीं कहा कि, मेरा ही सङ्ग कर लो। इसलिये यदि ऐसे भगवदीयों का सत्सङ्ग मिल रहा है एवं उनकी वाणी का पान करना प्राप्त हो रहा है, तो समझ लीजिए कि भगवान ही फल देने के लिये इनका सङ्ग प्राप्त करवा रहे हैं अतः कपिलदेवजी ने अन्य सभी छोड़कर सत्सङ्ग ही प्राप्त करने के लिये कहा। इसीलिये तो तादृशी भगवदीयों की वाणी को सुनना, आदरसहित मन में उतारना इत्यादि को आचार्यचरणों ने अमृतबिन्दु का पान करने जैसा कहा है।

यथामृतपानेनामरत्वं देवत्वं, तथैतत्पानेन नाशाभावपूर्वकभगवत्सेवौपयिकत्वमेवेति भावः । अत एव श्रीभागवते 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इत्युक्तम् । 'महिमामृतसमुद्रविप्रुष' इति च । अत्रानुभूतनिदर्शनमाहुः अजामिलाकर्णनवदिति । यथा विष्णुदूतेभ्यो भगवद्धर्मबलश्रवणेन भगवद्धर्म एव रुचिरभूत्, तदितरेष्वरुचिः, तथैतद्बिन्दुपानकर्तुरपि भवति ॥१८॥

जिस प्रकार अमृतपान से अमरता एवं देवयोनि प्राप्त होती है ; उसी प्रकार इनकी वाणी का बिन्दुपान भी कर लें, तो भी भगवद्भाव कभी नष्ट नहीं होता एवं भगवत्सेवा में उपयोगी देह प्राप्त होती ही है- यह भाव है। अतएव श्रीभागवत में "हे प्रभो ! आपके भक्त परस्पर आपके गुणानुवादरूप मादक सुधा का ही पान करके अपने क्षुधा-आदि देहधर्मों को शांत करते हैं(श्री०भा० ३-२१-१७)" यह कहा गया है। और "हे प्रभु ! आपकी अमृतमयी महिमारस का अनन्त समुद्र है(श्री०भा० ६-९-३९)" यह भी। इस बात को प्रमाणित करने के

लिये अनुभूत प्रमाण आपश्री अजामिलाकर्णनवत् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। जिस प्रकार विष्णुदूतों से भगवद्धर्मों का बल सुनने के पश्चात् अजामिल को भगवद्धर्मों में रुचि उत्पन्न हो गयी और अन्य विषयों से अरुचि हो गयी, उसी प्रकार इन मुख्यभगवदीयों की वाणी का बिन्दुपान करने वालों को भी भगवद्धर्मों में रुचि उत्पन्न हो जाती है और अन्य सांसारिक विषयों से अरुचि हो जाती है॥ १८॥

लौकिकाद्यासक्तिसहितबिन्दुपानेन रसास्वादो न भवति, तदर्थमाहुः रागाज्ञानादिभावानामिति ।

रागाज्ञानादिभावानां सर्वथा नाशनं यदा ।
तदा लेहनमित्युक्तं स्वानन्दोद्गमकारणम् ॥१९॥

रागः स्नेहः पुत्रादिषु, अज्ञानं भगवत्स्वरूपस्य, आदिपदेन सर्वविषयाद्यासक्तिः, तद्भावानां सर्वथा यदा नाशनं स्यात्, तदा लेहनमित्युक्तं भवति, रागादिभावानां नाशनं नामादर्शनं सवासनं तत्त्याग इत्यर्थः । तदेव लेहनं रागाद्यभावपूर्वकबिन्दुपानं स्वानन्दस्य भगवदानन्दस्योद्गमार्थं कारणं भवतीति भावः । स्वस्य जीवभावेन मायया तिरोहितानन्दस्योद्गमे प्राकट्ये सम्यक् तत्कारणं भवतीत्यर्थः ॥१९॥

किन्तु लौकिकासक्ति के शेष रहते भगवदीयवाणी का बिन्दुपान करने से भगवद्रस का आस्वादन नहीं किया जा सकता अतः लौकिकासक्ति को दूर करने की बात आपश्री रागाज्ञानादिभावानां इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में राग का अर्थ है- पुत्रपरिवार में स्नेह होना। अज्ञान का अर्थ है- भगवत्स्वरूप का अज्ञान होना। आदि पद का अर्थ है- अन्य सभी सांसारिक विषयों में आसक्ति होनी। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, इन सभी भावों का जब नाश हो जाता है, तब यदि ऊपर कहे भगवदीयों की वाणी का बिन्दुपान किया जाय, तो उसे लेहन/आस्वादन करना कहा जाता है। राग-अज्ञान इत्यादि भावों का सर्वथा नाशन कहने का अर्थ है- इन सांसारिक भावों का जड़मूल से त्याग हो जाना। जब ऐसा होता है, तभी राग-अज्ञान आदि नष्ट होकर भगवदीयों की वाणी का बिन्दुपान अपने भीतर भगवदानन्द उत्पन्न होने का कारण बनता है- यह भाव है। चूँकि जीव हैं और जीव का आनन्द तो तिरोहित हो गया है, इसलिये माया के द्वारा तिरोहित हुए आनन्द को उत्पन्न करने में इन भगवदीयों की वाणी कारणभूत बनती है- यह अर्थ है॥ १९॥

विंशं भावमाहु उद्धृतोदकवदिति ।

उद्धृतोदकवत्सर्वे पतितोदकवत्तथा ।
उक्तातिरिक्तवाक्यानि फलं चापि तथा ततः ॥२०॥

पूर्वोक्तामृतोदतुल्यातिरिक्तानां वाक्यानि तथैव तेषां सर्वेषां भावाः भगवद्भाववचनेन गृहीताः । वाक्यानि च तथैवादरेण श्रुतानि उद्धृतोदकवदुपकुर्वन्ति यथा, तथा गृहीतानि प्रासादात् पतितोदकवत् उपकारं कुर्वन्तीत्यर्थः। उद्धृतोदकं यथा स्वस्य स्नानपानदशासु यत्नगृहीतत्वात् यत्किञ्चित्सङ्कोचेन योग्यं भवति, तथैतेषां भावोपीति भावः । तथैतेषां फलमपि भवति । पतितोदकं यथा बाह्यस्नानादियोग्यं, न तु पानादिषु, तथैतेषां भावोपीत्यर्थः । उद्धृतोदकं यथा पानादिदशायामेव तृषाशान्तिं करोति, स्वोत्पत्तिस्थानसदृशान् गुणान् विदधति, स्वस्थितिवशाच्च शीतोष्णभावं भजते, सुधा तु सदैकरूपेति सदैकरूपमेव गुणं विदधातीति भावः ॥२०॥

अब बीसवां भाव आपश्री उद्धृतोदकवत् (कहीं से भर कर लाया गया जल) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में "उक्तातिरिक्तवाक्यानि" शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- अमृतसमुद्र के तुल्य भगवदीयों के अतिरिक्त पूर्व में कहे सभी वक्ताओं के वाक्य और उन सभी के भाव ; अर्थात् भगवद्वचन के रूप में ग्रहण किये गये भाव। तात्पर्य यह है कि, अमृतोद के तुल्य वक्ताओं के अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रकार के वक्ताओं के वाक्य या भाव हैं, उनमें से भगवत्सम्बन्धी भाव ही ग्रहण करने योग्य होते हैं और वे ही ग्रहण करने चाहिए। अर्थात् अमृतोदतुल्य भगवदीयों के अतिरिक्त अन्यों की वाणी में पुरुषोत्तम भगवान से अतिरिक्त पदार्थों की भी चर्चा आ सकती है परन्तु श्रोता को चाहिए कि उनमें से भी एतन्मार्गीय भाव ही ग्रहण करे अथवा उन्हें एतन्मार्गीय भावानुसार ढाल कर ही ग्रहण करे। और, उन वाक्यों को उसी भगवत्सम्बन्धीभाव के रूप में आदरपूर्वक श्रवण करना जिस प्रकार से उद्धृतोदक (कहीं से भर कर लाया गया जल) की भाँति उपकार करता है, उसी प्रकार से उनके वाक्यों को ग्रहण करना किसी भवन से गिरते हुए जल की भाँति श्रोता का उपकार करता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार भर कर लाया गया जल स्नान-पान आदि करने के लिये यत्नपूर्वक लाया गया होता है अतः सीमितमात्रा में होने के कारण किफायत से उसका उपयोग किया जाता है ;ठीक उसी प्रकार उद्धृतोदक के समान कहे जाने वक्ताओं का भाव भी ऐसा ही होता है। इनको सुनने से फिर फल भी वैसा ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार पतितोदक (किसी भवन की छत से गिरता हुआ जल) बाह्यस्नान आदि करने के ही योग्य होता है, पीने के उपयोग में नहीं आता ; ठीक उसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी ऐसा ही होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार उद्धृतोदक (कहीं से भर कर लाया गया जल) तो पीने पर ही प्यास

मिटाता है और जहाँ से भर लाया गया है, वहाँ के गुणों को भी अपने सङ्ग लायेगा और जिस स्थान पर रखेंगे, उस स्थान के अनुसार शीतल या उष्ण हो जायेगा ; किन्तु सुधा तो सदा एक ही रूप में रहती है और गुण उत्पन्न करती है इसलिये इसलिये सुधासमान कहे जाने वाले अर्थात् अमृतोद से तुलना किये गये पूर्णभगवदीय वक्ता इस कोटि में नहीं आते- यह भाव है ॥ २० ॥

उपसंहरन्ति **इतीति** ।

इति जीवेन्द्रियगता नानाभावं गता भुवि ।
रूपतः फलतश्चैव गुणा विष्णोर्निरूपिताः ॥२१॥

इतीति समाप्तौ प्रकारेण वा । जीवे इन्द्रियेषु गताः प्राप्ताः भुवि नानाभावं सात्त्विकादिभावं गताः प्राप्ताः एतादृशा विष्णोर्भगवतो गुणाः स्वरूपतः फलतश्च निरूपिता विवेचिता इत्यर्थः ॥२१॥

इति श्रीबालकृष्णकृतजलभेदविवृतिः समाप्ता ॥

अब बीसवां भाव आपश्री उद्धृतोदकवत् (कहीं से भर कर लाया गया जल) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

श्लोक में "उक्तातिरिक्तवाक्यानि" शब्द से आपश्री का तात्पर्य है- अमृतसमुद्र के तुल्य भगवदीयों के अतिरिक्त पूर्व में कहे सभी वक्ताओं के वाक्य और उन सभी के भाव ; अर्थात् भगवद्वचन के रूप में ग्रहण किये गये भाव। तात्पर्य यह है कि, अमृतोद के तुल्य वक्ताओं के अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रकार के वक्ताओं के वाक्य या भाव हैं, उनमें से भगवत्सम्बन्धी भाव ही ग्रहण करने योग्य होते हैं और वे ही ग्रहण करने चाहिए। अर्थात् अमृतोदतुल्य भगवदीयों के अतिरिक्त अन्यों की वाणी में पुरुषोत्तम भगवान से अतिरिक्त पदार्थों की भी चर्चा आ सकती है परन्तु श्रोता को चाहिए कि उनमें से भी एतन्मार्गीय भाव ही ग्रहण करे अथवा उन्हें एतन्मार्गीय भावानुसार ढाल कर ही ग्रहण करे। और, उन वाक्यों को उसी भगवत्सम्बन्धीभाव के रूप में आदरपूर्वक श्रवण करना जिस प्रकार से उद्धृतोदक(कहीं से भर कर लाया गया जल) की भाँति उपकार करता है, उसी प्रकार से उनके वाक्यों को ग्रहण करना किसी भवन से गिरते हुए जल की भाँति श्रोता का उपकार करता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार भर कर लाया गया जल स्नान-पान आदि करने के लिये यत्नपूर्वक लाया गया होता है अतः सीमितमात्रा में होने के कारण किफायत से उसका उपयोग किया जाता है ;ठीक उसी प्रकार उद्धृतोदक के समान कहे जाने वक्ताओं का भाव भी ऐसा ही होता है। इनको सुनने से फिर फल भी वैसा ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार पतितोदक(किसी भवन की छत से गिरता हुआ जल)बाह्यस्नान आदि करने के ही योग्य होता है, पीने के उपयोग में नहीं आता ; ठीक उसी प्रकार इन वक्ताओं का भाव भी ऐसा ही होता है- यह अर्थ है। जिस प्रकार उद्धृतोदक(कहीं से भर कर लाया गया जल) तो पीने पर ही प्यास मिटाता है और जहाँ से भर लाया गया है, वहाँ के गुणों को भी अपने सङ्ग लायेगा और जिस स्थान पर रखेंगे, उस स्थान के अनुसार शीतल या उष्ण हो जायेगा ; किन्तु सुधा तो सदा एक ही रूप में रहती है और गुण उत्पन्न करती है इसलिये इसलिये सुधासमान कहे जाने वाले अर्थात् अमृतोद से तुलना किये गये पूर्णभगवदीय वक्ता इस कोटि में नहीं आते- यह भाव है ॥ २० ॥

आपश्री इति शब्द से ग्रन्थ का उपसंहार कर रहे हैं।

इति का अर्थ है- अब यहाँ ग्रन्थ समाप्त होता है। अथवा तो इति का अर्थ है- इस प्रकार से। तात्पर्य यह है कि, इस प्रकार से जीव की इन्द्रियों में सात्विक-राजस-तामस इत्यादि अनेक प्रकार से प्रविष्ट होने वाले भगवान विष्णु के गुण स्वरूपतः-फलतः निरूपित कर दिये गये, विवेचित कर दिये गये ॥ २१ ॥

यह श्रीबालकृष्णकृत जलभेदविवृति समाप्त हुई ॥

जलभेदः ।

परिशिष्टम् प्रथमम् ।

पूर्णा भगवदीया इत्यत्र । अत्र हि सामान्यत पुष्टिमर्यादामार्गयोः पूर्णा ये भगवदीयास्त उच्यन्ते । अत एव विवृतौ भक्त्या सेवया च पूर्णा इत्युक्तम् । तत्र मर्यादामार्गीयास्तु भक्त्या माहात्म्यज्ञानसहितस्नेहेन पूर्णाः सर्वदा गुणपरा धर्मद्वारैव धर्मिपराः, पुष्टिमार्गीयास्तु धर्मिमात्रपराः, तेषां परोक्षे गुणपरत्वं धर्मिपरतयैव । तद्विरहे स्वरूपं विना स्थातुमशक्त्या [1]तत्परत्वात् । तत्र पुष्टौ गुणा अपि गीयमाना धर्मिरूपा एव । अत एव 'तव कथामृत'मित्यत्र कथाया अपि गुणरूपाया भगवत्समत्वबोधनाय षड्गुणत्वमुक्तम् । [2]तत् स्वरूपात्मकत्व एव सम्भवति । अन्यथा गुणे गुणानङ्गीकारेण तेषु षड्गुणत्वोक्तिर्विरुद्धा स्यात् ।

अब पूर्णा भगवदीयाः इस श्लोक पर कुछ विमर्श किया जाता है। इस श्लोक में आचार्यचरणों ने सामान्यतया पुष्टिमार्ग एवं मर्यादामार्ग के जो पूर्णभगवदीय हैं, वे कहे हैं। इसी कारण पितृचरणों ने अपनी विवृति में इन्हें भक्ति (मर्यादामार्ग) और सेवा (पुष्टिमार्ग) इन दोनों के दृष्टिकोण से पूर्णभगवदीय कहा है। मर्यादामार्गीय पूर्णभगवदीय वो हैं, जो भक्ति द्वारा माहात्म्यज्ञानसहित भगवान से स्नेह होने के कारण पूर्णभगवदीय कहे जाते हैं, जो सर्वदा भगवद्गुणगान में तत्पर रहते हैं एवं ऐश्वर्य आदि भगवद्धर्मों के द्वारा ही धर्मिस्वरूप भगवान का भजन करते हैं। तात्पर्य यह है कि, भगवान जब अपने किसी भी गुण को प्रकट करते हैं, तब ही मर्यादामार्गीयभक्त इन गुणों से आसक्त होकर भगवत्स्वरूप का चिंतन करते हैं, अन्यथा नहीं। पुष्टिमार्गीय भगवदीयों को तो भगवान अपने गुण प्रकट करें या नहीं, उन्हें तो सीधे-सीधे भगवत्स्वरूप में ही आसक्ति होती है- यह दोनों में अंतर है। किन्तु पुष्टिमार्गीय भगवदीय तो केवल धर्मिस्वरूप-भगवान में ही आसक्त होते हैं ; यदि विरहदशा में वे भगवान की लीला-गुणगान इत्यादि में प्रवृत्त होते भी हैं, तो वो भी धर्मिपर होने के कारण ही अर्थात् स्वयं धर्मिस्वरूप भगवान में आसक्त होने के कारण ही, स्वतन्त्रतया लीला-गुणगान में प्रवृत्त नहीं होते। क्योंकि भगवान से विरह की दशा में भगवान के स्वरूप बिना उनका जीवन टिकना असंभव बन जाता है, इसीलिये वे गुणगान में प्रवृत्त होते हैं। पुष्टिमार्ग में तो गाये जाने वाले भगवद्गुण भी धर्मिस्वरूप ही हैं। इसी कारण देखिए "हे प्रभु ! तुम्हारी कथा भी अमृतस्वरूपा है। विरही जीवों के लिये जीवन है(श्री०भा० १०-३१-९)" इस श्लोक की सुबोधिनी में भगवान का गुणगान करने वाली कथा की भगवत्स्वरूप से समानता बताने के लिये आचार्यचरणों ने कथा के भी ऐश्वर्यादि छह गुण बताये गये हैं, जो कि भगवान के गुण हैं। भगवत्स्वरूप और भगवत्कथा की समानता तो तभी संभव है, जब भगवान की कथा भी भगवत्स्वरूपात्मक हो। अन्यथा तो, यदि भगवद्गुणगान में भगवान में विद्यमान ऐश्वर्यादि छह गुण स्वीकार न किये जाएँ, तो उपरोक्त सुबोधिनी में कही षड्गुण वाली बात से विरोध आ जायेगा।

तत्र शेषः पुष्टिमार्गीय एव, अन्तरङ्गलीलासम्बन्धित्वात् । व्यासस्तु मर्यादामार्गीयः, समाधिरूपसाधनेन भगवद्दर्शनवत्त्वात् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्ण'मिति वाक्यात् । अग्निस्तु प्रभुरस्माकं पुष्टिमार्गीय एव, पुष्टिभक्तिरूपमुखारविन्दरूपत्वात् । मारुतोपि तथा, मर्यादापुरुषोत्तमेपि पुष्टिमार्गप्रकारेणान्तरङ्गभक्तत्वात् । अत एव श्रीसीतामनःसमाहितये लङ्कायां दूतिकाया इव तस्य प्रेषणम् । जडो मर्यादामार्गीयः, पूजापरत्वाद्दुःसङ्गसभयत्वात् देहावसानप्रतीक्षकत्वाच्च । नारदोपि तथा, सततं गुणपरतया तावन्मात्रेण स्वस्थत्वाच्च ।

इन सात भगवदीयों में शेषजी पुष्टिमार्गीय ही हैं क्योंकि वे भगवान की अन्तरङ्गलीला से सम्बन्धित हैं। शेषजी भगवान की शैया हैं, जिस पर प्रभु विहार करते हैं अतः इन्हें अन्तरङ्गलीला से सम्बन्धित कहा जा रहा है। व्यासजी मर्यादामार्गीय हैं क्योंकि उन्होंने समाधिरूप साधन के द्वारा भगवान के दर्शन किये, जो कि "व्यासजी ने शम्याप्रास के आश्रम में भक्तियोग के द्वारा अपने मन को एकाग्र बनाकर परमात्मा और उनकी माया को देखा(श्री०भा० १-७-४)" इस श्लोक द्वारा कहा गया है। अग्नि तो हमारे प्रभु ही हैं, जो पुष्टिमार्गीय ही हैं क्योंकि वे भगवान के पुष्टिभक्तिरूप मुखारविन्दरूप हैं। मारुत भी पुष्टिमार्गीय हैं क्योंकि उन्होंने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का भजन भी पुष्टिमार्गीयप्रकार से उनके अन्तरङ्ग भक्त होकर किया है। इसी कारण सीताजी के मन को ढाढ़स बँधाने के लिये श्रीराम ने लंका में उन्हें ही दूती की तरह भेजा। जड़भरतजी मर्यादामार्गीय हैं, क्योंकि वे पूजापर थे, उन्हें दुःसङ्ग का भय था एवं अपना देहावसान होने की प्रतीक्षा करते रहते थे। पुष्टिमार्गीय देहावसान नहीं चाहता क्योंकि उसे तो अपनी समस्त देह-इन्द्रियों द्वारा

---

१. गुणपरत्वात् । २. षड्गुणत्वम् ।

भगवत्सेवा एवं भगवान का अनुभव करना होता है- यह अंतर है। नारदजी भी मर्यादामार्गीय हैं क्योंकि वे सतत भगवद्गुणगान में तत्पर रहते हैं और मात्र गुणगान से ही स्वस्थता का अनुभव कर लेते हैं। उन्हें भी इससे अधिक भगवत्स्वरूप के प्राकट्य की अपेक्षा नहीं रहती है। वे मात्र भगवद्गुणगान से ही सन्तुष्ट हैं। जबकि शुद्धपुष्टिमार्गीयों का लक्षण तो यह है कि, उन्हें प्रकट स्वरूप में ही आसक्ति होती है, वे भगवद्गुणगान तो जब तक प्रभु प्रकट न हों, तब तक अपने प्राणों को टिका कर रखने के लिये करते हैं।

मैत्रेयोपि मर्यादामार्गीय एव, भगवत्पारोक्ष्येपि विदुरोपदेष्टृत्वेन स्वस्थत्वात् । अन्यथोद्धव इव क्लिष्टोनुभूतान् निजस्वामिगुणानेव स्थातुमशक्ततयानुवदेत् ।

मैत्रेयजी भी मर्यादामार्गीय ही हैं क्योंकि भगवान के प्राकट्य के अभाव में भी वे विदुरजी को उपदेश देने लायक बने रहे, भगवद्विरह से व्याकुल नहीं हुए ; तात्पर्य यह कि उन्हें भगवत्स्वरूप के प्राकट्य की अपेक्षा उत्पन्न नहीं हुई। क्योंकि भगवान के परोक्ष(अप्रकटदशा)में भी विदुरजी को भगवद्गुणों का उपदेश देकर भी स्वस्थ ही बने रहे ; अन्यथा तो उद्धवजी की भाँति क्लिष्ट(आकुल-व्याकुल) होकर अपने स्वामी भगवान के गुणों को उनके विरह को सहन न कर पाते हुए कहते !!! विदुरजी को भगवान की गुणलीलाओं का वर्णन उद्धवजी ने भी किया और मैत्रेयजी ने भी किया। परन्तु उद्धवजी ने भगवान से विरह की दशा में बड़े आकुल-व्याकुल होकर भगवल्लीलाओं का वर्णन किया और आगे जब विरह सहन नहीं हुआ तो अपनी असमर्थता बता दी। जबकि भगवल्लीला का वर्णन तो मैत्रेयजी ने भी किया परन्तु वे उद्धवजी की भाँति प्रभुविरह में आकुल-व्याकुल न हुए एवं बड़ी सरलता से सृष्टि का वर्णन एवं भगवान के गुण-माहात्म्य का वर्णन करते रहे। टीकाकार कहते हैं कि, चूँकि मैत्रेयजी भगवान से विरहदशा में भी विरह में व्याकुल न होकर विदुरजी को उपदेश करने की परिस्थिति में बने रहे, जबकि भगवान के परोक्ष में भगवद्विरह का अनुभव करना तो पुष्टिमार्ग का मूलभूत सिद्धान्त है, जो कि मैत्रेयजी में नहीं है और इसी बात से टीकाकार कहते हैं कि, वे मर्यादामार्गीय हैं। विशेष जानने के लिये देखें- श्री०भा० ३-१-२५ जहाँ विदुरजी की भेट उद्धवजी से हुई। तत्पश्चात् देखें श्री०भा० ३-२-१ से ६ तक जहाँ उद्धवजी प्रभुविरह में व्याकुल हुए और उनका हृदय भर आया और वे कुछ बोल न सके। तत्पश्चात् देखें श्री०भा० ३-४-९ जहाँ विदुरजी की भेट मैत्रेयजी से हुई। यदि उनमें भगवद्विरह की व्याकुलता रही होती तो उद्धवजी की भाँति व्याकुल होते, जो विदुरजी को व्याकुलता के कारण उपदेश करने की परिस्थिति में न रहे।

एवं सति पुष्टिमर्यादामार्गीयत्वाविशेषेण भक्तेषु पूर्णत्वमेवादाय समुद्रत्वमत्रोच्यते, न तु विशिष्य । तथा च यथा समुद्राः पूर्णाः, तथैतेपि गुणैर्भगवदीयैर्भावैश्च पूर्णाः । यथा वा ते चन्द्रदर्शनेन तरलिततरङ्गाः, तथैवैतेपि गुणगानावसरे भावभावनावसरे च भगवद्वदनविधुदर्शनेन भावतरङ्गितान्तःकरणा इति तात्पर्याज्ञानादेव पुष्टिमार्गीयाचार्याणां मर्यादामार्गीयभक्तपङ्क्तिपाठोनुचित इति मत्सरिकथनं नीरमथनसदृशमेव । अत एवाग्रे 'लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेने'त्यनेन समुद्रसदृशभक्तेष्वेव षड्विधाः भिन्नाः कृताः, एकविधाः पुष्टिमार्गीया गुणातीततया 'शुद्धा'नित्यनेन भिन्नाः कृताः । भगवद्गुणानां षड्विधत्वेन मर्यादामार्गीयाणां षड्विधत्वम्, पुष्टिमार्गीयाणां तु धर्मिस्वरूपमात्रपरत्वेनैकविधत्वम् ।

इन विश्लेषणों के परिप्रेक्ष्य में यह समझना चाहिए कि, इस श्लोक में आचार्यचरणों ने पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय का भेद न रखते हुए सभी भगवदीयों को एक ही संग और केवल भक्त में जो एक प्रकार की पूर्णता आवश्यक होती है, उस अर्थ में कहा है। और इसी पूर्णता को बताने के लिये आपश्रीने उन सभी को एक समान समुद्र का ही दृष्टांत दिया। सबको अलग-अलग दृष्टांतों द्वारा नहीं बताया। जिस प्रकार समुद्र पूर्ण होता है, उसी प्रकार ये भी अपने भीतर रहे भगवद्गुणों एवं भगवदीयभावों के कारण पूर्ण कहे गये हैं। अथवा तो यों समझ लें कि, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र की लहरें तरङ्गित हो जाती हैं, उसी प्रकार भगवद्गुणगान करते समय एवं भावभावना के समय भगवान के मुखचन्द्र का दर्शन करने पर इनके अन्तःकरण भी भावों से तरङ्गित हो जाते हैं। इस मूल तात्पर्य को न समझ पाने के कारण ही ईर्ष्या करने वाले लोग ये कहने लग पड़ते हैं कि- "पुष्टिमार्गीय आचार्यचरणों को मर्यादामार्गीय भक्तों की पङ्क्ति में गिनाना अनुचित है"- जो कि जल को मथने के समान व्यर्थ ही है। इसी कारण आगे "लोकवेदगुणैर्मिश्रभावेनैके(१५)" इस श्लोक द्वारा आचार्यचरणों ने भक्तों को समुद्र के समान बता कर छह प्रकार के समुद्र द्वारा छह प्रकार के भक्तों को भिन्न कर दिये और इनसे अलग एक प्रकार के पुष्टिमार्गीयभक्त को गुणातीत बताने के लिये उन्हें "शुद्ध" विशेषण देकर अलग से कहा। कारण कि भगवद्गुण छह हैं अतः मर्यादामार्गीयभक्तों को छह प्रकार के समुद्रों द्वारा बताया; और चूँकि पुष्टिमार्गीय तो धर्मिस्वरूप में आसक्ति रखते हैं अतः उन्हें इन छहों से अलग एक प्रकार का बताया।

पूर्वे हि मिश्रभावाः, तद्भावेषु गुणानां मिश्रणात् । तद्द्वारैव तेषां प्रभौ भाववत्त्वाच्च । उत्तरे तु शुद्धभावाः केवलस्वरूपेण तन्मात्रपरत्वात् । अत

एव तद्गीयमानगुणेष्वपि स्वरूपात्मकत्वमभिप्रेत्याग्रे 'गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिण' इत्यनेन शुद्धत्वमुक्तम् । अत एव विवृतौ 'पूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् निरूपयन्तीति गुणातीततये'त्यस्याभास उक्तः । तदर्थस्तु पुष्टिमर्यादासाधारण्येनोक्तपूर्णभगवदीयेष्वत्युत्तमान् केवलपुष्टिमार्गीयान् निरूपयन्तीति ज्ञेयः । अत एव पूर्णत्वेन समुद्रसदृशत्वस्य सर्वेषु सत्त्वेपि तेष्वमृतोदतुल्यत्वनिरूपणम् । तस्मादेवमभिप्रायमवगत्य नास्मत्पितृचरणविवृतावज्ञमत्सरिभिः संशयलेशोपि विज्ञेयः ।

पहले जो छह प्रकार के मर्यादामार्गीयभक्त बताये, वे मिश्रभाव वाले थे क्योंकि उनके भावों में भगवद्गुणों का मिश्रण होता है और उन गुणों के द्वारा ही उनका प्रभु में भाव उत्पन्न हुआ है, साक्षात् भगवत्स्वरूप में आसक्ति होने के कारण नहीं। इनके पश्चात् जो अलग से एक प्रकार बताया, वे शुद्धभाव वाले पुष्टिमार्गीयभक्त हैं, क्योंकि उनकी आसक्ति केवल साक्षात् भगवत्स्वरूप के कारण है। अतएव इन पुष्टिमार्गीयों द्वारा किया गया गुणगान भी स्वरूपात्मक है- इस अभिप्राय को बताने के लिये फिर आगे आचार्यचरणों ने "गुणातीततया शुद्धान् सच्चिदानन्दरूपिणः(१६)" इत्यादि शब्दों से इन्हें शुद्ध बताया है। इसी कारण पितृचरणों ने उनकी विवृति में इस श्लोक के आरंभ में [अब आचार्यचरण इन पूर्णभगवदीयों में भी जो उत्तम भगवदीय हैं, उनका निरूपण "गुणातीततया" इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं] इस प्रकार से कहा है। इसका अर्थ यह है कि, पूर्व में पुष्टिमर्यादा दोनों प्रकार के मिलेजुले छह प्रकार के भगवदीय कहे गये, उन्हीं में से अब आचार्यचरण सत्रहवें श्लोक में उत्तमभगवदीय जो कि केवल पुष्टिमार्गीय हैं, उनका निरूपण कर रहे हैं- यह समझना चाहिए। इसी कारण आपश्री ने पिछले समस्त भगवदीयों को एक साथ और केवल एक समुद्र के ही दृष्टांत द्वारा बतला कर, बाद में फिर वापस से उत्तमपुष्टिमार्गीयभक्तों को सत्रहवें श्लोक में अमृतसमुद्र के समान बताया। इसलिये, इस अभिप्राय को ठीक ढंग से समझकर अज्ञानी ईर्ष्यालुजनों को हमारे पितृचरणों द्वारा की गयी विवृति में लेशमात्र भी शङ्का नहीं करनी चाहिए।

ननु तथापि तादृशपंक्तिपाठस्तदीयानां तानेव सर्वोत्तमत्वेन जानतां न मनोरमो भवतीति चेत् ? सत्यम् । नेदं तदीयजनवाक्यं, येन संभावितमप्यन्यत्र तत्साम्यमुच्यमानं न सहेयुः, क्व पुनर्वदेयुः, किन्तु निजाचार्यचरणानाम् । ते तु कश्चिद् धर्ममादाय बहुषु स्थलेषु तथा वदन्त्येव, अन्यथा 'अर्थं तस्य विवेचितु'मिति वाक्ये 'मां व्यासव'दिति दृष्टान्तेन व्याससाम्यं कथं वदेयुः । न हि भगवता निजाचार्यवत् पुष्टिपथप्रकटनाय व्यास आविर्भावितः, किन्तु कीरवत् तन्मुखतः शब्दात्मकं श्रीभागवतमाविर्भावयितुम् । अर्थस्य भगवद्रूपत्वेन तत्प्रकटनं तु 'स्वयमेवात्मनात्मान'मिति वाक्यरूपेणैव भवतीति तत्प्रकटनाय तदात्मकानाचार्यानेव, तत्रापि भागवतार्थो भक्तिरूप इति भक्तिरूपास्यरूपानेंवाविर्भावितवान् । तथा च शब्दात्मकं श्रीभागवतं व्यासात् प्रकटितम्, अर्थात्मकमेतेभ्यः प्रकटितमिति तावद्धर्ममादाय यथा तत्र स्वस्मिन् तद्दृष्टान्त उक्तः, एवमत्रापि पूर्णभगवदीयत्वमात्रमादाय तन्मध्ये स्वस्यापि गणनेति न दोषः ।

यह स्पष्टीकरण तो हो गया, परन्तु फिर भी, तदीयजन जो आचार्यचरणों को ही सर्वोत्तम मानते हैं, उन्हें मर्यादामार्गीयभक्तों के अंतर्गत आचार्यचरणों का नाम होना मनोरम नहीं लगता- यदि ऐसा कहें तो ? बात ठीक है। परन्तु पहले ये तो सोचिए कि, इस वाक्य को आखिर कह कौन रहा है ? ये वाक्य किसी तदीय या निजजन ने तो कहा नहीं है जो आचार्यचरणों की समानता कहीं अन्यत्र करने की संभावना को भी सहन कर जाय, कहने की बात तो दूर रही। स्वयं आचार्यचरण ही तो कह रहे हैं ; और आचार्यचरण ऐसा पहली बार कह रहे हों, ऐसा भी नहीं है क्योंकि आप तो जानते ही हैं कि आपश्री ने अन्यों से अपनी समानता पहले भी कई स्थलों पर कही ही है। यदि ऐसा न होता तो "अर्थं तस्य विवेचितुं(श्रीसुबो० प्रथमस्कंध/का०-५)" इस वाक्य में आचार्यचरण "भगवान ने मुझे व्यासजी की तरह भूतल पर भेजा" यों कहकर अपनी समानता व्यासजी से क्यों करते ? जबकि आचार्यचरण एवं व्यासजी की समानता तो हो ही नहीं सकती क्योंकि भगवान ने आचार्यचरणों की तरह व्यासजी को पुष्टिपथ प्रकट करने के लिये थोड़े ही भेजा था अपितु व्यासजी को तो तोते की भाँति उनके मुख से शब्दात्मक श्रीभागवत प्रकट कराने के लिये भेजा था। श्रीभागवत का अर्थ तो भगवद्रूप ही है अतः श्रीभागवत का अर्थ तो "अर्जुन ने कहा- हे पुरुषोत्तम ! आपके स्वरूप को न देवता जान सकते हैं न दानव। वास्तव में तो आप स्वयं ही अपने आप को अपनी शक्ति से जानते हैं(भ०गी० १०-१५)" इस वाक्यानुसार स्वयं भगवान ही कर सकते हैं अतः श्रीभागवत का अर्थ प्रकट करने के लिये भगवत्स्वरूप आचार्यचरणों को ही भेजा ; और, भागवत का अर्थ तो भक्तिरूप है अतः भगवान ने अपने भक्तिरूप मुखारविन्दस्वरूप आचार्यचरणों द्वारा ही श्रीभागवत का अर्थ प्रकट करवाया। निष्कर्ष यह हुआ कि, शब्दात्मक श्रीभागवत व्यासजी ने प्रकट की और अर्थात्मक श्रीभागवत आचार्यचरणों ने प्रकट की अतः केवल भागवत प्रकट करने के सीमित अर्थ में ही आचार्यचरणों ने व्यासजी से अपनी समानता का दृष्टांत दिया है ; ठीक इसी प्रकार "पूर्णा भगवदीयाः" में भी केवल भगवदीयता वाले सीमित अर्थ को लेकर आचार्यचरणों ने उनके बीच अपनी भी गणना कर ली है अतः इसमें कोई भी दोष नहीं है।

वस्तुतस्तु पूर्णत्वं भगवदीयत्वं चाचार्येषु भिन्नमेव । भगवदीयत्वं तदास्यरूपत्वेन, तत्त्वेन भक्तिरूपत्वं, प्रभौ रसात्मकत्ववत् । अत

एव यथा प्रभौ रसलीलायां तद्धर्माविर्भावो ब्रह्मत्वं च तादृशस्यैव, तथात्रापि भगवदाज्ञया अवतीर्य जनशिक्षार्थं भजने भक्तिधर्माविर्भावो, भगवत्त्वेपीति भगवत्त्वभगवदीयत्वे अपि संभवत इति नानुपपत्तिः काचित् । पूर्णत्वमप्यत्र स्वरूपपूर्णत्वमेव । चेतस्तत्प्रवणसेवायां निरोधे पञ्चात्मकस्वरूपेणैव पूर्णत्वात् । अत एव 'रासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति प्रभोर्नाम ।

परन्तु, यदि वास्तविकता देखी जाय तो पूर्णता और भगवदीयता तो आचार्यचरणों में कुछ दूसरे ही प्रकार की है, जिसे यहाँ समझना आवश्यक है। भगवदीय का अर्थ होता है- भगवान से सम्बन्धित। दूसरे भगवदीय तो अन्य किसी न किसी प्रकार से भगवान से जुड़े होने के कारण भगवदीय कहलाते हैं परन्तु आपश्री तो सीधे-सीधे भगवान के साक्षात् मुखारविन्दस्वरूप ही होने के कारण भगवदीय हैं। तात्पर्य यह कि आपश्री तो सीधे-सीधे भगवान के श्रीअंग से ही जुड़े हुए हैं और इस अर्थ में भगवदीय हैं। वे भगवान के मुखारविन्द होने के कारण भक्तिरूप हैं क्योंकि भगवान का मुख भक्तिरूप होता है। अन्य सभी तो भक्तिभाव से पूर्ण होने के कारण भगवदीय कहे जाते हैं परन्तु आचार्यचरण तो खुद भक्तिरूप ही होने के अर्थ में भगवदीय हैं- यह अंतर है। जैसे प्रभु का संपूर्ण श्रीअंग रसात्मक है, वैसे ही आचार्यचरणों का स्वरूप संपूर्णतया भक्तिरूप ही है। अतएव, जैसे रसलीला में प्रकट हुए प्रभु के ऐश्वर्यादि गुण और ब्रह्मता ये दोनों प्रभु के ही हैं; वैसे ही भगवदाज्ञा से अवतरित होकर लोगों को शिक्षा देने के लिये आचार्यचरणों ने खुद भी भजन किया और भक्तिधर्म को प्रकट भी किया अतः स्वयं भगवान होने पर भी उनमें भगवत्त्व भी है और भगवदीयता भी, इसलिये इसमें कुछ भी अप्रामाणिक नहीं है। आपश्री की पूर्णता भी इस अर्थ में पूर्णता है कि आपश्री का स्वरूप भगवत्स्वरूप से पूर्ण है। चित्त का भगवत्स्वरूप में प्रवण करने वाली सेवा में निरोध होने पर (सुबोधिनी १०-२६-१ ; का० ६ और ७) में बताये गये भगवान के पंचात्मकस्वरूप से ही आपश्री पूर्ण हैं। इसी कारण सर्वोत्तमस्तोत्र में आचार्यचरणों का एक नाम "रासस्त्रीभावपूरितविग्रह(१६)=श्रीभागवत की सारभूत रासस्त्री-गोपिकाओं के भाव से पूर्ण स्वरूप वाले" भी है।

इतरत्र तु गुणैरेव तथात्वमिति विभेदः । पूर्णभगवदीयत्वं तु सामान्यतः सममिति तमादाय तथोक्तिरुचितैव । अन्यथैकादशे प्रभुणा स्वामिनीभावनिरूपणे 'यथा समाधौ मुनयोब्धितोय' इति स्वामिनीषु मुनिदृष्टान्तकथनं न सङ्गच्छेत । स्वामिनीभावयोगयोः सुमेरुसर्षपवत्तारतम्यात् । अत एवात्र स्वस्य श्रीभागवतप्रकटकत्वेन तत्समतया व्याससमीप एव निरूपणम् । नैतावताचार्येष्वंशतोपि तत्स्वरूपसाम्यमायाति । कलावतारपुरुषोत्तमयोः साम्यसम्भावनाया अप्यसम्भवात् । अन्यथा भगवति पुरुषोत्तमे पुरुषरूपत्वसंभावनाऽसंभवेन 'पुरुषः शक्तिभिर्यथे'त्यादिना पुरुषदृष्टान्तकथनं बाध्येत । अतो धर्मेणैव केनचित् सर्वत्र समतोक्तिरिति नात्र दोषलेशोपि । अत एव, आनन्दरूपतया सहजनीले भगवति नीलनीरदृष्टान्तोपि युज्यते ।

आपश्री के अतिरिक्त अन्य भगवदीयों की पूर्णता तो उनके गुण भगवद्गुणों के समान होने के कारण कही जाती है, किन्तु आचार्यचरणों की पूर्णता तो स्वयं आपश्री के भगवत्स्वरूप ही होने के अर्थ में है। पूर्णभगवदीयता वाली बात तो सामान्यरूप से उन छहों भगवदीयों में एक जैसी ही है अतः उस सीमित अर्थ को लेकर आचार्यचरणों ने यदि अपना नाम उनके अंतर्गत दे दिया हो, तो वह उचित ही है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो एकादशस्कंध में आचार्यचरणों द्वारा स्वामिनीभाव का निरूपण करते समय "जैसे ऋषि-मुनि समाधि में स्थित होकर अपना नाम-रूप खो देते हैं, वैसे ही गोपियाँ तन्मय होकर मुझमें खो गयीं(श्री०भा० ११-१२-१२)" इस श्लोक में स्वामिनियों की भक्ति बताने के लिये उनके लिये मुनियों का दृष्टान्त देना कैसे संगत बन पायेगा ? क्योंकि स्वामिनियों के भाव में और मुनियों के भाव में तो सुमेरुपर्वत और सरसों जितना बड़ा अंतर है !!! इसलिये समझिए कि इस श्लोक में उन्होंने केवल श्रीभागवत प्रकट करने के अर्थ में ही अपनी समानता व्यासजी से की है और ठीक उनके निकट अपना नाम(व्यासाग्नि= व्यास-अग्नि) रखा है ; परन्तु केवल इतने मात्र से आचार्यचरणों की अंशमात्र भी समानता व्यासजी से नहीं हो सकती। कलावतार और पुरुषोत्तम की समानता करने की तो संभावना करनी भी असंभव है। अन्यथा तो रास के प्रकरण में "गोपियों की भगवान के बीच में शोभा और भी बढ़ गयी, जैसे परमेश्वर अपनी शक्तियों के सङ्ग और भी सुशोभित होता है(श्री०भा० १०-३२-१०)" इस श्लोक में भगवान-पुरुषोत्तम को भी तो एक सामान्य पुरुष के ही दृष्टांत द्वारा समझाया गया है, तो बताईये भगवान-पुरुषोत्तम में सामान्य पुरुष की संभावना करनी कैसे संभव है ? और इस पंक्ति में भगवान को पुरुष का दृष्टान्त देना भी विरोधास्पद हो जायेगा !!! इसलिये यहाँ भी सामान्य पुरुष के कुछ सीमित धर्मों को ही लेकर भगवान की समता एक सामान्य पुरुष से की गयी है अतः इसमें लेशमात्र भी दोष नहीं है। इसी कारण ये भी समझिए कि, भगवान आनन्दरूप हैं अतः भगवान का वर्ण तो सहजरूप से ही नीला है। ऐसा कहा जाता है कि, जहाँ आनन्दरस अधिक होता है, उसका रंग नीला/श्याम हो जाता है। भगवान तो स्वयं सर्वांश में परमानन्दस्वरूप हैं अतः भगवान का वर्ण नीला/श्याम कहा गया है। तथापि उन्हें श्रीभागवत में नीले जल के दृष्टान्त द्वारा बताया गया है !!!

किञ्च, 'अङ्गीकृतौ समर्याद' इति सर्वोत्तमे नामनिरूपणेन प्रादुर्भावदशायां मर्यादापरिग्रहात् तत्पूर्णत्वमपि स्वस्मिन् बोधयितुं तत्पंक्ति[1]पाठो निरूपितः । नैतावता न्यूनत्वमायाति । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानि'रिति न्यायात् । अपरञ्च, यथा शुकेन सर्वावतारगणनायां श्रीकृष्णमपि निरूप्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वय'मिति तत्र विशेष उक्तः, अवतारकार्यकरणात् पुष्टिकार्यकारणाच्च । तथाचार्येष्वपि यज्ञादिमर्यादाकार्यकरणात् सेवादिपुष्टिकार्यकारणाच्चोभयविधकार्यकर्तृत्वमस्तीति बोधयितुं प्रथमतस्तन्मध्ये निरूपणं विधाय पश्चादाचार्याणां 'गुणातीततये'त्यादिना निरूपणं कृतमित्यस्मत्पितृपदविवृतावन्यथामतयोऽविज्ञातस्वपतय एवेति विद्वद्भिराचार्यचरणाश्रयैरवधेयमिति दिक् ।

और भी, आचार्यचरणों के सर्वोत्तमस्तोत्र में कहे "आचार्यचरण मर्यादापूर्वक जीवों को स्वीकार करने वाले हैं(सर्वो०-१०)" इस नामनिरूपण में आपश्री के लिये यह कहा गया है कि भूतल पर प्रादुर्भूत होने के काल में, भूतल पर बिराजने के काल में आपश्री ने मर्यादामार्ग भी स्वीकार किया है अतः आपश्री मर्यादामार्ग में भी पूर्ण हैं। इससे कोई आपश्री के स्वरूप में न्यूनता नहीं आती क्योंकि कहा ही गया है कि, "जितना अधिक हो, उतना ही अच्छा" इसलिये आपश्री पुष्टि में तो पूर्ण हैं ही, साथ ही साथ मर्यादा में भी पूर्ण हैं। और, यों भी समझ लीजिए कि, जैसे शुकदेवजी ने समस्त अवतारों की गणना करते समय अवतार के कार्य करने के कारण स्वयं श्रीकृष्ण को भी गिन लिया और पुष्टिकार्य करने के कारण बाद में "ये सभी तो भगवान के अंशावतार अथवा कलावतार हैं। श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान हैं(श्री०भा० १-३-२८)" इस वाक्य द्वारा श्रीकृष्ण को उनकी तुलना में विशेष भी बता दिया; ठीक उसी प्रकार आचार्यचरणों में भी यज्ञ-आदि मर्यादामार्गीय कार्य करने के कारण एवं भगवत्सेवा-आदि पुष्टिकार्य करने के कारण दोनों बातें आती हैं- यह बताने के लिये पितृचरणों ने पहले तो आचार्यचरणों को उन छह पूर्णभगवदीयों के अंतर्गत गिना दिया और बाद में "गुणातीततया" इत्यादि शब्दों से आपश्री की पुष्टिमार्गीयता भी बता दी ; अतः मेरे पितृचरणों द्वारा की गयी विवृति में अन्यथामति रखने वालों ने अभी अपने पति(आचार्यचरण)के स्वरूप को जाना ही नहीं ; इसलिये आचार्यचरणों का आश्रय करने वाले विद्वानों को यह तथ्य जान लेना चाहिए।

अभिज्ञविवृतावज्ञाः पूर्वपक्षं प्रकुर्वते । अशक्ता अपि सुज्ञास्तु विश्वसन्ति तदीरिते ॥१॥
शक्तास्तदाश्रयबलादभिप्रायं विदन्ति हि । समादधति ते सर्वमतिमूढजनोदितम् ॥२॥
गुरवः पितृपादा मे कथितेन सुते मयि । दासीभूते प्रसीदन्तु यच्छन्तु विमलां मतिम् ॥३॥
इति श्रीहरिदासविरचितं 'पूर्णा भगवदीया' इत्यस्य संशयनिराकरणम् ॥

विद्वानों की विवृति में कुछ मूर्ख पूर्वपक्ष कर देते हैं। और सुज्ञजन अशक्त होने के कारण उनकी बात पर विश्वास भी कर लेते हैं॥ १॥
किन्तु शक्त-सुज्ञजन आचार्यचरणों के आश्रयबल से उनके अभिप्राय को जान लेते हैं। और उन समस्त अतिमूढजनों की शङ्का का समाधान करते हैं॥ २॥
गुरुजन एवं पितृचरण मुझ दास पर प्रसन्न हों और मुझे निर्मल मति प्रदान करें॥ ३॥
यह श्रीहरिदासविरचित "पूर्णा भगवदीयाः" श्लोक का संशयनिराकरण समाप्त हुआ।

---

१. पंक्तिर्गणना तेषां गणनायां पाठो निरूपितः । व्यूहकार्यम् ।

जलभेदः ।

परिशिष्टम् द्वितीयम् ।

अथेदं विचार्यते । श्रीवल्लभैः 'पूर्णा भगवदीया ये शेषव्यासाग्निमारुताः । जडनारदमैत्राद्यास्ते समुद्राः प्रकीर्तिताः' इति जलभेदभावग्रन्थे चतुर्दिशं सामान्यतः

चत्वारः समुद्रा इव शेषाद्या उक्ता भगवदीयाः (त्रुटिपत्रम् ।) अत्र समुद्रशब्दो यौगिकोऽपि ग्राह्यः । तथा च मुद्रया सहिताः समुद्राः । मुद्राऽत्र वैदिकतान्त्रिकमिश्रमखवैष्णवधर्मप्रवर्तनसम्प्रदायरूपा तप्तशीतलचक्रादिचिह्नधारणरूपापि ग्राह्या । तेऽत्र चत्वारो वैष्णवधर्ममार्गसम्प्रदायिन आचार्याः परिगृहीताः । तत्र शेषः श्रीमन्नारायणोपासनमुख्यकवैदिकधर्मपरायणतप्तमुद्राङ्कितसात्विकाचार्यरामानुजरूपः सम्भूत उक्तः । व्यासः श्रीगोपीजनवल्लभोपासनमुख्यकतान्त्रिकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितराजसोपचाराचार्यविष्णुस्वामिस्वरूप उक्तः । अग्निः पुन उत्सन्न एव तत्सम्प्रदाये विलक्षणप्रकारतः सर्ववेदेतिहासपुराणादिसारोद्धारसम्मिश्रितश्रीगोपीजनवल्लभसेवनमुख्यकधर्मपरायणशीतलमुद्राङ्कितनिर्गुणभक्तिमार्गाचार्यश्रीवल्लभरूपः तत्स्थान उक्तः । मारुतो वायुजो हनूमान् महाविष्णुपूजनोपचारमुख्यकवैदिकतान्त्रिकधर्मपरायणतप्तशीतलोभयविधमुद्राङ्कितराजसतामसोपचाराचार्यमध्वाख्यरूपः संभूत उक्त इति चत्वारो मुख्यसम्प्रदायिन आचार्या उक्ताः ।

अब यह विचार करते हैं कि, श्रीवल्लभ ने "पूर्णा ..... प्रकीर्तिताः" श्लोक द्वारा इस जलभेद नामक भावग्रन्थ में चार दिशाओं में आने वाले सामान्यतया चार समुद्रों की भाँति शेष-व्यास-अग्नि-मारुत ये चार भगवदीय कहे (यहाँ ग्रन्थ त्रुटित प्राप्त होता है)। इस श्लोक में कहे "समुद्र" शब्द का यौगिक अर्थ भी लेना चाहिए ; और यौगिक अर्थ होगा- जो मुद्रा सहित है, उसे समुद्र कहते हैं। अब मुद्रा किसे कहते हैं, यह समझें। मुद्रा का अर्थ है- वैदिकतान्त्रिकमिश्रमखरूप वैष्णवधर्म का प्रवर्तन करने वाले सम्प्रदायरूप तप्त या शीतल चक्र आदि चिन्ह धारण की जाने वाली मुद्राएँ। इन चार समुद्रों को **(शेष-व्यास-अग्नि-मारुत)** वैष्णवधर्ममार्ग/सम्प्रदाय के आचार्य समझ लेने चाहिए। इनमें से शेषजी मुख्यतया श्रीमन्नारायण की उपासना करने वाले, वैदिकधर्मपरायण, तप्तमुद्रा को धारण करने वाले सात्विक आचार्य श्रीरामानुजरूप के रूप में प्रकट हुए। व्यासजी श्रीगोपीजनवल्लभ की उपासना करने वाले, मुख्यतया तान्त्रिकधर्म परायण, शीतलमुद्रा धारण करने वाले राजसी सेवा प्रकट करने वाले आचार्य विष्णुस्वामिस्वरूप में प्रकट हुए कहे गये हैं। और जब विष्णुस्वामिसम्प्रदाय उच्छिन्न हो गया, तब अग्नि प्रकट हुई जो विलक्षणप्रकार से समस्त वेद-इतिहास-पुराण आदि का सार ग्रहण करके मुख्यरूप से श्रीगोपीजनवल्लभ की सेवाधर्म में परायण, शीतलमुद्रा धारण करने वाले निर्गुणभक्तिमार्गाचार्य श्रीवल्लभरूप के रूप में विष्णुस्वामि के स्थान पर कहे गये। मारुत अर्थात् पवनपुत्र हनुमान मुख्यतया महाविष्णु के पूजन को बताने वाले, वैदिकतान्त्रिकधर्म परायण, तप्त-शीतल दोनों मुद्राओं को धारण करने वाले राजस-तामस दोनों प्रकार की उपासना बताने वाले मध्वाचार्यजी के रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार से चार मुख्य सम्प्रदाय के आचार्य इस श्लोक में कह दिये गये हैं।

अथ तेषां क्रमेणाग्रिमानुपसम्प्रदायिनो निरूपयन्ति जडनारदमैत्राद्या इति । जडनारदमैत्राणामाद्या मूलभूता इति । जडो रामानन्दस्वरूपः सन् सर्ववर्णसंकलितो वैष्णवधर्मप्रवर्तकत्वात् शेषरामानुजस्य उपसम्प्रदायीभूतः । नारदस्तु कृष्णचैतन्यमुनिस्वरूपः । तथैव व्यासविष्णुस्वामिवल्लभा(चार्यो)पसम्प्रदायकप्रवर्तकः सनातनमैत्रो मैत्रेयः श्रीरूपाख्यः सम्भूतः । उत्सन्ननिम्बार्कमार्गस्योपसम्प्रदायप्रकाशकश्रीभट्टहरिव्यासमतस्थ इति केचित् । वस्तुतस्तु श्रीरूपः सहजीव एव स्वयं मूलभूताचार्यवायुरूपमध्वाख्यस्योपसम्प्रदायी जात उक्तः ।

अब इन चारों के बाद जो उपसम्प्रदाय प्रचलित हुए, उन्हें आचार्यचरण जडनारदमैत्राद्याः इत्यादि शब्दों से बता रहे हैं। जडनारदमैत्राद्याः का अर्थ है- जड़, नारद, मैत्रेय आदि जिनके मूलभूत तत्त्व हैं, वे सम्प्रदाय। तात्पर्य यह कि जडभरजी रामानन्दजी के रूप में प्रकट हुए, जिनके सम्प्रदाय में समस्त वर्णों को स्वीकार किया जाता है और जो वैष्णवधर्म के प्रवर्तक होने के कारण शेषरूपी रामानुजाचार्यजी

---

१. तामस ?

के सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायरूप में विद्यमान हैं। नारदजी कृष्णचैतन्यमुनि के स्वरूप में प्रकट हुए। उसी प्रकार व्यासजी-विष्णुस्वामि-वल्लभाचार्यजी के उपसम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में नित्य मैत्री का भाव रखने वाले(सनातनमैत्र) मैत्रेय "श्रीरूप" के नाम से प्रकट हुए। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि, मैत्रेय तो जब निम्बार्कसम्प्रदाय के उच्छिन्न हो गया, तब उसके उपसम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाले श्रीभट्ट एवं हरिव्यासजी के रूप में प्रकट हुए। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि, श्रीरूप ही जीव गोस्वामी के संग स्वयं वायुरूप मध्व नाम के मूलभूत आचार्य के उपसम्प्रदायी के रूप में प्रकट हुए।

एतदुपष्टम्भकं श्रीमदाचार्याणामेव स्वेषां वचनं, यथा श्रीभागवते तृतीयस्कन्धे 'प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विध'मित्यत्र ((('भेदः पारमार्थिक' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्तः । ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजीयाश्चेह तमोरजःसत्त्वैः भिन्नाः (भक्ताः), अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः । एवं चतुर्विधोपि भगवता प्रतिपादितः, 'अभिसन्धाय योऽहिंसां' इत्यादिभिरिति ।)))

इसका प्रमाण स्वयं आचार्यचरणों के ही वचन हैं, जहाँ श्रीभागवत के तृतीयस्कंध में "माताजी ! मैं आपको सात्त्विक-राजस-तामस और निर्गुणभेद से चार प्रकार का भक्तियोग बता चुका हूँ(श्री०भा० ३-३२-३७)" इस श्लोक की व्याख्या करते हुए आपश्री ने [[ये चारों प्रकार का भक्तियोग के भेदों को अधुना काल में देखें, तो विष्णुस्वामिसम्प्रदाय के अनुयायियों की तमोगुणप्रधान भक्ति है, तत्ववादियों(मध्वसम्प्रदायी) की रजोगुणप्रधान भक्ति है और रामानुजियों की सत्त्वगुणप्रधान भक्ति है। हमारे द्वारा(आचार्यचरणों द्वारा) प्रतिपादित भक्ति निर्गुणाभक्ति है। इस प्रकार से ये सात्विक आदि चारों भक्तियोग के प्रकार भगवान ने ही प्रतिपादित किये हैं, यह समझ लें, जैसा कि "जो क्रोधी पुरुष हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर मुझे प्रेम करता है, वह मेरा तामसभक्त है। जो पुरुष विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से मेरा पूजन करता है, वह मेरा राजसभक्त है। जो पुरुष पापों का क्षय करने के लिये, परमात्मा को अर्पण करने के लिये, और पूजन करना मेरा कर्तव्य है- इस बुद्धि से मेरा पूजन करता है, वह मेरा सात्त्विकभक्त है। और मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति अविच्छिन्नरूप से मेरे प्रति हो जानी तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्यप्रेम होना- यह निर्गुणभक्तियोग का लक्षण है(श्री०भा० ३-२९-८/९/१०/११/१२)" इस वाक्य में कहा गया है।]]- यों कहा है।

पद्मपुराणे तु 'श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः । चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदायप्रवर्तकाः । श्रीविष्णुस्वामिनिम्बार्कमध्वरामानुजाख्यया । भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमा'दित्युक्तम् । तत्र श्रीसम्प्रदायिकाः शेषरामानुजीयाः, ब्रह्मसम्प्रदायिनो माध्वाः, रुद्रसम्प्रदायिनो व्यासविष्णुस्वामिसम्प्रदायानुवर्तिनः, सनकसम्प्रदायिनो निम्बार्कश्रीभट्टहरिव्यासीयाः साम्प्रतम् । एतदभिप्रेत्यैवमेव सम्प्रदायप्रदीपे ग्रन्थे गदाधरद्विवेदिनावेदितम् । भारतीये वैशम्पायनोक्तसहस्रनामस्तवेपि 'अहःसंवर्तको वह्निरनिलो धरणीधर' इत्यत्र पृथक् पृथगेतदाचार्यचतुष्टयस्वरूपनामैवोक्तम् । तदेतत्सहस्रनामटीकायां श्रीविष्णुवल्लभाख्यायां द्रष्टव्यम् ।

वियदर्थवसुग्लौभिर्मितेऽब्दे मोदनामनि ।
चैत्रे सिते गुरौ द्वैते श्रीशः काश्यामदोऽलिखत् ॥१॥

पद्मपुराण में भी "पृथ्वी को पवित्र करने वाले श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनक इन चार वैष्णवसम्प्रदाय का प्रवर्तन करने वाले श्रीविष्णुस्वामि-निम्बार्क-मध्व-रामानुज ये चार आचार्य कलियुग में दक्षिणप्रान्त में प्रसिद्ध होंगे" यों कहा गया है। इनमें से श्रीसम्प्रदाय का अनुकरण करने वाले शेषरूपी रामानुजाचार्यजी के मतानुयायी हैं। ब्रह्मसम्प्रदाय का अनुकरण मध्वाचार्यजी के अनुयायियों ने किया। रुद्रसम्प्रदाय का अनुकरण व्यासविष्णुस्वामि के अनुयायियों ने किया। सनकसम्प्रदाय का अनुकरण निम्बार्काचार्यजी के प्रतिनिधि वर्तमान में श्रीभट्ट और हरिव्यासजी के अनुयायियों ने किया। यही अभिप्राय सम्प्रदायप्रदीपग्रन्थ में गदाधरद्विवेदी ने भी कहा है। महाभारतग्रन्थ के अंतर्गत वैशम्पायन द्वारा कहे विष्णुसहस्रनामावली में भी "अहः संवर्तको(विष्णुसहस्रनाम-२५)" इस श्लोक द्वारा अलग-अलग इन चार आचार्यों का स्वरूप और नाम कहा है। यह सभी कुछ इस नामावली की "विष्णुवल्लभा" नामक टीका में देख लेना चाहिए।

वि०सं० १८५० में मोद नामक सम्वत्सर में,
चैत्र मास के शुक्लपक्ष में गुरुवार की द्वितीया को काशी में श्रीश ने यह टीका लिखी ॥ १ ॥

पञ्चपद्यानि ।

श्लोकार्थ

(श्रीहरिरायजी अनुसार)

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥१॥

श्रीकृष्णरस से जिनका मन विकल हो गया है, जो कृष्ण में अरति से वर्जित हैं(अर्थात् कृष्ण से रति/प्रेम करने वाले हैं)
लोकवेद में जिनको आनन्द नहीं आता(अर्थात् केवल प्रभु में आनन्द आता है), ऐसे भगवद्गुणगान का श्रवण करने के लिये उत्सुक
पुष्टिमार्गीयश्रोता मुख्य कोटि में आते हैं॥ १॥

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥२॥

जिनका मन द्रवित हो चुका है, जो भगवान की स्मृति से विह्वल हो चुके हैं
और मोक्ष आदि पुरुषार्थ प्राप्त करने की भी निष्ठा रखते हैं, ऐसे श्रवण के लिये उत्सुक भक्त "मध्यम" कहे जाते हैं॥ २॥

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥३॥

कृष्णतत्त्व को निःसन्दिग्धतया जिन्होंने सर्वभावपूर्वक जान लिया हैं।
वे या तो भगवदावेश के कारण अथवा निरोध के कारण विकल होते हैं, अन्य दूसरे प्रकार से नहीं, वे उत्तमश्रोता होते हैं॥ ३॥

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥४॥

जो पूर्णभाव से पूर्ण किसी विशेष समय में ही बनते हैं, सदा-सर्वदा पूर्णभावयुक्त नहीं बने रहते,वे भी उत्तम ही हैं,
किन्तु कुछ ऐसे जो अन्य में आसक्त हैं, वे "अधम" कहे जाते हैं॥ ४॥

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥५॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितानि पञ्चपद्यानि ।

देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मन्त्र-कर्म इत्यादि प्रकार से जो जीव श्रवणादि में
अनन्यमन वाले हैं, वे मर्यादामार्ग में "उत्तम" कहे जाते हैं॥ ५॥
यह श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचित **पञ्चपद्यानि** ग्रन्थ समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः

पञ्चपद्यानि ।

श्रीहरिरायकृतविवरणसमेतानि ।

एवं जलभेदे पूर्वश्लोकैर्विंशतिधा भिन्ना भक्तास्तद्भावाश्च निरूपिता जलदृष्टान्तेन, तेषामन्यहृदयसार्द्रीकर्तृत्वज्ञापनाय । तेषां च पुनर्भक्तानामष्टादशविद्याप्रतिपादितभगवद्गुणानामष्टादशविधत्वेन तन्मात्रपरतया केवलमर्यादामार्गीयाणामष्टादशविधत्वात्, पुष्टिमार्गीयाणां मिश्रशुद्धभेदेन द्विविधत्वात्सगुणनिर्गुणभेदेन दशविधानां मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधत्वाद्वा विंशतिविधत्वम् । तद्भावानामपि तद्वर्तित्वेन तथा संख्यावत्त्वम् । अतः परं तद्वाक्यद्वारा तद्भावग्राहकान् श्रोतॄन् पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधान्, पुष्टिमार्गीया एकविधा उत्तमा एव, मर्यादामार्गीयास्तु मध्यमाधमोत्तमभेदैस्त्रिविधा इति चतुर्विधांश्च निरूपयितुं प्रथमं मुख्यत्वेन पुष्टिमार्गीयान्निरूपयन्ति ।

इस प्रकार जलभेद में पूर्वश्लोकों के द्वारा बीस प्रकार के भिन्न-भिन्न भक्त और उनके भावों का निरूपण आचार्यचरणों ने जल के दृष्टान्त द्वारा बताया और जल का दृष्टान्त इसलिये दिया क्योंकि आपश्री को ये बताना था कि जैसे जल वस्तु को आर्द्र कर देता है, ठीक वैसे ही वक्ता भी श्रोता के हृदय को आर्द्र बनाता है। यदि बीस प्रकार के भक्तों का विश्लेषण करना चाहें, तो यों कर सकते हैं कि, अठारह विद्याओं द्वारा प्रतिपादित भगवद्गुण भी अठारह हैं और भगवत्स्वरूप की आकांक्षा न रखते हुए केवल भगवद्गुणों में ही तत्पर रहते होने के कारण ये मर्यादामार्गीय होते हैं, जो अठारह प्रकार के हुए। और, पुष्टिमार्गीय मिश्र-शुद्ध यों दो प्रकार के होते हैं अतः कुल बीस प्रकार के भाव हुए। अथवा, यों अर्थ कर लें कि, सगुण और निर्गुण के भेद के अनुसार मर्यादा और पुष्टि दोनों के दस-दस भेद होकर कुलमिला कर बीस प्रकार हुए। इसलिए इनके भावों के भी बीस भेद हुए। अब इसके पश्चात् इन बीस प्रकार के भक्तों के वाक्यों द्वारा इनका भाव ग्रहण करने वाले श्रोता जो कि पुष्टि-मर्यादा यों दो प्रकार के हैं, उनका निरूपण आचार्यचरण इस ग्रन्थ में कर रहे हैं। इनमें से पुष्टिमार्गीयश्रोता तो एक ही प्रकार का यानि कि उत्तम ही होता है, किन्तु मर्यादामार्गीयश्रोता तो मध्यम-अधम-उत्तम यों तीन प्रकार के होते हैं ; अतः इन चार प्रकार के श्रोताओं का निरूपण करने के लिये सबसे पहले मुख्य होने के नाते आचार्यचरण प्रथमश्लोक में पुष्टिमार्गीयश्रोताओं का निरूपण कर रहे हैं।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसारतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे मुख्यास्ते श्रवणोत्सुकाः ॥१॥

श्रीकृष्णः श्रिया परमशोभया लक्ष्म्या वा युतः कृष्णः सदानन्दो निर्दोषनित्यगुणपूर्णो रसिकशिरोमणिस्तस्य यो रसो भजनानन्दरूपः, अथवा स एव रसः स्थायिभावात्मा विरहरूपः, तेन परोक्षे हृदयागतेन विक्षिप्तं स्थानात् प्रचलितं यन्मानसमन्तःकरणं तत्र याऽरतिश्चरितश्रवणविषयिणी तया वर्जिता इत्यर्थः ।

श्लोक का अर्थ समझें। श्रीकृष्ण का अर्थ है- श्री/परमशोभा/लक्ष्मी सहित कृष्ण। ऐसे सदानन्द श्रीकृष्ण, निर्दोष-नित्यगुणपूर्ण-रसिकशिरोमणि का जो भजनानन्दरूपी रस है, उस रस से जिनका मन डाँवाडोल हो गया है, ऐसे सर्वोत्तम पुष्टिमार्गीयश्रोता इस प्रथमश्लोक में कहे जा रहे हैं। अथवा, भगवान स्वयं ही स्थायीभावात्मा विरहरसस्वरूप हैं ; ऐसे भगवान से विरह की दशा में जब भगवान भक्त के हृदय में पधारते हैं, तब जिनका मन/अन्तःकरण विक्षिप्त हो गया है अर्थात् अपने स्थान से डाँवाडोल हो गया है, ऐसे सर्वोत्तम पुष्टिमार्गीयश्रोता इस प्रथमश्लोक में कहे जा रहे हैं। ऐसे स्वरूप वाले श्रीकृष्ण की लीला/चरित्र का श्रवण करने में अरति से वर्जित/रहित श्रोता मुख्य हैं।

अयमर्थः । भगवच्चरिताकर्णनविषयिणी अरतिर्द्वेधा निवर्तते, मर्यादापुष्टिमार्गभेदेन । तत्र मर्यादामार्गे 'शुश्रूषोः श्रद्दधानस्ये'ति वाक्यान्महत्सेवापुण्यतीर्थनिषेवणादिभिः रुचिरुदेति, ततोऽरतिर्निवर्तते । पुष्टिमार्गे तु तद्रसस्वाभाव्यादेव 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थ' इति वाक्यान्निवर्तते । तथा च पूर्वोक्तेषु पुष्टिमार्गीयत्वावगतय एवमुक्तम् । एवं चरित्रश्रवणे तेषामरत्यभावं निरूप्य तन्मात्रविषयकरतिं निरूपयितुं लोकवेदानिर्वृतिमाहुः अनिर्वृता[२] लोकवेद इति । लोकयुक्ते वेदे प्रवृत्तिमार्गीयधर्मबोधके भगवदितरभजनविधायके ।

---

१. विप्रयोगेगुणगानं विना स्थातुमशक्यम् । २. अस्वास्थ्यम् ।

इसका अर्थ यह है कि, भगवच्चरित्रों का श्रवण करने विषयक अरति/अरुचि दो प्रकार से निवर्त/दूर होती है- मर्यादाप्रकार से और पुष्टिप्रकार से। मर्यादामार्ग में "पवित्र तीर्थों का सेवन करने से महापुरुषों की सेवा, तदनन्तर श्रवण की इच्छा, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात् भगवत्कथा में रुचि होती है(श्री०भा० १-२-१६)" इस वाक्यानुसार महापुरुषों की सेवा करने से, पुण्य करने से, तीर्थपर्यटन करने से भगवच्चरित्रों में रुचि उत्पन्न होती है और इससे भगवद्विषयक चरित्रों का श्रवण करने में होने वाली अरुचि दूर होती है। पुष्टिमार्ग में तो विरहरस का स्वभाव ही है कि, वह विरही को भगवद्गुणगान करवाता है अतः "रे मधुप ! जिसे एक बार श्रीकृष्ण का व्यसन हो जाता है, वह उसे छोड़ नहीं सकता(श्री०भा० १०-४७-१७)" इस वाक्यानुसार भगवद्गुणगान करने से अरति/अरुचि दूर होती है। मूलश्लोक में श्रोता के लिये जो श्रीकृष्णरस से विक्षिप्तता एवं लोकवेद में आनन्द न आना इत्यादि गुण बताये गये हैं, वे गुण उन्हें पुष्टिमार्गीय बताने के लिये ही बताये गये हैं। इस प्रकार से भगवच्चरित्रों का श्रवण करने में उनकी अरति/अरुचि दूर होने की बात का निरूपण करके अब आपश्री उनमें केवल भगवत्संबंधी रति होती है, यह बताने के लिये उनकी लोकवेद में अरुचि को अनिर्वृता लोकवेदे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। लोकवेद का तात्पर्य है- लोकयुक्त वेद ; अर्थात् संसार में प्रवृत्ति कराने वाले धर्म का बोध कराने वाली बातों में अर्थात् भगवान से अलग चित्त लगाने को प्रेरित करती बातों में उनकी रुचि नहीं होती, उसमें उन्हें आनन्द नहीं आता।

अथवा लोके वेदे चानिर्वृता निर्वृतिरहिता अस्वस्था इत्यर्थः । उभयोरपि लोकवेदयोः 'ये त्यक्तलोकधर्माश्चे'ति वाक्यात्त्याज्यत्वेन तुल्यताबोधनाय समस्तं पदम् । अत एव लोकानिर्वृतिबोधनाय 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किं'मित्यादिवाक्यान्युक्तानि । वेदानिर्वृतिबोधनाय 'मग्नमुद्धर गोविन्दे'त्युक्तम् । त्वमेव साक्षादतिदुःखसागरे निमग्नं व्रजमुद्धर, नतूद्धृतेन वेदेन वयमुद्धर्तव्या इत्याशयेन । एवं ये पुष्टिमार्गप्रकारेणारत्यभावरतिभावयुक्तास्ते मुख्याः पुष्टिमार्गीयत्वेन श्रेष्ठाः ।

अथवा तो यों अर्थ कर लें कि, इनकी लोक और वेद में अरुचि हो जाती है, अस्वस्था रहती है। पुष्टिमार्गीयों को तो "जो लोग मेरे लिये लौकिक-पारलौकिक धर्मों को छोड़ देते हैं, उनका भरण-पोषण मैं करता हूँ(श्री०भा० १०-४६-४)" इस वाक्यानुसार लोक और वेद दोनों ही त्याज्य हैं अतः आपश्री ने इनके लिये लोकवेद यों समस्त पद दिया है। अतएव पुष्टिमार्गीयों की लोक से अरुचि बताने के लिये ही "हे प्रभु ! तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो, परम प्रियतम हो। दुःख देने वाले पतिपुत्रादि से हमें क्या लेना-देना है ?(श्री०भा० १०-२९-३३)" इत्यादि वाक्य भी प्रयुक्त होते हैं। और पुष्टिमार्गीयों की वेद से अरुचि बताने के लिये "हे प्रभु ! तुम ही हमारे जीवन के स्वामी हो, सर्वस्व हो। लक्ष्मीनाथ हो तो क्या हुआ, हमारे लिये तो व्रजनाथ ही हो। हम व्रजगोपियों के लिये तो एकमात्र तुम ही सच्चे सखा हो। तुम्हारा यह व्रज और हम सब दुःख के अपार सागर में डूब रहे हैं, तुम इसे बचाओ, आओ हमारी रक्षा करो(श्री०भा० १०-४७-५२)" यह कहा गया है। इस श्लोक में व्रजभक्तों ने भगवान से यह कहा कि- हे प्रभु साक्षात् तुम ही दुःख के सागर में डूबे व्रज का उद्धार करो, वेद में कहे ज्ञान से हमारा उद्धार होने वाला नहीं है। इस प्रकार जो पुष्टिमार्गीयप्रकार से भगवच्चरित्रों का श्रवण करने में अरुचि नहीं अपितु रुचिभावयुक्त हैं, वे मुख्य श्रोता हैं, जो कि पुष्टिमार्गीय होने के कारण श्रेष्ठ हैं।

अथवा, मुखं पुष्टिमार्गीया भक्तिस्तत्रभवा भक्तिरूपभगवन्मुखारविन्दसंलग्नालकंकुलत्वेनोच्यमानाः सम्भूय भक्तिमात्राश्रयेण पुष्टिमार्गमुक्ता जीवा मुख्या इत्यर्थः । ननु पूर्वमनिर्वृता लोकवेद इत्यनेन भगवति रतिरुक्ता, न श्रवणादिष्विति तेषु गौण्येव सेति कथं मुख्यश्रोतृत्वमित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । भगवति रतावपि वियोगे श्रवण एवोत्सुकाः । औत्सुक्यं तत्रैव । प्रियप्रीत्यापि परोक्षे तत्सन्देशहारके प्रीतौ श्रवणौत्सुक्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एवोक्तं 'इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रय'मिति । तथा च रसिका रसविक्षिप्तमनसश्चरितसहजभावाः वियोगार्तियुताः प्रियवार्ताश्रवणमात्रैकमतयः पुष्टिमार्गीयाः श्रोतार इति सिद्धम् ॥१॥

अथवा तो पुष्टिमार्गीयश्रोताओं को "मुख्य" कहने का दूसरा अर्थ भी समझ लें। सबसे पहले तो ये समझें कि "मुख" से सम्बन्धित वस्तु को "मुख्य" कहते हैं। हमारे संप्रदाय में प्रभु के मुख को भक्तिरूप कहा गया है। जानना चाहिए कि मर्यादामार्गीयभक्ति प्रभु के चरणारविन्द की भक्ति होती है और पुष्टिमार्गीयभक्ति प्रभु के मुख की भक्ति होती है अर्थात् पुष्टिमार्गीय प्रभु के मुख की भक्ति करते हैं। टीकाकार का कहना यह है कि जो प्रभु के मुखारविन्द की भक्ति करते हैं वे पुष्टिमार्गीय होते हैं या "मुख्य कहे जाते हैं- इस अर्थ में आचार्यचरणों ने "मुख्य" शब्द से पुष्टिमार्गीयभक्त कहे हैं। तात्पर्य यह कि भगवन्मुखारविन्द से संलग्न भँवरों की तरह कहे जाने वाले और केवल प्रभुमुख की भक्ति का आश्रय लेने वाले पुष्टिमार्गीयजीवों को यहाँ "मुख्य" कहा जा रहा है। अब यहाँ एक शङ्का यह होती है कि, पुष्टिमार्गीयों के लिये पहले तो यह कहा गया कि इनकी लोकवेद में रुचि नहीं होती अतः भगवान में रुचि होती है, परन्तु इससे ये तो नहीं कहा जा सकता कि इनकी श्रवण आदि में रुचि होती है !!! इसलिये श्रवणादि विषयक रति तो उनमें गौण ही मानी जायेगी !

---

१. अलिकुलेति पाठः ।

और जब श्रवण में ही गौणता है तो इन्हें मुख्य श्रोता कैसे माना जा सकेगा ? इस शङ्का के समाधान में आचार्यचरण इन्हें **श्रवणोत्सुकाः** भी कह रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवान में तो इनकी रति होती ही है परन्तु जब इनका भगवान से वियोग होता है, तब भगवद्गुणानुवाद का श्रवण करने को ही ये उत्सुक रहते हैं। और देखिए, श्रवण की उत्सुकता भी तभी उत्पन्न होती है जब वियोग हो। क्योंकि भले ही अपने प्रेमी से कितनी भी रति क्यों न हो, परन्तु जब उसका वियोग होता है तब उसका सन्देश लाने वाले दूत के लिये मन में प्रीति तो होती ही है, जो उसकी उत्सुकता को स्पष्टतया व्यक्त करती है। अतएव "गोपियों ने उद्धवजी को देखकर कहा- यह पुरुष कौन है ? इसने श्रीकृष्ण जैसी वेशभूषा क्यों धारण कर रखी है ? सब की सब गोपियाँ अत्यन्त उत्सुकता से उद्धवजी को घेर कर खड़ी हो गयीं(श्री०भा० १०-४७-२)" इत्यादि वाक्य प्राप्त होते हैं। इसलिये उपर्युक्त विश्लेषणों से सिद्ध होता है कि- रसिक, भगवद्रस से विकल हुए मन वाले, भगवच्चरित्रों में बिना किसी कामना के सहज प्रीति रखने वाले, भगवान के लिये आर्ति रखने वाले, अपने प्रियतमभगवान की वार्ता का ही श्रवण करने में मग्न रहने वाले श्रोता ही पुष्टिमार्गीयश्रोता कहे जाते हैं॥ १॥

एवं पुष्टिमार्गीयान्भक्तान् निरूप्य मर्यादामार्गीयांस्तान्निरूपयितुं तत्रोत्तमा अतिदुर्लभा इति प्रथमं मध्यमान्निरूपयन्ति ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥२॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वादार्द्रं मनो येषामित्यर्थः । यथार्द्रं वस्तु स्वसम्बद्धमप्यार्द्रयति, तथा येषां मनः स्वसम्बन्धिनामपि रूक्षत्वेन शुष्काणां चेतः सार्द्रं विदधाति, शुकादीनामिव त इत्यर्थः । य इत्यनेन सर्वत्र प्रसिद्धाः मर्यादामार्गीया उक्ताः । तुशब्देन पूर्वोक्ताः पुष्टिमार्गीया व्यावर्तिताः ।

इस प्रकार से पुष्टिमार्गीयभक्तों का निरूपण करके आचार्यचरण मर्यादामार्गीयभक्तों का निरूपण कर रहे हैं। चूँकि मर्यादामार्गीय उत्तमश्रोता तो अति दुर्लभ होते हैं अतः आपश्री उत्तमश्रोताओं का निरूपण न करके पहले मध्यमकोटि में आनेवाले मर्यादामार्गीयश्रोताओं का निरूपण कर रहे हैं।

विक्लिन्नमनसा का अर्थ है- केवल भगवान में तत्पर रहने से कोमल हो जाने के कारण जिनका मन विशेषरूप से द्रवित हो गया है, ऐसे श्रोता। जिस प्रकार गीली वस्तु अपने से सम्बन्धित वस्तु को भी गीला कर देती है; ठीक वैसे ही जिनका मन अपने से सम्बन्धितों के भी रूखेपन से शुष्क हुए चित्त को भगवद्रस से गीला बना देता है, वे श्रोता मध्यम कहे जाते हैं, जैसे कि शुकदेवजी से सम्बन्धित अन्य सभी भगवद्रस से आर्द्र हो जाते थे। "यः" शब्द से ज्ञात होता है कि, ये सर्वत्र प्रसिद्ध मर्यादामार्गीयश्रोता हैं, जिनके विषय में आचार्यचरण कह रहे हैं क्योंकि पुष्टिमार्गीयश्रोता मिलने तो बड़े दुर्लभ होते हैं। तु शब्द से ज्ञात होता है कि, अब इस दूसरे श्लोक से पुष्टिमार्गीयश्रोताओं की बात नहीं की जा रही है।

ननु विक्लिन्नमनस्त्वं पुष्टिमार्गीयेष्वपि तद्रीत्या भवतीति तद्व्यावर्तकं धर्ममाहुः भगवत्स्मृतिविह्वला इति । श्रवणावसरे या चरित्रसम्बन्धितया भगवतः षड्गुणपूर्णस्य स्मृतिः स्मरणं तेन, न तु स्थायिभावात्मकेन रसेन विह्वलास्तल्लीलाविशिष्टप्रभुदर्शनाय व्याकुला इत्यर्थः । ननु पूर्वोक्तधर्मद्वयेनापातत उत्तमत्वमेव तेषु भासत इति व्यक्ततया मध्यमत्वबोधकं धर्ममाहुः अर्थैकनिष्ठा इति । ते पूर्वोक्तधर्मयुग्मेनोत्तमतया भासमाना अपि अर्थः पुरुषार्थो मोक्षादिः, अथवाऽर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थत्वादिः स एवैको मुख्यस्तन्निष्ठाः, न तु मुख्यतया चरित्रनिष्ठाः । फलसापेक्षत्वान्मध्यमा इत्यर्थः ।

किन्तु एक शङ्का यह होती है कि, जैसे यहाँ भगवान के वियोग में मन की विकलता होनी मर्यादामार्गीयों के लिये बतायी गयी, वैसे प्रकार से मन की विकलता तो पुष्टिमार्गीयों को भी होती है, फिर पुष्टिमार्गीय और मर्यादामार्गीय श्रोता में क्या अंतर रहा ? तो आगे आपश्री मर्यादामार्गीयों को पुष्टिमार्गीयों से अलग बताने के लिये मर्यादामार्गीयों का एक और लक्षण **भगवत्स्मृतिविह्वलाः** शब्द से कह रहे हैं। आपश्री मर्यादामार्गीयश्रोताओं का लक्षण बताते हुए आज्ञा करते हैं कि, भगवद्गुणानुवाद का श्रवण करते समय ही जब इन्हें भगवान के चरित्र/लीला सम्बन्धी षडैश्वर्यसंपन्न भगवान की स्मृति आती है तब वे तत्कालीन ही विह्वल होते हैं, स्थायिभावपूर्वक भगवद्रस से विह्वल बने नहीं रहते अर्थात् उन-उन लीलाओं में वर्णित भगवान का दर्शन करने के लिये स्थायीरूप से व्याकुल बने नहीं रहते- यह दोनों में अंतर है। अब एक शङ्का यह होती है कि, मध्यमकोटि में कहे जाने वाले ये मर्यादामार्गीयश्रोता भी पूर्व में कहे "विक्लिन्नमनसता" और "भगवत्स्मृतिविह्वलता" इन दोनों धर्मों के कारण आपाततः उत्तम ही भासित होते हैं अतः अब आचार्यचरण इन्हें पूर्णतया मध्यमकोटि में बताने के लिये इनका एक विशेष धर्म **अर्थैकनिष्ठा** शब्द से कह रहे हैं। भले ही उन दो धर्मों के कारण ये उत्तम भासित

होते हों परन्तु इनका मध्यमकोटि में होने का एक लक्षण यह भी है कि, ये "अर्थ" यानि मोक्ष आदि पुरुषार्थ प्राप्त करने के हेतु से अथवा तो अपने आप को कृतार्थ करने के हेतु से भगवद्गुणानुवाद का श्रवण करने में निष्ठ होते हैं, मुख्यतया भगवच्चरित्रों का श्रवण करने के हेतु से नहीं। इन्हें श्रवण से किसी न किसी फल की अपेक्षा रहती है अतः ये मध्यमकोटि के श्रोता माने गये हैं।

ननु तादृशाः श्रोतार एव न भवन्ति, तत्र तात्पर्याभावादित्याशङ्क्याहुः श्रवणोत्सुका इति । [1]तत्साध्यफल[2]तात्पर्यवत्त्वेपि श्रवणे भगवच्चरित्रश्रवणे उत्सुका औत्कण्ठ्यवन्त इति तेषां श्रोतृत्वेन मध्यमत्वमित्यर्थः । यथा परीक्षिदादीनाम् । तेषामितरापेक्षया पूर्णवैराग्यवत्त्वेनोत्तमत्वेपि सो[3]पाधिकप्रवृत्तेर्विदुरोद्धवाद्यपेक्षया मध्यमत्वमेव । अत एव 'प्रायोपविष्टो गङ्गाया'मिति वाक्यात्परीक्षितः स्वकृतार्थताहेतुत्वेन गङ्गाद्यपेक्षा । अन्यथान्यत्रैवोपविष्टः स्यात् । भगवच्चरित्रं तु भगवानिव न स्वफलसाधनेन्यदपेक्षत इति स्वार्थनिष्ठत्वमेव तत्र प्रयोजकमिति तत्र तथात्वम्[4] ।

अब शङ्का यह होती है कि, ऊपर कहे अनुसार यदि कोई श्रवण से किसी वस्तु की कोई अपेक्षा ही न रखे, तो आखिर वो बिना किसी प्रयोजन के श्रवण करेगा ही क्यों ? बिना किसी तात्पर्य के तो फिर कोई श्रोता बन ही नहीं सकता !! इस शङ्का का निराकरण आपश्री श्रवणोत्सुका शब्द से कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, भले ही ये श्रोता भगवद्गुणानुवाद सुनने से मोक्ष आदि प्राप्त करने का तात्पर्य रखें, परन्तु इनमें भगवच्चरित्रों को सुनने की तो उत्कण्ठा है अतः ये श्रोता तो अवश्य हैं किन्तु मध्यमकोटि के श्रोता हैं- यह माना जायेगा। जैसे कि परीक्षित्। राजा परीक्षित् ने मुक्ति प्राप्त करने के हेतु से भागवत सुनी थी परन्तु उसे श्रोता तो कहा ही जायेगा, उसमें भगवच्चरित्रों को सुनने की उत्कण्ठा तो थी ही। यद्यपि राजा परीक्षित् में दूसरों की अपेक्षा पूर्णवैराग्य था अतः इससे वह उत्तमश्रोता तो अवश्य था परन्तु उसने मुक्ति प्राप्त करने के स्वार्थ से भागवत सुनी थी अतः विदुरजी एवं उद्धवजी आदि की तुलना में तो वह मध्यमकोटि का ही श्रोता था। इसी कारण "राजा परीक्षित् साम्राज्य का परित्याग करके गङ्गातट पर मृत्युपर्यन्त अनशन का व्रत लेकर बैठे थे(श्री०भा० १-४-१०)" इस वाक्यानुसार परीक्षित् ने अपने आप को ही कृतार्थ करने के लिये गङ्गा की अपेक्षा रखी थी, शुद्धरूप से केवल भगवच्चरित्रों को सुनने की उत्कण्ठा से नहीं। यदि उसमें अपने आप को कृतार्थ करने का स्वार्थ न होता तो वह भागवत सुनने के लिये अन्य किसी भी स्थान का चुनाव कर सकता था क्योंकि भगवच्चरित्र तो भगवान की ही भाँति अपना फल सिद्ध कराने के लिये अन्य किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रखते, भगवद्गुणों में खुद इतनी सामर्थ्य होती है कि वे कहीं भी किसी भी स्थान पर फलसिद्ध करा सकते हैं। इसलिये परीक्षित् का भागवत सुनने के लिये गङ्गातट का चुनाव करना तो स्वार्थवश ही था अतः उसे विदुर आदि की तुलना में मध्यमकोटि का श्रोता माना जायेगा।

विदुरस्य तु 'यत्र मित्रासुतो मुनि'रिति वाक्याद्वक्तृसन्निहितस्थलत्वेनैव तत्र गमनं, न गङ्गोद्देशेनेति स्वार्थनिष्ठत्वाभावाच्चरित्रमात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमेवेत्यर्थः । मर्यादामार्गीयत्वं तु परीक्षिद्विदुरयोः समानं शुद्धिसापेक्षफलसिद्धेः । अत एव तीर्थाटनसत्सङ्गाभ्यामेव विदुरे श्रवणाधिकारः सिद्धः । परीक्षिति तु स्पष्ट एव । अत एवास्मदाचार्यैरुक्तं 'मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्पर' इत्यन्येषामपि तथाविधानां चित्तचाञ्चल्याभावसाधनत्वाभिप्रायेण ॥२॥

जबकि विदुरजी तो "मैत्रेयजी गङ्गा के किनारे रहते थे अतः विदुरजी उनसे मिलने वहाँ पहुँच गये(श्री०भा० ३-४-३६)" इस वाक्यानुसार जहाँ भगवद्गुणानुवाद करने वाले वक्ता उपस्थित थे, उसी स्थल पर भगवद्गुणानुवाद सुनने गये, गङ्गा को ध्यान में रखकर नहीं अतः उनमें स्वार्थनिष्ठा नहीं थी अपितु भगवच्चरित्रों को सुनने की ही निष्ठा थी इसलिये वे उत्तमकोटि के श्रोता हैं- यह अर्थ है। हाँ, ये बात अवश्य है कि मर्यादामार्गीयता तो परीक्षित् और विदुरजी दोनों में एक समान है क्योंकि दोनों को ही शुद्धि के साधनों के द्वारा फलसिद्धि हुई थी ; परीक्षित् को गङ्गातट पर और विदुरजी को तीर्थाटन करने से। इसलिये तीर्थाटन और सत्सङ्ग से ही विदुरजी श्रवण के अधिकारी बने। परीक्षित् के श्रवण का अधिकार तो खैर स्पष्ट ही है। अतएव हमारे आचार्यचरणों ने "मर्यादामार्गीय गङ्गा के तट पर श्रीभागवत में तत्पर होते हैं(सि०मु०-१८)" इस वाक्य द्वारा यह बताया है कि, अन्य मर्यादामार्गीय भी यदि मर्यादामार्गीय साधन इत्यादि में प्रवृत्त होते हैं, तो वे अपने चित्त की चंचलता को दूर करने के स्वार्थवश प्रवृत्त होते हैं, जिस कारण उनका अधिकार मध्यम हो जाता है॥ २॥

एवं मध्यमान्निरूप्याधमानामप्रयोजकत्वेन भिन्नतयाऽनिरूपणीयत्वादुत्तमनिरूपणमध्य एव केनचिद्धर्मेण तान्निरूपयितुमुत्तमानेव प्रथमं निरूपयन्ति ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥३॥

---

१. चरित्र। २. मोक्षादि। ३. मुक्त्यर्थम्। ४. तेषु मध्यमत्वम्।

कृष्णस्य सदानन्दस्य तत्त्वं वास्तवं रूपं रसात्मकं तादृशकरपादादियुक्तत्वेन साकारं व्यापकं स्वेच्छया मायापसारणेनाविर्भाववत् निःसन्दिग्धं शास्त्रस्वानुभवाभ्यां सन्देहरहितं तत्रापि सर्वभावेन 'यावान् यश्चास्मी'ति वाक्याद्रसात्मकः साकार एव सर्वरूप इति भावेन तात्पर्येण विदुर्जानीयुरित्यर्थः ।

इस प्रकार आपश्री ने मध्यमकोटि के श्रोताओं का निरूपण किया। अब अधमकोटि के श्रोताओं का निरूपण करने का तो कोई प्रयोजन नहीं है सो अधमों का अलग से निरूपण क्या करें ! अतः आपश्री उत्तमकोटि के श्रोताओं का निरूपण करने में ही अधमकोटि के भी कुछ धर्मों को कहे दे रहे हैं ; यों आपश्री उत्तमकोटि के श्रोताओं को ही अगले श्लोक में कह रहे हैं।

कृष्ण का अर्थ है- सदानन्द कृष्ण। कृष्णतत्त्वं का अर्थ है- कृष्ण का वास्तविक रसात्मकस्वरूप, जिस स्वरूप के हस्त-पाद आदि सभी कुछ रसात्मक ही हैं ऐसे साकार, व्यापक और अपनी इच्छा से माया का आवरण हटाकर आविर्भूत होने वाले कृष्ण। आपश्री आज्ञा करते हैं- ऐसे कृष्ण को जो निःसन्दिग्धरूप से जानते हैं अर्थात् शास्त्र और अपने अनुभव के द्वारा निःसन्दिग्धतया जानते हैं, वे उत्तमश्रोता होते हैं। और, सर्वभावेन का अर्थ है- "भगवान ने कहा- हे उद्धव ! मैं कौन हूँ ? कितना बड़ा हूँ ? कैसा हूँ ? इत्यादि बातों को जाने या न जाने, परन्तु जो अनन्यभाव से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे विचार से परमभक्त हैं(श्री०भा० ११-११-३३)" इत्यादि वाक्यों द्वारा जो कृष्ण को रसात्मक, साकाररूप से जानते हैं, वे उत्तमश्रोता होते हैं- यह अर्थ है।

नन्वेवं दृढज्ञाने श्रवणापेक्षाऽभावान्न श्रोतृत्वमुपपद्यत इत्याशङ्क्याहुः ते त्विति । ते पूर्वोक्ता दृढज्ञाना अपि ज्ञानेन हृदये भगवदावेशात् तु विकला ज्ञातृत्वेन स्वस्फूर्तिरहिता इति तदुपपद्यत इत्यर्थः । अत एवोक्तं 'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणि'रिति । तुशब्देन रसावेशवन्तो व्यावर्तिताः । तेषां रसावेशस्य सार्वदिकत्वेन कदापि स्वरूपज्ञानानुदयात् । ज्ञानस्य च रसोदयप्रतिबन्धकत्वात् । अत एव सर्वव्यापकस्य स्वान्तःस्थितस्यापि प्रभोरन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । (सर्वदा रसावेशवतामन्वेषणादौ प्रवृत्तिः । रसात्मकस्वरूपव्यापकस्वरूपज्ञानोदये सति अन्वेषणादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । गोपिकानां तु सर्वदा रसावेशवत्त्वम् अतः प्रवृत्तिः ।) तदेवोक्तं सिद्धज्ञानेन श्रीशुकेन 'पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्त'मिति प्रभुविशेषणकथनेन । अत एवोक्तं प्रभुणापि 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवे'दिति ।

किन्तु एक शंका यह होती है कि, यदि उन्हें कृष्णतत्त्व का इतना दृढ़तम ज्ञान है, तो फिर उन्हें श्रवण की आवश्यकता ही क्यों पड़ेगी ? वे श्रोता बनेंगे ही क्यों ? तो इसका समाधान आपश्री ते त्विति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, भले ही उनमें कृष्णस्वरूप का इतना दृढ़ज्ञान होता है, फिर भी स्वरूपज्ञान के कारण उनके हृदय में भगवदावेश आता है और वे विकल हो जाते हैं और उस विकलता के कारण उन्हें ये भान ही नहीं रहता कि वे भगवत्स्वरूप के बारे में जानते भी हैं; इसलिये उनकी श्रवण में भी प्रवृत्ति होती है- यह अर्थ है। इसी कारण श्रीभागवत में "भगवान के गुणों ने श्रीशुकदेवजी को अपनी ओर खींच लिया और उन्होंने इस विशाल ग्रन्थ का अध्ययन किया(श्री०भा० १-७-११)" यह कहा गया है। यहाँ प्रयुक्त हुए "तु" शब्द से पता चलता है कि, ये भगवद्रस के आवेश वाले नहीं हैं. क्योंकि भगवद्रसावेश से परिपूर्ण तो उत्तम पुष्टिमार्गीयश्रोता होते हैं क्योंकि पुष्टिमार्गीयों में तो भगवान के रस का आवेश सर्वदा बना रहता है, उनमें भगवद्रस का आवेश इतना प्रबल होता है कि, उन्हें अपने भीतर रहे हुए भगवत्स्वरूप का ज्ञान कभी होता ही नहीं। और ज्ञान तो भगवद्रस उत्पन्न होने में प्रतिबन्ध माना गया है। इसी कारण देखिए कि, सर्वव्यापक भगवान तो गोपिकाओं के हृदय में ही बिराजे हुए थे परन्तु गोपिकाएँ भगवद्रस के आवेश से इतनी व्याकुल हो गयीं थी कि उन्हें देहानुसन्धान नहीं था और भगवान को बाहर ढूँढती फिर रही थीं। सदा-सर्वदा भगवद्रस के आवेश से पूर्ण रहने वाले ही भगवान को बाहर ढूँढेंगे। यदि अपने अन्तःकरण में बिराजे हुए रसात्मकस्वरूप या भगवान के व्यापकस्वरूप का ज्ञान हो जाय, तब थोड़े ही कोई भगवान को बाहर ढूँढने जायेगा !! गोपिकाओं को तो सर्वदा भगवद्रस का आवेश रहता था, इसलिये वे विह्वल होकर भगवान को ढूँढने निकलीं। यही बात सिद्धज्ञानी श्रीशुकदेवजी ने भी प्रभु को सर्वव्यापी बताते हुए "भगवान श्रीकृष्ण कहीं गये थोड़े ही थे ! वे तो समस्त जड़-चेतन पदार्थों में तथा उनके बाहर भी आकाश के समान एकरस स्थित ही हैं। वे वहीं थे, परन्तु गोपिकाएँ उनका पता वनस्पतियों से पेड़-पौधों से पूछने लगीं(श्री०भा० १०-३०-४)" इस वाक्य द्वारा कही। इसी तथ्य को बताने के लिये श्रीशुकदेवजी ने भगवान को "आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त" यों विशेषण देकर यह कहा कि, जो भगवान आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त है, उस भगवान को भी गोपिकाएँ भगवद्रसावेश से विह्वल होकर बाहर ढूँढने निकलीं। इसी कारण प्रभु ने भी "जो योगी मेरी भक्ति से युक्त और

मेरे चिंतन में मग्न रहता है, उसे ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्ति से ही हो जाता है(श्री०भा० ११-२०-३१)" यों कहा है।

ननु भगवदावेशे भगवत इव सर्वज्ञत्वमुचितं, तत्कथमेतेषां वैकल्यं, यतो हेतोर्गुणश्रवणे प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः निरोधाद्वेति। तेषां गुणैरेव निरोधात् । प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकं भगवदासक्तिसम्पादनात् । गुणानामपि स्वातन्त्र्येण निरोधकत्वं श्रूयते 'मद्गुणश्रुतिमात्रेणे'त्यादौ । अतो निरोधेन वा वैकल्यमित्यर्थः । नचान्यथेति स्वरूपनिरोधान्न तथेत्यर्थः ॥३॥

किन्तु शङ्का यह होती है कि, यदि यहाँ कहे जाने वाले उत्तम-मर्यादामार्गीयश्रोताओं में भगवदावेश इतना ही प्रबल होता है, तो उन्हें भगवान की भाँति सर्वज्ञ ही बन जाना चाहिए ! उनमें इतनी विकलता क्यों होती है कि जिससे फिर उनकी भगवद्गुणगान का श्रवण करने में प्रवृत्ति होती है ? तो इसका समाधान आपश्री निरोधाद्वा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि, इन मर्यादामार्गीय उत्तमश्रोताओं का निरोध तो भगवद्गुणों के द्वारा ही हुआ होता है, साक्षात् भगवत्स्वरूप से निरोध होने के कारण नहीं अतः उनकी प्रवृत्ति भगवद्गुणानुवाद सुनने में होती है। इनमें प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति भगवद्गुणों के माध्यम से ही सम्पादित की गयी होती है। भगवद्गुण भी स्वतन्त्ररूप से जीव का निरोध कर सकते हैं, यह "मेरे गुणों के श्रवणमात्र से मन की गति अविच्छिन्नरूप से मेरे प्रति हो जानी तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्यप्रेम होना - यह निर्गुणभक्तियोग का लक्षण है(श्री०भा० ३-२९-११)" इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। इसलिये आपश्री आज्ञा करते हैं- भगवद्गुणों के कारण इनका निरोध हुआ होने से वे विकल हो जाते हैं, अन्यथा नहीं ; अर्थात् साक्षात् भगवत्स्वरूप से निरोध होने के कारण विकल नहीं होते- यह अर्थ है॥ ३॥

एवं श्रोतृत्वमुपपाद्य कदाचिन्मोक्षाद्यर्थनिष्ठतैतेषामपि भविष्यतीत्याशङ्क्यार्थैकनिष्ठत्वप्रयुक्तं मध्यमत्वं वारयन्त आहुः ।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥४॥

सर्वत्र पूर्णो यो भगवद्भावो ज्ञानेन भगवदावेशाद् निरोधाद्वा सर्वत्र भगवत्स्फुरणात्तेनैव पूर्णः अर्थः पुरुषार्थो येषामिति, न तेषामन्यः स्वार्थ इति, तन्निष्ठत्वेन मध्यमत्वं न, किन्तु भगवन्मात्रनिष्ठत्वेनोत्तमत्वमित्यर्थः ।

इस प्रकार से आचार्यचरणों ने श्रोता का प्रतिपादन किया। अब किसी पूर्वपक्षी को कदाचित् ये शङ्का हो सकती है कि, ऊपर कहे उत्तम-मर्यादामार्गीयश्रोताओं को भी कभी मोक्ष आदि पुरुषार्थ पाने की कामना जाग जाती होगी, और तब ये भी उत्तम न रहकर मध्यमकोटि में आ जाते होंगे ! इस शंका का समाधान करते हुए आपश्री अगले श्लोक में इन्हें मध्यमकोटि में समझने की संभावना को हटाए दे रहे हैं।

पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचित् , न तु सर्वदा।

श्लोक की पहली पङ्क्ति से आपश्री आपश्री का तात्पर्य यह है कि- इनमें सर्वत्र पूर्णभगवद्भाव का ज्ञान होता है अथवा तो भगवदावेश के कारण हुए निरोध से इन्हें सर्वत्र भगवान की स्फूर्ति होती है और इसी से ये अपने समस्त पुरुषार्थ पूर्ण हो गये मानते हैं, इन्हें अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं होता इसलिये पुरुषार्थों में निष्ठता होने के कारण ये मध्यम नहीं अपितु भगवत्स्वरूप में निष्ठ होने के कारण उत्तमकोटि के श्रोता होते हैं- यह अर्थ है।

नन्वेवं पुष्टिमार्गीयेभ्यो न भेद आयाति, तेषामप्येवंविधत्वादित्याशङ्क्याहुः कदाचिन्न तु सर्वदेति । एतेषां भावनावसरे गुणगणाकर्णनावसरे वा तात्कालिकनिरोधात् तथात्वम् । पुष्टिमार्गीयाणां तु सदैव तथात्वमित्यर्थः । अत एव शुकादीनां न सर्वदा लीलेतराननुसन्धानम् । अन्यथा 'मथुराया व्रजं गता' इति ताटस्थ्येनोक्तिर्नोपपद्येत । पुष्टिमार्गीयभक्तभावस्य तु सार्वदिकत्वं प्रभुरेवाह एकादशे 'ता नाविद'न्निति पद्ये नीरनिधिनीरप्रविष्टनदीदृष्टान्तेन । नहि महाजलधिजलप्रविष्टा नद्यः कदापि पूर्वभावं प्राप्नुवन्ति । स्वरूपेण स्थिता अपि न भेदेन व्यपदिश्यन्ते । अतः पुष्टिमार्गीयेषु भगवदितरस्फूर्तिरहितभाववद्भगवदीयत्वं भगवत्त्वं च, भगवता सहौतप्रोतन्यायेनैक्यात् मर्यादामार्गीयेषु श्रवणादिना भगवदीयत्वमेवेति महानेव भेद इत्यलमुक्त्या ।

किन्तु अब शंका ये होती है कि यदि इनमें पुरुषार्थों के प्रति निष्ठा नहीं है और भगवत्स्वरूप में ही निष्ठा है, तब तो इनमें और पुष्टिमार्गीयों में कोई भेद ही न रहा ? क्योंकि पुष्टिमार्गीय भी तो भगवत्स्वरूप में ही निष्ठा रखने वाले होते हैं ? फिर इन्हें मर्यादामार्गीयश्रोता क्यों मानना चाहिए, पुष्टिमार्गीय ही क्यों न मान लिया जाय !!! तो आपश्री इस शङ्का का निराकरण कदाचित् , न तु सर्वदा(कदाचित् ही , सर्वदा नहीं) इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

आपश्री आज्ञा करते हैं = इन मर्यादामार्गीय-उत्तमश्रोता और पुष्टिमार्गीय-उत्तमश्रोताओं में अंतर यह है कि, मर्यादामार्गीय-उत्तमश्रोता का भगवद्भावना करते समय ही, या भगवद्गुणगान सुनते समय ही तत्कालीन निरोध होता है और किसी एक समय के लिये पूर्णभाव

से पूर्ण हो जाते हैं। पुष्टिमार्गीय तो सदैव पूर्णभाव से पूर्ण रहते हैं। इसी कारण उत्तमपुष्टिमार्गीयों की श्रेणी में न आनेवाले शुकदेवजी जैसों को भी ऐसा नहीं था कि भगवल्लीला से इतर विषयों का सर्वदा विस्मरण रहता हो। यदि ये बात सच न होती तो शुकदेवजी श्रीभागवत में "हे परीक्षित् ! फिर नन्दबावा और उनके साथी गोप मथुरा से गोकुल पहुँचे(श्री०भा० १०-६-३१)" यों क्यों कहते ? शुकदेवजी के इस कथन से ही पता चलता है कि, इस वाक्य को कहते समय स्वयं शुकदेवजी व्रज में होने के अनुसन्धान में नहीं थे। यदि शुकदेवजी ऐसी भगवल्लीला को कहते समय देहानुसंधान भुला कर खुद को भी वहीं व्रजलीला का ही एक भाग समझते होते और उस लीला के अनुसंधान में अपने आप को पूर्णतया भुला बैठे होते, तो वे ऊपर कहे अनुसार यों न कहते कि "नन्दरायजी आदि सभी व्रज पहुँचे" अपितु यों कहते कि "नन्दरायजी आदि सभी व्रज में आये"। इससे सिद्ध होता है कि, शुकदेवजी को भी भगवल्लीला का अनुसन्धान सर्वदा नहीं रहता था। किन्तु पुष्टिमार्गीयभक्तों का भाव तो सदा-सर्वदा भगवल्लीला में ही डूबा रहता है, जिसके लिये स्वयं भगवान ने एकादशस्कंध में "जिस प्रकार गङ्गा आदि नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही गोपियाँ परमप्रेम के कारण मुझमें इतनी तन्मय हो गयीं थीं, कि उन्हें किसी की भी सुध-बुध न रही(श्री०भा० ११-१२-१२)" इस प्रकार नदी-समुद्र के दृष्टान्त द्वारा कहा है। एक बार समुद्र में मिल जाने पर नदी कभी भी अपने पूर्वभाव को प्राप्त नहीं करती। यद्यपि नदी का जल समुद्र में ही स्थित है, तथापि उसे समुद्र से अलग नहीं बताया जा सकता। अतः पुष्टिमार्गीयों में भगवान से इतर विषयों की अस्फूर्ति का भाव होने के कारण भगवदीयता भी है और भगवान के सङ्ग ओतप्रोत हो जाने के कारण भगवत्ता भी है। किन्तु मर्यादामार्गीयों में तो भगवद्गुणगान का श्रवण करने के कारण केवल भगवदीयता ही होती है- यह दोनों में महान भेद है।

एवं बहिःसंवेदनाभावदशायां मर्यादामार्गीयोत्तमान्निरूप्य बहिःसंवेदनदशापन्नांस्तान्निरूपयितुं बहिःसंवेदनप्रसङ्गेन मध्येऽधमान्निरूपयन्ति अन्यासक्ता इति । ये केचित् ब्राह्मणत्वशूद्रत्वादिभिरुत्कर्षापकर्षयुक्ता अप्यन्यद्गृहादिकं तत्रासक्त्या वृत्त्यादिसम्पादकत्वेन लोकानामग्रे कथनार्थं भगवद्गुणश्रोतारः 'क्षेत्रप्रविष्टा' इत्यादिनोक्तगुणगायकभावग्राहका अधमाः परिकीर्तिता इत्यर्थः । तुशब्देन भगवदर्थकगृहासक्ता व्यावर्तिताः । तस्यास्तु पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वेन उत्तमत्वसम्पादकत्वात् ॥४॥

इस प्रकार, भगवल्लीला में मग्न होकर बहिसंवेदना न रहे- इस अर्थ में उत्तममर्यादामार्गीय श्रोताओं का निरूपण करके अब आपश्री उन मर्यादामार्गीय श्रोताओं के विषय में कह रहे हैं, जिन्हें भगवद्गुणानुवाद सुनते समय बहिसंवेदना रहती है। इस बहिसंवेदना बताने के प्रसङ्ग में ही आपश्री बीच में मर्यादामार्गीय-अधमश्रोताओं का भी निरूपण **अन्यासक्ताः** इत्यादि शब्दों से करे दे रहे हैं।

अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४ ॥

आपश्री आज्ञा करते हैं- कुछ श्रोता अन्यासक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि, भगवद्गुणानुवाद का श्रवण करने वाले कुछ श्रोता ऐसे होते हैं, जिनका ब्राह्मण-शूद्र इत्यादि जाति के कारण उत्कर्ष या अपकर्ष होता है, वह तो ठीक है, परन्तु उनकी घर-परिवार में भी आसक्ति रही होती है। और उस आसक्ति के कारण भगवद्गुणानुवाद को अपनी आजीविका का साधन बना कर दूसरों के सामने भगवद्गुणानुवाद मात्र कहने के लिये भगवद्गुणों का श्रवण करते हैं। तात्पर्य यह कि ऐसे अधमश्रोता जलभेद में "क्षेत्रप्रविष्टा(खेत में जाने वाला नहर का जल)" के नाम से कहे गये वक्ता के भावों को सुनने वाले होते हैं। तु शब्द से पता चलता है कि, ये वो नहीं हैं जो भगवत्सेवा निभाने के लिये घर-परिवार में आसक्ति रखने वाले होते हैं। क्योंकि भगवत्सेवा के ही लिये घर-परिवार में रखी गयी आसक्ति तो पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपा होती है, और यदि इनमें ऐसी आसक्ति होने की बात कह देंगे तो इनमें उत्तमता माननी पड़ेगी॥ ४॥

एवं मध्येऽधमान्निरूप्य पुनर्बहिःसंवेदनदशापन्नानुत्तमान्निरूपयन्ति ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥५॥

बहिःसंवेदनदशायामपि न विद्यते अन्यः भगवदतिरिक्तो यत्र एतादृशं मनो येषामित्यर्थः । ननु को विशेषस्तदान्तःसंवेदन इत्याशङ्क्यानन्यचेतस्त्वे प्रकारभेदमाहुः देशकालेत्यादि । अन्तःसंवेदने हि देशादयो भगवत्त्वेनैव स्फुरन्ति, न देशत्वादिभिः । केवलभगवदाकारान्तःकरणे सर्वत्रावरणनाशात्, बहिःसंवेदने त्वन्तःकरणस्य प्रपञ्चप्रवेशेन तदाकारत्वे देशत्वादिप्रकारेण तत्स्फूर्तौ तत्र भावनामात्रेण भगवद्बुद्धिरिति विशेष इत्यर्थः ।

इस प्रकार से बीच में अधमश्रोताओं का निरूपण करके अब आचार्यचरण पुनः भगवल्लीला का श्रवण करते समय बहिसंवेदन रखते हुए भी उत्तमश्रोता की कोटि में आनेवाले मर्यादामार्गीय-उत्तमश्रोताओं का निरूपण कर रहे हैं।

तात्पर्य यह है कि, बहिसंवेदन रहते हुए भी(भगवच्चिंतन करते समय भी देह एवं बाहरी पदार्थों का अनुसन्धान रहता हो, तब भी) जिनका मन भगवान के अतिरिक्त अन्य कहीं भी न लगता हो, ऐसे श्रोता उत्तमकोटि में आते हैं। तो फिर शंका यह होती है कि, जब बहिसंवेदन रहने पर भी और अन्तःसंवेदन रहने पर भी, दोनों ही परिस्थितियों में भगवान के अतिरिक्त मन कहीं और न जाता हो, तो फिर दोनों में अंतर ही क्या हुआ ? तो आपश्री **अनन्यचित्तवृत्ति**(भगवान के अतिरिक्त चित्त अन्य कहीं न लगना) का प्रकारभेद देशकाल इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। दोनों परिस्थितियों में अंतर यह है कि, अन्तःसंवेदन(बाहरी देहानुसन्धान न रहना) होने पर देश-काल-द्रव्य इत्यादि सभी कुछ भगवद्रूप ही स्फुरित होते हैं, खुद प्रयत्न करके देश-काल में भगवद्बुद्धि रखने के द्वारा भगवान की स्फूर्ति नहीं होती। क्योंकि अन्तःकरण में केवल भगवान बसे हों तो फिर सभी आवरणों का नाश हो जाता है और सर्वत्र अनायास ही भगवान स्फुरित होने लगते हैं। और जब बहिसंवेदन(देह का अनुसन्धान रहता हो) रहता हो, तब तो अन्तःकरण प्रपञ्च में प्रविष्ट हुआ होता है इसलिये उसे सभी कुछ प्रपञ्चाकार दिखाई देता होने के कारण देश-काल आदि के द्वारा भगवान की स्फूर्ति होती है अर्थात् प्रापञ्चिक वस्तुओं में भगवद्बुद्धि रखने की भावना करने के द्वारा भगवान की स्फूर्ति होती है- यह विशेष है। दोनों दशाओं में अंतर यह है कि, बहिसंवेदन की दशा में समस्त देश-काल इत्यादि समूचे प्रपञ्च में भगवद्बुद्धि रखते हुए भी सर्वत्र भगवान और प्रपञ्च दोनों की स्फुरणा रहती है, जबकि अन्तःसंवेदन की दशा में देश-काल इत्यादि प्रापञ्चिक पदार्थ प्रपञ्च न दिखाई देकर केवल और केवल भगवद्रूप ही दिखाई देते हैं।

ननु तदानीं कथं भगवत्त्वेन सर्वस्फूर्तिः, नेदानीम्, अन्तःकरणस्य तस्यैव स्वरूपतः सत्त्वादित्याशङ्क्याहुः मर्त्या इति । अन्तःसंवेदने हि ते भगवद्रूपा एव भावनया तदात्मकत्वात्, अतो न तेषामन्यस्फूर्तिस्तदा, बहिःसंवेदने तु मर्त्यत्वादितरस्फूर्तिरिति तत्र देशादिषु शास्त्रेणाहार्या भगवद्बुद्धिरित्यर्थः । एतादृशा मर्यादामार्गे श्रवणादिषु, आदिपदेन कीर्तनप्रभृतिषु चोत्तमा इत्यर्थः ॥५॥

किन्तु यहाँ एक शंका यह होती है कि, अन्तःसंवेदनदशा में ही (देहानुसन्धान एवं बाहरी पदार्थों का अनुसन्धान न रहने की दशा में) क्यों सर्वत्र भगवद्बुद्धि होती है और जब बहिःसंवेदन(देह का अनुसन्धान रहना)रहता है, तब सर्वत्र भगवद्बुद्धि क्यों नहीं रहती ? क्योंकि अन्तःकरण तो स्वरूपतः वो का वो ही है !!! जो अन्तःकरण अन्तःसंवेदन का अनुभव कर रहा है वही अन्तःकरण बहिसंवेदन का भी अनुभव कर रहा है, फिर एक समय भगवद्बुद्धि रहती है और एक समय नहीं रहती, ऐसा क्यों ?? तो इसका समाधान आपश्री मर्त्याः इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, मर्त्य यानि जीव होने के कारण ऐसा होता है। तात्पर्य यह कि, अन्तःसंवेदन(देहानुसन्धान एवं बाहरी पदार्थों का अनुसन्धान न रहने की अवस्था में)की अवस्था में तो जीव भगवद्रूप ही हो जाते हैं, भगवद्भावना के कारण वे तदात्मक-भगवदात्मक हो जाते हैं अतः तब उन्हें अन्य किसी की स्फूर्ति नहीं रहती। और, बहिःसंवेदन में (देह का अनुसन्धान रहने की अवस्था में) तो कारण कि मर्त्य/जीव हैं, उनमें शरीरधर्म की भी स्फूर्ति अभी शेष है, दूर नहीं हुई, इसलिये अन्य प्रपञ्च की स्फूर्ति बनी रहती है अतः बहिःसंवेदन की अवस्था में जो उसकी देश-काल इत्यादि में भगवद्बुद्धि रखने की बात है, वो शास्त्रों में कहा गया होने के कारण वे सर्वत्र सभी में भगवद्बुद्धि रखते हैं, स्वयं उन्हें अपने आप सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखने का भाव सहजरूप से नहीं जागता। आपश्री आज्ञा करते हैं कि, मर्यादामार्ग में श्रवण-कीर्तन करने में ऐसों को ही उत्तम माना गया है॥ ५॥

भाववतस्तद्भावान् निरूप्य पूर्वं ततो भक्ताः ।
मार्गद्वयेन चोक्ताः श्रोतारः श्रीमदाचार्यैः ॥१॥
आचार्या निजकरुणामात्राः कुर्वन्तु सन्तुष्टाः ।
नाम्ना मां हरिदासं रूपेणापि स्वतः प्रभवः ॥२॥
इति श्रीहरिदासीयं श्रोतृचातुर्विध्यकथने निजाचार्यश्लोकपञ्चकविवरणं संपूर्णम् ॥

पहले भावना करने वालों के भावों को निरूपित करके पश्चात्
श्रीमदाचार्यों ने पुष्टि-मर्यादा यों दो मार्गों के द्वारा श्रोताभक्त कहे॥ १॥
निजजनों पर करुणा करने वाले, स्वतः सामर्थ्यवान आचार्यचरण मेरी विवृति से प्रसन्न होकर,
मुझ "हरिदास" नाम वाले को स्वरूपतः भी "हरिदास" बनायें॥ २॥

यह श्रीहरिदासकृत चतुर्विधश्रोता को बताने वाला निजाचार्यचरणों द्वारा रचित पञ्चश्लोकी का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः

पञ्चपद्यानि ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसमेतानि ।

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः भक्तिवर्धिन्यां बीजभावदाढ्योत्तरं भक्तिवृद्ध्यर्थं श्रवणकीर्तने साधनत्वेनोक्तवन्तः, बीजदाढ्यर्थं च पूजां श्रवणादीनि च नवापि साधनत्वेनोक्तवन्तः । तत्र, श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धारः । कीर्तनं च तन्निर्धारपूर्वकं मुखादुच्चारणम् । एवं तयोः स्वरूपस्य साधारणत्वे त्यागानन्तरं क्रियमाणयोः कुतो भक्तिवृद्धिहेतुत्वम्, ततः पूर्वं क्रियमाणयोश्च कुतो बीजदाढ्यमात्र एवोपकारकत्वमित्याकांक्षायां निरोधलक्षणे 'महतां कृपया यावत्', 'महतां कृपया यद्व'दिति श्लोकाभ्यां यथा कीर्तने विशेष उक्तः, महत्कृपाभिव्यक्तभगवत्कीर्तनस्यानन्दसन्दोहजनकत्वमिति प्रथमाधिकारे महतां कृपया यथा भगवदीयकृतं कीर्तनं सुखदं, तथा लौकिकसम्बन्धिकीर्तनं न सुखदं, किन्त्वरुचिविषय इति, तत उत्कृष्टाधिकारे विशेषः कीर्तनस्याधिकार्यनुभवभेदविचारणोक्तः । तथा श्रवणस्य कुत्रापि नोक्त इति तदर्थं पञ्चश्लोकान् श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिकान् हरेर्भक्ता इति निगमनान्तान्वदन्ति ।

श्रीमदाचार्यचरणों ने भक्तिवर्धिनी में बीजभाव की दृढ़ता हो जाने के पश्चात् भक्तिवृद्धि के लिये साधन के रूप में श्रवण और कीर्तन करना बताया था। और बीजभाव की दृढ़ता के लिये पूजा और श्रवण-कीर्तन आदि नवलक्षणाभक्ति भी साधन के रूप में बतायी थी। श्रवण का अर्थ होता है- भगवद्वाचक पद एवं वाक्यों की शक्ति और उनके तात्पर्य का निर्धारण कर लेना। कीर्तन का अर्थ है- निर्धारण कर लेने के पश्चात् मुख से उनका उच्चारण करना या कहना। परन्तु प्रश्न यह है कि, श्रवण और कीर्तन करने का ये रूप तो बड़ा ही साधारण सा है, अतः भक्तिवर्धिनी में कहे त्याग करने के पश्चात् ये दोनों किस प्रकार से भक्ति को बढ़ाने के हेतु बनेंगे ? और इससे पहले ये क्यों केवल बीजभाव की दृढ़ता ही कर सकने में सहायक बने थे और अब कैसे भक्ति का भी वर्धन कर देंगे ? यह आकांक्षा होती है। तो समझें कि निरोधलक्षणग्रन्थ में कीर्तन करने की बात क्रमशः "महापुरुषों की कृपा से भगवान जब दया करेंगे, तब तक विरहावस्था में आनन्दसन्दोह भगवान का गुणगान सुखरूप सिद्ध होगा(नि०ल०-४)" , "महापुरुषों (व्रजभक्तों)की कृपा से प्राप्त हुआ कीर्तन जैसा सुखदायी लगता है, वैसा लौकिक पुरुषों द्वारा गाया कीर्तन सुखदायी नहीं लगता(नि०ल०-५)" इन दो श्लोकों द्वारा कही गयी है और पहले श्लोक की तुलना में दूसरे श्लोक में कीर्तन की विशेषता बढ़ाकर कही गयी है। तो जैसे वहाँ पहले की अपेक्षा दूसरे श्लोक में कीर्तन में विशेषता दिखलायी गयी थी, वैसे ही भक्तिवर्धिनी में बीजभाव दृढ़ होने के पहले और बीजभाव दृढ़ हो जाने के पश्चात् की दोनों परिस्थितियों में बताये गये कीर्तन में भी विशेषता समझनी चाहिए। तात्पर्य यह कि वहाँ महापुरुषों की कृपा द्वारा द्वारा प्राप्त होने वाले वाला कीर्तन आनन्दसन्दोह उत्पन्न करने वाला बताया गया था जो कि प्रथमाधिकार में प्राप्त होने वाली बात थी ; और बाद में जब उत्कृष्ट अधिकार प्राप्त हो जाए तब दूसरे श्लोक में उसी कीर्तन के लिये यह बताया गया था कि महापुरुषों की कृपा होने पर भगवदीयों द्वारा किया गया कीर्तन करना जैसा सुखदायी लगता है, वैसा उसे लौकिकसम्बन्धी कीर्तन सुखदायी नहीं लगता किन्तु अरुचिकर ही लगता है- यों पहले कीर्तन की अपेक्षा दूसरे वाले कीर्तन की विशेषता दिखलायी गयी थी, वही प्रकार उपरोक्त भक्तिवर्धिनीग्रन्थ में भी समझना चाहिए। क्योंकि जब अधिकार उत्कृष्ट हो जाता है तब कीर्तन में भी विशेषता आ जाती है क्योंकि सामान्य या विशेष अधिकारी के अनुसार कीर्तन भी सामान्य या विशेष फल देने वाला बन जाता है। किन्तु वहाँ निरोधलक्षणग्रन्थ में श्रवण की बात कहीं पर भी नहीं कही गयी थी अतः श्रवण की भी उपरोक्त ढंग से श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर कोटियाँ अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अवस्था वाले श्रोताओं के विषय में आपश्री इस ग्रन्थ में श्रीकृष्णरसविक्षिप्त इत्यादि पाँच श्लोकों द्वारा कह रहे हैं।

प्रथममुत्कृष्टं भक्तिवृद्धिजनकं त्यागिनां भावमाहुः श्रीकृष्णेत्यादि । किञ्च, ननु यथा स्वस्मिन्भगवद्भावसम्भवरूप श्रवणफलसिद्ध्यर्थं श्रवणस्योत्कर्षार्थं च वक्तृभावान् परीक्ष्य तत्सङ्गः श्रवणार्थं विधेय इति जलभेदे प्रतिपादितम्, तथा वक्त्रापि भगवद्भावसम्भवरूपकीर्तनफलसिद्ध्यर्थं श्रोतृभावः परीक्षणीयः, तृतीयस्कन्धे विदुरमैत्रेयसंवादे विदुरे मैत्रेयज्ञानसंक्रमस्य मैत्रेये

विदुरभक्तिसंक्रमस्य च परस्परसंवादेन प्रतिपादितत्वात् । अतः कीर्तनसिद्ध्यर्थं श्रोतॄन् विचारयन्ति श्रीकृष्णेत्यादि ।
सर्वप्रथम भक्तिवृद्धि करनेवाला त्यागियों का उत्कृष्ट भाव आचार्यचरण श्रीकृष्ण इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। और यह भी समझें कि, जैसे श्रोता को अपने आप में श्रवण से प्राप्त होने वाला फल अर्थात् भगवद्भाव उत्पन्न होने रूपी फल सिद्ध करने के लिये एवं उत्कृष्ट रीति का श्रवण प्राप्त करने के लिये वक्ता के भाव की परीक्षा करके ही उसका सङ्ग करना चाहिए, वैसे ही वक्ता को भी भगवद्भाव उत्पन्न करने के लिये, कीर्तन के फल की सिद्धि के लिये श्रोता के भाव की परीक्षा कर लेनी चाहिए। क्योंकि तृतीयस्कंध में विदुर-मैत्रेय संवाद में यह बात बतायी गयी है कि, जब इन दोनों की आपस में चर्चा हुई तब विदुरजी में मैत्रेयजी का ज्ञान प्रविष्ट हुआ और मैत्रेयजी में विदुरजी की भक्ति प्रविष्ट हुई। अतः वक्ता और श्रोता का भी भाव एक दूसरे में जाता ही है, इसलिये सावधानी रखनी चाहिए कि सत्सङ्ग करते समय किस प्रकार का भाव हममें आ रहा है अथवा जा रहा है। इसलिये कीर्तन की सिद्धि के लिये किस प्रकार का श्रोता होना चाहिए, इसका विचार आचार्यचरण श्रीकृष्ण इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा रतिवर्जिताः ।
अनिर्वृता लोकवेदे ते मुख्याः श्रवणोत्सुकाः ॥१॥

अत्र अनिर्वृता लोकवेद इति विशेषणं त्यागवत्त्वबोधकम् । तादृशामेव हि लोके वेदे चानिर्वृतेः । रतिवर्जिता इति विशेषणं तु रतीरमणं बहिर्भगवत्प्राकट्येन भगवता सह संलापादिकं, तद्रहिता इत्यर्थकम् । एतेन निरोधलक्षणे 'क्लिश्यमानान् जनान् दृष्ट्वे'ति श्लोकद्वयेन यादृशोधिकार उक्तस्तद्राहित्यं सूचितम् । तेन ततः पूर्वं यो गुणगानाधिकारः, यश्चोत्कृष्टः कीर्तनाधिकारस्तदुभयं क्रोडीकृतम् । तदत्र आहुः श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः श्रवणोत्सुका इति पदद्वयेन ।
इस श्लोक में "अनिर्वृता लोकवेदे (ऐसे श्रोता को लोकवेद में आनन्द नहीं आता)" यह विशेषण बताता है कि, यहाँ उन श्रोताओं की बात हो रही है, जो त्यागी हैं। क्योंकि त्याग कर देने वालों को ही लोकवेद में आनन्द आना छूट जाता है। रतिवर्जिता इस विशेषण का अर्थ है- वे श्रोता जो भगवान के बाहर प्रकट होकर रति/रमण करने की लीला यानि भगवान के संग बात करनी, उनका प्रत्यक्ष दर्शन करना इत्यादि से अभी वंचित हैं। इससे पता चलता है कि, निरोधलक्षणग्रन्थ में "भगवत्प्राप्ति के लिये आकुल-व्याकुल होते अपने निजजनों को देखकर हृदय में विराजे भगवान जब उन पर कृपा करके हैं, तब बाहर प्रकट होते हैं(नि०ल०- ७)" , "सर्वानन्द प्रभु का भी कृपानन्द प्राप्त करना तो बड़ा ही दुर्लभ है। हृदय में बिराजे हुए भगवान अपना गुणगान सुनकर कृपा करके निजजनों को रस से ओतप्रोत कर देते हैं(८)" इन दो श्लोकों में जिस प्रकार के अधिकार की बात कही गयी थी, ये अभी उससे वंचित हैं। इसलिये आपश्री ने इन्हें रतिवर्जिताः कहा है। इससे यह समझना चाहिए कि इससे पूर्व निरोधलक्षणग्रन्थ के जिन दो श्लोकों(अर्थात् ४थे और ५वें) का उदाहरण देकर हमने जिस प्रकार के गुणगान के अधिकार एवं जिस उत्कृष्ट कीर्तन के अधिकार की बात कही थी, उन दोनों प्रकार के अधिकारी वक्ताओं के समकक्ष कोटि में आने वाले श्रोता के विषय में इस श्लोक में कहा जा रहा है। इस बात को आपश्री "श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसाः" और "श्रवणोत्सुकाः" इन दो पदों से कह रहे हैं।

तथाच श्रीकृष्णस्य भगवतो यो रसो लीलासम्बन्धिभजनानन्दात्मकः, तेन विक्षिप्तं मानसं येषां ते तथा, एतेन तेषां स्वार्थाननुसन्धानं सूचितम् । एते पुष्टिमार्गीया उक्तधर्मेणावगन्तव्याः । किञ्च, श्रवणे उत्सुका उत्कण्ठायुक्तास्ते भक्ता मुख्याः श्रवणाधिकारिणः । तत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद्य इत्यध्याहारः । एतेन ये कीर्तने द्वितीयाधिकारिणो ये च गुणगाने प्रथमाधिकारिणस्ते तुल्या इत्युक्तम् । कीर्तनगानयोर्ज्ञानपूर्वकत्वात्तस्य च श्रवणपूर्वकत्वादीदृशे, श्रवणे तादृशत्वस्यैव सिद्धेरिति ।
अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण के लीलासम्बन्धी भजनात्मक रस से जिनका चित्त विक्षिप्त हो गया है, वे। इससे ये ज्ञात होता है कि, ऐसे श्रोता को किसी भी स्वार्थ का अनुसन्धान नहीं होता। और इन्हीं धर्मों से इन्हें पुष्टिमार्गीय समझ लेने चाहिए। और, जो श्रवण में उत्सुक हैं या जिनकी उत्कण्ठा है, वे भक्त मुख्यरूप से श्रवण के अधिकारी होते हैं। इससे यह समझना चहिए कि हमने अपनी निरोधलक्षणग्रन्थ की टीका के अन्तर्गत गुणगान करने में प्रथम अधिकारी एवं कीर्तन करने में द्वितीय अधिकारी के लक्षण बताये थे, वे दोनों प्रकार के अधिकारी के समकक्ष कोटि में आने वाले श्रोता के विषय में इस श्लोक में कहा गया है, अर्थात् इस श्लोक में कहे गये श्रोता उन दोनों प्रकार के अधिकारियों के तुल्य कोटि में आते हैं। चूँकि "यत्(जो)" और "तत्(वो)" का आपस में नित्यसम्बन्ध होता है ; और श्लोक में "तत्" शब्द तो है परन्तु "यत्" शब्द नहीं है, इसलिये श्लोक का अर्थ करते समय "यत्" शब्द को भी जोड़कर अर्थ करना चाहिए। अर्थात् श्लोक का अर्थ ऐसे करें- "जो श्रीकृष्णरसविक्षिप्त मन वाले हैं, जो रतिवर्जित हैं, जिनको लोकवेद में आनन्द नहीं

आता, वे श्रवणोत्सुक मुख्य भक्त होते हैं। यानि टीकाकार के कहने का अभिप्राय यह है कि, श्लोक में "जो" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है अतः अपनी ओर से इस प्रकार जोड़ देंगे तो श्लोक का अर्थ ठीक ढंग से स्पष्ट हो जायेगा।

नन्वेकादशस्कन्धे 'अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्' यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय' इति जनकप्रश्ने हरिणा योगीश्वरेण 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मन' इत्यादिभिरेकादशभिः श्लोकैः कर्मज्ञानभक्तिमिश्रा भागवता उक्ताः, सुबोधिन्यां व्याख्याताश्चेति त एवात्र कुतो नोक्ता इति चेत् ? उच्यते । तत्र हि, प्रश्ने नृणामिति पदात्साधारणा एव भागवताः पृष्टाः, नत्वात्यन्तिका इत्यतस्तदनुक्तिः ।

किन्तु यहाँ एक शङ्का यह होती है कि, एकादशस्कंध में "योगीश्वर ! कृपा करके भगवद्भक्त का लक्षण वर्णन कीजिए। उसके क्या धर्म हैं ? वह मनुष्यों के साथ कैसा आचरण करता है ? वह कैसे बोलता है ? और भगवान का प्यारा कैसे बनता है ?(श्री०भा० ११-२-४४)" इस प्रकार से जनक द्वारा प्रश्न करने पर हरि-योगेश्वर ने "जो सभी में भगवान को ही देखता है, उसे उत्तम भगवद्भक्त समझना चाहिए(श्री०भा० ११-२-४५)" इत्यादि ग्यारह श्लोकों के द्वारा कर्म-ज्ञान-भक्ति मिश्रित भगवद्भक्तों का वर्णन किया और उन्हीं का फिर आचार्यचरणों ने सुबोधिनी में भी व्याख्यान किया है ; इनमें भी उत्तमश्रोता या भगवद्भक्त के लक्षण बताये ही हैं, तो प्रश्न ये उठता है कि आपश्री ने उन्हीं लक्षणों को यहाँ भी क्यों नहीं कह दिया ? अलग से दूसरे लक्षण बताने की क्या आवश्यकता पड़ी ? यदि ऐसी शङ्का होती हो तो अब हम इसका समाधान कह रहे हैं। समझना चाहिए कि राजा जनक ने अपने प्रश्न में यह पूछा था कि, एक भगवद्भक्त मनुष्यों के संग कैसा आचरण करता है ? इसी से पता चल जाता है कि, राजा जनक ने साधारण भगवद्भक्तों के विषय में प्रश्न किया था था, आत्यन्तिक भक्तों के विषय में नहीं ; इसी कारण आपश्री ने उन साधारण भगवद्भक्तों के लक्षण यहाँ नहीं कहे क्योंकि यहाँ तो आपश्री को आत्यन्तिक उत्तमपुष्टिमार्गीयों के विषय में बताना है।

किञ्च, तत्र तेषां फललक्षणे 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोप्यघौघनाशः, प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्त' इत्यनेन भगवतः सर्वदा तद्धृदयस्थितिर्भागवतप्रधानलक्षणत्वेनोक्ता । सा च स्वमात्रगम्यत्वेन तत्र स्फुटति, नत्वन्यगम्यत्वेनेत्यन्यगम्यं लक्षणं तत्सङ्गार्थं वक्तव्यम्, तदत्रोच्यत एवेति पुष्टिमार्गे यादृशा विवक्षिताः तेत्र लक्ष्यन्त इति तदनुक्तिरिति जानीहि । तत्र प्रथमविशेषणद्वयेन यद्धर्मत्वं, तृतीयेन यादृशत्वं, तुरीयेण यथाचरतीत्यर्थोक्तं सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । 'तथा न कामकर्मबीजाना'मिति श्लोकोक्तलक्षणवत्त्वमपि सिध्यतीति च बोध्यम् ॥१॥

और यह भी है कि, इसी श्रंखला में आगे भगवद्भक्तों के फललक्षण को बताने में "भगवद्भक्तों ने प्रेम की डोर से भगवान को बाँध रखा होता है अतः भगवान उसके हृदय को क्षणभर के लिये भी छोड़ते नहीं है(श्री०भा० ११-२-५५)" इस वाक्य द्वारा उन साधारण भगवद्भक्तों का प्रधान लक्षण यह बताया गया है कि, भगवान सर्वदा उनके हृदय में विराजे रहते हैं, क्षणभर भी उनके हृदय को छोड़ते नहीं हैं। इसलिये भगवान की स्फूर्ति तो केवल उन्हें ही होती है, किसी अन्य को यह पता नहीं चल पाता कि उनके भीतर भगवान बिराजे हुए हैं और वे उत्तम भगवदीय हैं ! अतः कोई उनके सङ्ग सत्सङ्ग करने के लिये कैसे प्रवृत्त हो सकेगा !! इसलिये एकादशस्कंध में कहे भगवद्भक्त के लक्षण यहाँ उचित नहीं बैठेंगे। इसलिये उत्तमभगवदीयता का पता अन्यों को भी चल सके, ऐसा लक्षण कहना आवश्यक हो जाता है, अतः पुष्टिमार्ग में जिस प्रकार के भगवदीय के विषय में कहना आवश्यक है उसी के लक्षण इस ग्रन्थ में कहे जा रहे हैं। और इसी कारण आपश्री ने ऊपर कहे एकादशस्कंध वाले भगवदीयों के लक्षण यहाँ नहीं कहे- यह जान लीजिए।

फिर भी, यदि एकादशस्कंध में कहे भगवद्भक्तों के सङ्ग संगति मिलानी ही हो, तो फिर यों मिलाएँ कि, श्लोक में कहे "श्रीकृष्णरसविक्षिप्तमानसा" और "रतिवर्जिताः" उस प्रश्न का उत्तर है, जहाँ राजा जनक ने पूछा था कि भगवद्भक्तों के धर्म क्या होते हैं ? तीसरा विशेषण यानि "अनिर्वृता लोकवेदे" उस प्रश्न का उत्तर है, जहाँ ये पूछा गया था कि, भगवद्भक्त कैसे होते हैं ? और चौथा विशेषण यानि "श्रवणोत्सुकाः" उस प्रश्न का उत्तर है, जहाँ ये पूछा गया था कि, भगवद्भक्त आचरण कैसा करते हैं ? - यह समझ लीजिए। यहाँ ये भी समझ लीजिए कि, वहीं एकादशस्कंध में कहे "जिसके मन में विषय-भोगकी इच्छा, कर्म-प्रवृत्ति, और उसके बीज वासनाओं का उदय नहीं होता, और जो एकमात्र वासुदेव में ही निवास करता है, वह उत्तम भगवद्भक्त है(श्री०भा० ११-२-५०)" इस वाक्य में कहे लक्षण जिसमें हों, वैसा श्रोता भी यहाँ कह दिया गया है॥ १॥

एवं शुद्धपुष्टिमार्गीयान् मुख्यान् श्रवणाधिकारिणो निरूप्य पुष्टिमर्यादामार्गीयान् मध्यमानाहुः विक्लिन्नेत्यादि ।

विक्लिन्नमनसो ये तु भगवत्स्मृतिविह्वलाः ।
अर्थैकनिष्ठास्ते चापि मध्यमाः श्रवणोत्सुकाः ॥२॥

विशेषेण क्लिन्नं तदेकपरतया कोमलत्वाद्भगवद्रसेनार्द्रं मनो येषां ते तथा । तु पुनर्ये भगवतः स्मृत्या स्मरणेन विह्वला विवशतां

प्राप्ताः, च पुनर्ये श्रवणोत्सुकाः श्रवणोत्कण्ठायुक्तास्ते त्रिविधा अपि अर्थैकनिष्ठाः अर्थः प्रयोजनं स्वकृतार्थतारूपं भक्तिबीजदार्ढ्यरूपं वा, तत्र एका मुख्या निष्ठा नितरां स्थितिर्येषां तादृशाः सन्तः मध्यमा भक्ताः । एवं च ये गृहस्थाः आसक्तेर्व्यसनस्य वा साधनपरास्ते पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि साधनपरत्वात्तेषां भगवन्निष्ठायास्तादृशसाधन एवोपयोगात्पूर्वोक्तधर्मवत्त्वेपि मध्यमा एवेत्यर्थः । अत्रापि प्रथमविशेषणेन यद्धर्मत्वं द्वितीयेन च यादृशत्वं बोधितम् । तेनैवाचरणोक्ती अपि सूचितप्राये बोध्ये ॥२॥

इस प्रकार से शुद्धपुष्टिमार्गीय मुख्य श्रवणाधिकारियों का निरूपण करके आपश्री अग्रिमश्लोक में पुष्टिमर्यादामार्गीय मध्यमकोटि के श्रोता का निरूपण विक्लिन्न इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

श्लोक में आपश्री आज्ञा करते हैं- विशेषरूप से जिनका मन क्लिन्न हो गया है अर्थात् केवल भगवान में तत्पर रहने के कारण जिनका मन कोमल हो गया है, भगवद्रस से आर्द्र हो गया है ; और भगवान के स्मरण से जो विह्वल हो गये हैं, और जो भगवद्गुणगान का श्रवण करने के लिये उत्सुक रहते हैं ; यों तीन गुणों से युक्त होने पर भी जिनकी निष्ठा अपने आप को कृतार्थ करने में हो अथवा जिनकी निष्ठा अपने बीजभाव को दृढ़ करने में हो, ऐसे भक्त/श्रोता मध्यम कहे जाते हैं। इसी प्रकार जो गृहस्थ हैं और आसक्ति और व्यसनदशा सिद्ध करने के लिये साधन कर रहे हैं, उनमें भले ही ऊपर कहे तीन गुण हों तथापि वे साधन कर रहे हैं अतः उनकी भगवन्निष्ठा का उपयोग साधन करने में ही हो रहा है इसलिये भले ही उनमें ऊपर कहे तीन गुण हैं, तथापि वे मध्यमकोटि में ही आते हैं- यह अर्थ है। इस श्लोक में भी ऊपर कहे एकादशस्कंध वाले चारों प्रश्नों के उत्तर समझ लेने चाहिए। अर्थात् "विक्लिन्नमनसः" से "भगवद्भक्त के धर्म क्या होते हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर समझ लेना चाहिए। "भगवत्स्मृतिविह्वलाः" से "भगवद्भक्त कैसे होते हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर समझ लेना चाहिए और इसी से "भगवद्भक्तों का आचरण कैसा होता है और वो कैसे बोलते हैं ?" इन प्रश्नों का भी उत्तर आ जाता है॥ २॥

एवं पुष्टिमर्यादामार्गीयान्मध्यमानुक्त्वा मर्यादापुष्टिमार्गीयान् जघन्यानाहुः निःसन्दिग्धमिति द्वाभ्याम् ।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्त्वं सर्वभावेन ये विदुः ।
ते त्वावेशात्तु विकला निरोधाद्वा न चान्यथा ॥३॥
पूर्णभावेन पूर्णार्थाः कदाचिन्न तु सर्वदा ।
अन्यासक्तास्तु ये केचिदधमाः परिकीर्तिताः ॥४॥

कृष्णतत्त्वं भगवतः सर्वकर्तृत्वं षड्गुणवत्त्वं परमकृपालुत्वं दीनबन्धुत्वं भक्तिज्ञानादिजनकत्वं पतितपावनादिकत्वमनारोपितं चानारोपितरूपं निःसन्दिग्धं यथा स्यात्तथा सर्वभावेन भगवतः सर्वत्वेन ये विदुः जानन्ति, तु पुनरावेशाद्भगवदावेशान्निरोधाद्वा ये विकलाः, च पुनरन्यथा न । किञ्च, पूर्णभावेनेति श्लोकोक्तकालपरिच्छिन्नधर्मवन्तस्ते ज्ञानप्रधानत्वादन्यावेशेन भक्त्युत्कर्षराहित्याच्च जघन्या इत्यर्थः । तेन तादृशां तादृशां सङ्गे वक्तुरपि तादृशतादृशभावस्य सिद्धिरिति यथासम्भवमुत्कृष्टसङ्ग एव प्रयतनीयमिति बोध्यम् ॥३॥४॥

इस प्रकार पुष्टिमर्यादामार्गीय-मध्यमकोटि के श्रोताओं का निरूपण करके आचार्यचरण अब मर्यादापुष्टिमार्गीय-जघन्यों को निःसन्दिग्धं इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कह रहे हैं।

निःसन्दिग्धं कृष्णतत्वं (जो कृष्णतत्व को निःसन्दिग्धरूप से जानता है)का अर्थ है- जो भगवान में सर्वकर्तृत्व, षड्गुणता, परमकृपालुता, दीनबन्धुता, भक्तिज्ञान आदि को उत्पन्न करने वाला, और जिनमें पतितपावन आदि धर्म सहजरूप से विद्यमान हैं- इत्यादि प्रकार से सन्देहरहित होकर जानता है ; और सर्वभाव से ये जानता है कि, भगवान सर्वरूप हैं साथ ही साथ वे भगवन्निरोध के कारण अथवा तो भगवदावेश के कारण विकल होते हैं, अन्यथा नहीं ; और श्लोक में कहे अनुसार कुछ समय के लिये ही पूर्णभाव से पूरित होते हैं, एवं जिनमें ज्ञान की प्रधानता होने के कारण भगवान से इतर वस्तुओं का आवेश आ जाने से भक्ति के उत्कर्ष से रहित होते हैं, वे जघन्य होते हैं- यह अर्थ है। इसलिये ऐसे श्रोता का सङ्ग करने से वक्ता में भी उसके जैसे ही भाव आ जाते हैं अतः जहाँ तक बन सके वहाँ तक उत्कृष्ट श्रोता का ही सङ्ग प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए- यह बताया गया॥ ३॥ ४॥

ननु भवत्वेवं तथापीदानीं जघन्यानामपि दुर्मिलत्वात्कीर्तनमुच्छिन्नप्रायं भवेदिति तदभावार्थं सामान्यतः श्रवणादिभक्त्यधिकारिण आहुः अनन्यमनस इत्यादि ।

अनन्यमनसो मर्त्या उत्तमाः श्रवणादिषु ।
देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्मप्रकारतः ॥५॥

प्रकारत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च देशादीन् प्रकारान् प्राप्य ये भगवदेकमनसस्ते श्रवणादिषु भक्तिषु सङ्गार्थं मृग्याः, यदि

पूर्वोक्ता न मिलन्ति । मिलने तु नैतादृशेषु सञ्जनीयमिति न काचिदनुपपत्तिरित्यर्थः ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीपीताम्बरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविरचितं श्रीकृष्णरसविक्षिप्तेत्यादिश्लोकपञ्चकस्य विवरणं संपूर्णम् ॥

किन्तु किसी का कहना यह है कि, भले ही आप उत्कृष्ट श्रोता का सङ्ग करने की सीख दे रहे हैं परन्तु आज के समय में तो जघन्य श्रोता मिलने भी कठिन हैं फिर उत्कृष्ट श्रोताओं की बात तो दूर रही। अतः श्रोता ही न मिलें तो कीर्तन करना तो उच्छिन्नप्राय हो जायेगा !! तो ऐसी परिस्थिति न आये इसके लिये आपश्री सामान्य कोटि में आने वाले श्रवणादि भक्ति के अधिकारियों के विषय में अनन्यमनसः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

प्रकारतः शब्द में व्याकरणानुसार "ल्यब् लोपे पञ्चमीविभक्ति" हुई है। इससे आपश्री का तात्पर्य यह है कि, देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म इत्यादि साधनों को जो छोड़ चुके हैं या इन साधनों में जिनकी निष्ठा नहीं है परन्तु जो केवल भगवान में एकनिष्ठ हो गये हैं, श्रवण आदि और भक्ति करने के लिये ऐसे श्रोता ढूँढने चाहिए, यदि पूर्व में कहे उत्तमश्रोता न मिलते हों तो। यदि उत्तमश्रोता मिल जाएँ तो फिर इनका सङ्ग करने का यत्न नहीं करना चाहिए अतः मेरे कहे में कुछ भी अनुचित नहीं है।

यह श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणों में एकनिष्ठ श्रीपीताम्बरतनुज श्रीपुरुषोत्तमविरचित श्रीकृष्णरसविक्षिप्त इत्यादि पञ्चश्लोक का विवरण सम्पूर्ण हुआ।